

काव्य का स्वरूप

(काव्य के अन्तरंग आधारों एवं स्वरूपगत
लक्षणों का अभिनव विवेचन)



लेखक

डा० रामानन्द तिवारी "भारतीनन्दन"

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० फिन्०

महाराणी श्री जया कालिज, भरतपुर ।



प्रकाशक :

भारती मन्दिर, भरतपुर ।

✽ प्रकाशिका—

श्रीमती शकुन्तला रानी

एम० ए० पी-एच डी०

सचालिका 'भारती मंदिर'

गोविंद भवन, चौबुर्जा

भरतपुर (राजस्थान)

✽ सर्वाधिकार लेखक के आधीन है ।

✽ पहला संस्करण जून १९६८ ।

✽ मूल्य १२ रुपये ।

✽ श्री नेमीचंद जैन द्वारा

मथुरा प्रिंटिंग प्रेस,

मथुरा में मुद्रित ।



प्रयाग के छात्र-जीवन के

अविस्मरणीय साथी

प्रकाशचन्द्र चतुर्वेदी

को स्नेह पूर्वक समर्पित



निवेदन

काव्य का स्वरूप नामक इस ग्रन्थ में काव्य के अन्तरंग माधुर्य एवं सशक्तता का विवेचन एक मौलिक एवं नवीन दृष्टिकोण से किया गया है। सामान्यतः कवि को काव्य का प्रतिगठक तथा काव्य को उसकी प्रतिगठक कृति माना जाता है। इस मायता से भिन्न समात्मभाव की भूमिका में काव्य की कृतिरूप की स्थापना इस ग्रन्थ में की गई है। कवि अपने व्यक्तित्व के एकात्मता में नहीं बरन् समात्मभाव की अद्वैत एवं साम्यपूर्ण स्थिति में काव्य की रचना करता है। इस मायता की प्रेरणा ग्रन्थ के आरम्भिक अध्यायों में की गई है। यही समात्मभाव सृष्टि एवं कला का भी आधार है। अतीत प्रेम में सृष्टि एवं कला के साथ काव्य के सम्बन्ध का विवेचन किया गया है तथा सृष्टि एवं कला के स्वरूप की भूमिका में काव्य के स्वरूप का स्पष्ट करने की चेष्टा इस ग्रन्थ में की गई है। साहित्य और काव्य के स्वरूप की मौलिक एकता का विवरण भी अन्त की ओर एक अध्याय में किया गया है। इस प्रेम में साहित्य में काव्य और अर्थ के अन्तर्गत भाव का प्रकाशन निवृत्ति और शक्ति की सम्पत्ति के अनुसार किया गया है। अन्तिम अध्याय में काव्य शास्त्र में वर्णित काव्य के अर्थ और उपकरणों के साथ काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध का निदान किया गया है।

काव्य के स्वरूप का यह विवेचन अधिकांश में मौलिक और नवीन है। इस ग्रन्थ में प्रकाशित दृष्टिकोण से काव्य के स्वरूप का विवेचन कदाचित् ही किसी अन्य लेखक के द्वारा किया गया है। इस ग्रन्थ के अन्त में एक अन्तिम अध्याय में काव्य के परम्परागत एवं प्रसिद्ध अर्थ और उपकरणों के साथ काव्य के स्वरूप की समीक्षा स्पष्ट की गई है जो लेखक के दृष्टिकोण को काव्यशास्त्र की परम्परा से समन्वित करती है।

—अनुक्रम—

अध्याय	पृष्ठ
१ कवि और प्रजापति	६—४५
२ कविता की भागीरथी	४६—८१
३ काव्य का स्वरूप	८२—१०६
४ सृष्टि, कला और काव्य	११०—१३०
५ कला और काव्य	१३३—१५३
६ साहित्य और काव्य	१५४—१७७
७ काव्य के अंग और उपकरण	१७२—२००



कवि और प्रजापति

काव्यशास्त्र की परम्परा में कवि को प्रजापति माना गया है जो अपनी स्वतंत्र इच्छा के द्वारा अपनी रूचि के अनुरूप काय की सृष्टि करता है।

अपारे कान्यससारे कविरेक प्रजापति ।

यथास्मै रोचते विश्व तथेद परिवर्तते ॥

—ध्वयालोक

काय एक सृष्टि है। कवि उसका स्रष्टा है। अतः उस प्रजापति कहना उचित ही है। उपनिषदों और पुराणों के अनुसार प्रजापति जगत के स्रष्टा हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में प्रजापति का उपाख्यान मिलता है। सृष्टि के आदि में प्रजापति अकेले थे। किन्तु इस अवलपन में उन्हें भान द नहीं आया। अतः उन्होंने इच्छा की कि मैं बहुरूप प्रजा की सृष्टि करूँ। विश्व की सृष्टि प्रजापति की इसी इच्छा का फल है। वेने में विश्व के स्रष्टा को कवि कहा गया है। सृष्टि उसका काय है। उपनिषदों में 'ब्रह्म' के लिये भी कवि का प्रयोग हुआ है। 'गङ्गाधाराय' ने कवि को क्रातन्ती और सबहुक बताया है। क्रात अतीत को कहते हैं। अतीत अनन्त है किन्तु अतीत ही सत्ता की सम्पूर्णता नहीं है। वर्तमान और भविष्य भी उसमें सम्मिलित हैं। वर्तमान का अनुभव तो सभी का होता है। किन्तु भविष्य की दृष्टि दुर्लभ है। भविष्य भी अनन्त है। ब्रह्म अनन्त और चि मय है। अतः वह त्रिकाल की समग्रता का साक्षात्कार करता है। वर्तमान सीमित है और उसका ज्ञान सुलभ है। अतः अतीत का ज्ञान और भविष्य की दृष्टि अशिव महत्वपूर्ण है। इनकी महिमा से युक्त त्रिकाल का द्रष्टा होने के कारण ब्रह्म सवर्ण है। किन्तु ब्रह्म द्रष्टा ही नहीं वह स्रष्टा भी है। उपनिषदों में ब्रह्म को विश्व का निमित्त और उपादान कारण माना है। सवर्ण के साथ साथ सृष्टि का स्रोत होने के कारण भी ब्रह्म का कवि नाम साधव है। कवि के समान ही वह अपना स्वतंत्र इच्छा से विश्व का सृजन करता है। प्रजापति वस्तुतः ब्रह्म का सृजनात्मक रूप है।

प्रजापति का यह उपाख्यान सत्य व मौनिक मम को प्रकाशित करता है। यद्यपि अभिजात दान एव उन्मीलित सत्ता व रूप में ही सत्य का मानत और गोजत है। किंतु एक उन्मीलित सत्ता सत्य का पूर्ण और वास्तविक रूप नहीं है। सभी दान विश्व के मौलिक आधार के रूप में सत्य को खोजत है। इस आधार में विश्व का उद्भव सत्य की सृजनात्मकता को प्रमाणित करता है। विश्व का रूप और उसका विकास सत्य की सृजनात्मकता का प्रसिद्ध प्रमाण है। मृज्ज इच्छा और चेष्टा से युक्त यापार है। इच्छा चेतना की सकल गति है। चेष्टा उस गति की प्रवृत्ति है। जब दान में गिव की सृजनात्मक गति को इच्छा शक्ति मानत हैं। वि व इस गति का विलाम है। इसे गिव का वा य भी कह सकते हैं। अध्यात्मवाद दान में सत्य को चिन्मय माना जाता है। जब दानों के गिव और चेष्टा का ब्रह्म दोनों ही चिन्मय सत्य हैं। अतः दोनों के सृजनात्मक रूप को इच्छा गति से अभित माना गया है। प्रजापति के उपाख्यान में तदक्षत दसी सिमृता का सबत करता है। जब दानों में भी इच्छा गति का स्पष्ट सकत है। सकल की गति से सत्य सृष्टि में साकार होता है। इच्छा ही गति का मूल है। सकल के रूप में चेतना की गति सजग होती है। सृष्टि का क्रम इसी इच्छा गति का सहज फल है। सृष्टि के क्रम में सकल की गति एक सचेष्ट यापार बन जाती है। यह यापार सृष्टि के क्रम की गति है। उपनिषदों के तदेजते में ब्रह्म के गतिगील रूप का सचेष्ट है। वेदों के श्रुत में भी सत्य की गतिगील रूपना का बीज है। शिव का नृत्य भी सत्य की गतिगील कल्पना का लय देता है। गिव की कथा में सत्य का सृजनात्मक स्वरूप मुग्राह्य और प्रेरणामय मानवीय रूप में व्यक्त हुआ है। प्रजापति का उपाख्यान सत्य के सृजनात्मक मम को एक सजीव और यापक रूप में व्यजना करता है।

सत्य के सृजनात्मक स्वरूप के साथ-साथ सत्य व एक और गभीर रहस्य की प्रजापति के उपाख्यान में अभिव्यक्ति मिली है। यह रहस्य व सृजनात्मक तत्व में ही समाहित है। सृष्टि के पूर्व अथवा सृष्टि के घाति में प्रजापति अवेले थे। वह एकाकीपन में उह आनंद न थाया। अतः उन्मीलित वरूप प्रजा के सृजन की इच्छा की। धारम्भ में इस इच्छा में प्रेरित उनका एकाकी भाव मिथुन रूपों में साकार हुआ। इन मिथुन रूपों में मृज्ज की अनन्त परम्परा का सूत्रपात हुआ। आगे कहा यह प्रकार है कि इन मिथुन रूपों में प्रजापति ने नर का रूप धारण कर रमाण किया। सत्य के सृजनात्मक रूप में मृज्ज की इच्छा और चेष्टा का स्पष्ट करन के लिए ही प्रजापति का

नर का रूप दिया गया है। मिथुन सृष्टि की परम्परा में सृजन का सत्य एक धन त परम्परा बन जाता है। यह सृष्टि का प्राकृतिक रूप है। मिथुन सृष्टि का रूप में ही सृजन का परम्परा लोक में विदित है। इसी लोक ग्राह्य रूप में प्रजापति ने उपाख्यान में सत्य के सृजनात्मक रूप का प्रतिपादन किया गया है। इस सृजन में प्रजापति ने बहुरूप प्रजा की सृष्टि की। इस सृजन की इच्छा उन्हें इसलिए हुई कि उन्हें अपने एकाकीपन में आनंद नहीं आया। यह भी लिखा है कि उन्हें अकेलेपन में भय लगा। इस भय के सम्बंध में एक सूक्ष्म तक किया गया है कि प्रजापति तो अकेले थे उस समय तक कोई दूसरा नहीं था फिर उन्हें किससे भय हुआ ? भय तो किसी दूसरे से ही होता है। जिससे हम अपाति अथवा आघात की आशंका होती है। यद्यपि प्रजापति अकेले ही थे फिर भी उन्हें भय हुआ। प्रजापति की सत्ता होने के कारण मनुष्य को भी अकेले में भय लगता है। यह अकेले में प्रजापति के भय के तथ्य का समर्थन करता है। सत्य यह है कि मनुष्य को दूसरे से सदा भय नहीं लगता। भय में दूसरे की उपस्थिति मात्र कारण नहीं है बरन् दूसरे के साथ हमारा सबंध और भाव कारण है। जो हमारे परिचित और आत्मीय होते हैं उनसे हमें भय नहीं लगता। परिचित और आत्मीय भाव न होने पर दूसरे से भय लगता है। अपना कोई आत्मीय निबन्ध न होने पर यह भय और भी प्रबल होता है। एकांत में कोई आत्मीय न होने पर अनिष्ट की काल्पनिक आशंका रहती है। इसीलिए अकेले में भय लगता है।

एकांत में भय की सम्भावना के कारण भी अकेलेपन में आनंद नहीं आता। भय आनंद का घातक है। इसके प्रतिरिक्त अकेलेपन में क्षुब्धता रहती है। इस क्षुब्धता के कारण भी अकेले में आनंद नहीं आता। इसीलिए प्रजापति को अकेले में आनंद नहीं आया। कोई भी अपने अनुभव से यह प्रमाणित कर सकता है कि अकेलेपन में आनंद संभव नहीं है। इसीलिए मनुष्य सदा मनुष्यों की संगति की आकांक्षा करता है। घर में अकेला होने पर वह छिड़की से राहगीरों को देखकर ही अपना मन बहलाता है। प्रत्यक्ष संगति न होने पर वह स्मरण और कल्पना के द्वारा मानसिक संगति स्थापित करता है। मधूत के यश की भांति वह अपनी दूरगत प्रिया का स्मरण करता है। अशोक वाटिका में बंदिनी सीता की भांति वह अपने प्रिय का ध्यान करता है और ग्रहणियाँ भी मित्रता के माग खोजता है। किसी कारण मनुष्यों के साथ आत्मीय भाव के दुर्लभ होने पर वह कामाक्षी की थूँड़ी की भांति पशुओं में ही बहु भाव स्थापित करता है। किसी जीव के सुलभ न

होने पर यह निर्वाहो से ही य पुभाव बनाता है। मधून क यश की भांति वह बादलों को बंधु बनाकर प्रेम के सादेन भेजता है। एकांत वासी यागी अथवा निर्वासित के लिए पवत नदी वृक्ष पाप्प पुष्प चन्मा तारे वादन आदि ही बंधु बन जाते हैं।

किसी भी रूप में अवेनापन मनुष्य को सह्य नहीं है। प्र यश म अकेला होत हुए भी वह मन से अकेला नहीं रहता है। प्रत्यक्ष सगति में भी मन के भाव से ही ब धुत्व और आत्मीयता की स्थापना होती है। केवल प्रत्यक्ष सगति इसका कारण नहीं है। इसीलिए तो अपरिचितता की प्रत्यक्ष सगति होने पर भी अभय और आनन्द मन की आत्मीयता पर ही निर्भर होत हैं। यह समात्मभाव समस्त जीवन म अनेक घरातलो पर व्याप्त है। गरीर प्रकृति क उपादाना से निर्मित एक क्वाई है। प्रकृति क अय रूपो की भांति वह क्वाई अपने मे सीमित और अपने स्वाध म से तुष्ट है। अपने निर्वाह क अतिरिक्त उसे और किसी प्रयोजन के लिए अय उपकरणो की प्रवेक्षा नहीं है। इन्द्रियो न अव्यय ऐसी सम्बदना है मन मानवीय सब धो म आत्मीयता का सूत्र है। मन के अचेतन और सचेतन दो घरातल होते हैं। सचेतन घरातल यक्त रहता है और अचेतन म यक्त की गहराइयो म जिपा रहता है। सचेतन न होने पर भी यह अधि सजग और सक्रिय होता है। चेतना के पवहार हमारा प्रभावित और संचालित हात है। यही मन का अधि बडा भाग है। यह जीवन की समुपरा का गभ है जिस जीवन और सस्कृति की अनेक विभूतियाँ पनकर विकसित होती हैं। हमारा जीवन अचेतन भावो के स्नेह से भरा हुआ दीपक है जिसक अचल म चेतना की गिखा जामरित रहती है। बालक के जीवन विकास म इस अचेतन की सम्पत्ति से ही विलक्ष से चेतना प्रस्फुटित होती है। वृक्ष के पुष्पा और फलो की भांति सचेतन मन अचेतन से अवग नहीं है। सचेतन की ज्योति अचेतन मन की ही उज्ज्वल गिखा है। एन्द्रिक सम्बन्धता की तीव्रता ही अचेतन के जीवन दीप म इस गिखा को जगानी है। अचेतन के निगूढ और चेतन के प्रकट मम से युक्त मन जीवन की एक समग्र विभूति है। मन की सचेतनता अहकार की इकाई म केन्ति हो जाती है। किन्तु यह इकाई ही मन और जीवन का सवस्थ नहीं है। केवल इस इकाई की स्थिति मे मन कितना दीन हाता है उसका अनुभव हमें अवेन पन म ही होता है। इस इकाई म सीमित होने पर अहकार नूय और दीन होता है। अपने को सम्पन्न और समृद्ध बनाने के लिए ही यह अहकार अपना विस्तार करता है। उस विस्तार का भाग आत्मीयता है। गरीर की सजीव

इकाई में भी इस विस्तार की प्रकृति दिखाई देती है। यह अचेतन और स्वायत्त मय है। शरीर बाहरी उपादानों को आत्मसात् करके अपना बना लेता है। किंतु इस आत्मीयता से शरीर की ही वृद्धि होती है। उपादानों का अस्तित्व शरीर की वृद्धिशील इकाई में विलीन हो जाता है। इन्द्रियों में ग्रहण की इकाई का विस्तार कम स्वायत्त रूप में होता है। स्पष्टता का जिस सबदना में जिस चेतना की गिरा की चिनगारी है उसका सबसे अधिक सुखमय रूप पारस्परिक है। शरीर और ज्ञान रूप और शब्द को इतना महत्व देते हैं कि उन्हें स्वयं आत्माय भाव में इनका आनंद है कि ग्रहण की इकाई इस आनंद के सागर में निमग्न हो जाना चाहती है। इसमें निमग्न होकर वह विलीन नहीं होती बल्कि सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के एक पवित्र और समृद्ध रूप में प्रकटित होती है। वस्तुतः इकाई के विलय का विचार और उसकी आत्मा भी इकाई के कठोर आग्रह पर ही अवलम्बित है। इस दृष्टिकोण में यह भूल है कि यह इकाई के प्राकृतिक दृष्टिकोण का उपयोग संस्कृति के प्राकृतिक क्षेत्र में करता है। ईश्वरवादी धर्मों में मनुष्य और ईश्वर दोनों के मध्य में अस्तित्व की इस इकाई का आग्रह है। अधिकांश पश्चिमी दार्शनिक इकाई के विलय में आनंदित हैं।

मानवीय जीवन और चेतना के घरातल पर यह इकाई गिराई जा जाता है और अस्तित्व के ग्रहण की इकाई मनुष्य जीवन में दूसरी इकाईयों के साथ आत्मीयता की आकांक्षा करती है। इस आत्मीयता में उस प्रपञ्च आनंद प्राप्त होता है। प्रेम और विश्वास के कारण यह आत्मीयता आनंद का स्रोत होने के साथ साथ समय का आधार भी है। इस आत्मीयता के अभाव में आनंद संभव नहीं है। यह आत्मीयता अनेक इकाईयों के आत्म भाव में ही सम्पन्न होती है। स्मिथियन उपनिषद् के प्रजापति का अर्थ में आनंद नहीं आया। इसका आशय यही है कि इकाई की अस्मिता आनंद की बाधा है। यद्यपि इकाईयों का विनय आनंद के लिए अपेक्षित नहीं है। प्राकृतिक इकाईयों के कठोर आग्रह से ऊपर उठती जीवन में सामाजिक और आत्मीयता का स्फोट होता है। यह आत्मीयता का भाव मानसिक और सांस्कृतिक घरातल पर उन्नि होता है। मन प्रकृति और गति की इकाई के दृष्टिकोण से इस नहीं समझा जा सकता। यह एक विश्व घरातल का भाव है जिस प्रकृति और गति के दृष्टिकोण में नहीं बल्कि अर्थ स्वयं के दृष्टिकोण में ही समझा जा सकता है।

प्रजापति का उपासना जीवन और स्मृति का इसी मर्म का मर्मज्ञ करता है। प्रजापति यकायक। इस यकायका में उस ज्ञान का प्राप्ति। यकायका में उस मर्म भी सत्ता। यकायका में उस उपासी। बहुधा प्रजा की गृष्टि की। यकायका प्रजा की यकायका में यकायका का भाव से यकायका और यकायका उपासी। यकायका में उस प्रजायक भी है कि बहुधा गृष्टि का प्रजापति न उपासी प्रजायक। यकायका न यकायका का भाव से यकायका है कि यह प्रजायक भौतिक पदार्थों की गति का मर्मज्ञ नया है। भौतिक पदार्थों की गति एक स्थूल गमन है। इस स्थूल गमन में एक वस्तु जहाँ होती है वहाँ से दूसरे स्थान की ओर गमन करती है। यकायका कि वह नया हाती। उस स्थान पर पहुँचने पर फिर यह यकायका वहन स्थान पर नहीं रहती। भौतिक और स्थूल पदार्थों का रूप उनका इकायक से सीमित होता है। यकायका व एक ही स्थान पर रह सकती हैं। एक स्थान की छोड़कर ही व दूसरे स्थान की ओर गमन करती हैं। यकायका भौतिक जगत में दिक् देग यकायका स्थान का नियम है। इसी प्रकार भौतिक जगत में काल का नियम भी है। एक वस्तु एक समय में एक ही स्थान पर रह सकती है। उसी समय में वह दूसरे स्थान पर नहीं हो सकती। यकायका और काल भौतिक जगत यकायका के कठोर नियम हैं। भौतिक पदार्थ इन नियमों का अतिक्रमण नहीं कर सकते। यह भी मूल्य यकायका के नियम का ही उपरूप है। भौतिक जगत की यकायका में वस्तु देग और काल तीनों की इकायका की सगति यकायका यह है। यकायका प्रवेग यकायका गमन का रूप से गतिशील पदार्थ का एक स्थान की छोड़कर ही दूसरे स्थान पर जाना सम्भव होता है। ऐसा ज्ञान पर भी पदार्थों की इकायका अनग-अलग रहती हैं। दा या अधिक यकायका यकायका रूप को छोड़कर जब एक तीसरी यकायका का निर्माण करती है तभी उनका विलय होता है। इस विलय में नवीन इकायका का परिमाण दोनों यकायका का परिमाण का योग के बराबर होता है। परिमाण का यकायका नियम गणित का कठोर सिद्धांत है। देग और काल के नियमों की भाँति यह भी भौतिक यकायका का आधार है।

किन्तु मन और आत्मा ऐसे भौतिक पदार्थ नहीं हैं। मन की दर्शनों में भौतिक माना गया है। आज मन में जो स्मृति और कल्पना की गति है वह देग काल इकायका परिमाण यकायका भौतिक नियमों से नासित नहीं होना। आत्मा का भाव चाहे वह चेतन हो यकायका अचेतन तथा वह स्मृति कल्पना यकायका किसी भी रूप में हो एक विस्तारशील भाव है। यह विस्तार गणित और गमन का अनुसार नहीं है। स्मृति और कल्पना काल के नियमों

का अतिक्रमण करती है। वस्तुमान में रहते हुए भी हम अतीत का स्मरण और भविष्य की कल्पना करते हैं। अध्यात्मवाद के तक क अनुसार दग काल इकाई आदि का विषय रूप में जान करने वाला चेतना इनसे अलग है। अतः इनके नियम उस पर लागू नहीं होते। इस तक के आधार पर अध्यात्मवाद आत्मा का अनन्त असीम अमृत और गान्धर्व मानता है। तर्क की दृष्टि में उनकी यह धारणा बहुत कुछ सगत है। समाधि अवस्था मान्य में आत्मा के रूप का साक्षात्कार भी होता है। साधारण जीवन के अनुभव में भी हम धारणा के रूप में अतीत का रूप का आभास होता है। स्मृति और कल्पना के रूप में चेतना ने काल दोनों का अतिक्रमण करती है। हम वस्तुमान में रहकर भी भूत और भविष्य का भावने करते हैं। एक स्थान पर रुक कर भी मनोरथ पर आकाश होकर अनन्त स्थानों का भ्रमण करते हैं। वस्तुमान के भाव में भी कल्पना के द्वारा चेतना का अथवा आत्मा का विस्तार सम्भव है। सम्भव ही नहीं यह विस्तार जीवन का सांस्कृतिक भाव है जो प्रकृति की भूमि पर विकसित होकर जीवन को सुन्दर और मंगलमय बनाता है। इस विस्तार में व्यक्तिगत का इकाया का एक ऐसा अद्भुत रूप में समागम होता है जिसमें न तो इन इकायों का विलय होता है और न वे किसी सीमरी इकाई का निर्माण करती हैं। वस्तुतः शरीर के भौतिक पिण्ड की छाड़कर जीवन के मानसिक और आत्मिक भाव की भौतिक जगत और गणित के इकाई के नियम से दबना उचित नहीं है। मन और आत्मा भौतिक नहीं हैं और न वे भौतिक नियमों से शासित होते हैं। इन्हीं की जिस सम्बद्धता में चेतना का रूप बालक के जीवन में अकुरित होता है उसमें भी विस्तार के इस रूप का आभास मिलता है। इकाई और गति के भौतिक नियमों से अलग जान के कारण भारतीय दर्शन ऐसा मानता है कि हमारी चेतना और अथवा की इन्द्रियाँ सब कुछ शरीर से निकल कर सूक्ष्म (किन्तु भौतिक) रूप में 'रूप तथा गान्धर्व' के पास जाती हैं। तभी वे इन गुणों का अन्त करती हैं। विज्ञान का मत हमसे विपरीत है। रूप और गान्धर्व प्रकाश तथा लहरियाँ के रूप में हमारे चेतना और अथवा में प्रवेश करते हैं। यह नैव्यन्ता का प्राकृतिक प्रविषा है। किन्तु सवन्ता के अनुभव में हमें एक अपूर्व विस्तार का ज्ञान होता है। ऐसा प्रतीत होता है माना हम अपने स्थान पर रहते हुए भी दूसरे पदार्थों का आसक्ति करते हैं मानो हमारी चेतना अपने विस्तार की परिधि में दूर-दूर के विषयों को समझना चाहती है। विस्तार के इस भाव के कारण भारतीय दर्शनों का इस सिद्धांत की प्रेरणा मिली कि मानों हमारी दृष्टियाँ दूर तक जाकर विषयों का अन्त है। यह विस्तार चेतना का स्वभाव और सम्भाव ही

है। भौतिक तरंगों में प्रकाश में यह सा एण मिलता है। अर्थात् एक स्थान पर रहता हुआ भी सूक्ष्म भाव में दूगरे स्थानों को भी प्रकाशित करता है। इमनिता सभी वस्तुओं की प्रकाश रहस्य माना है। प्रकाश का एक भाग्यरूप है। अर्थात् अतत्त्व की धारणा के तत्त्व रूप में यह प्रकाश होता है। यह धारणा के संपत्तन रूप के समान है। प्रकाश का समान्यरूप यह धारणा के विविध स्तरों पर दिग्यायी देता है। यह मा तथा धारणा के संपत्तन रूप के समान है। दोनों ही रूपों में प्रकाश का धारणा अथवा धारणा के समान विस्तार होता है। प्रकाश की उपाय एक और दृष्टि से भी उपयुक्त है। अथ भौतिक पदार्थों की भौतिक प्रकाश की स्थिर निश्चित और सीमित इकाई नहीं होती। अर्थात् कि धारणा की संपत्तन विस्तार साधना के प्रसंग में जन धारणा कहते हैं। एक ही दीपक का प्रकाश छाती और बड़ी कोठरियों में संप्रसारित और विस्तृत होता है। इसी प्रकार एक ही धारणा जन्म जन्मों में छोटी बड़ी देहों में समायोजित होती है। धारणा अथवा धारणा की देह की दृष्टि से दक्षता अनुचित है। सर्वोच्च के सम्बन्ध में भी जनमत समीचीन नहीं है। प्रकाश एक भौतिक पदार्थ है। अतः भौतिक पदार्थों की परिधि उसके विस्तार ही प्रकाश का भौतिक स्वरूप है। यह प्रकाश का भौतिक अर्थ भी है। प्रकाश के समान ही मनुष्य की धारणा और धारणा का स्वरूप ही विस्तार है। प्रकाश और धारणा दोनों दूसरे विषयों का उद्घाटन करते हैं। यह विषयों के सम्बन्ध में प्रकाश और धारणा का रूप है। किन्तु प्रकाश की कोई निश्चित और परिच्छिन्न इकाई नहीं है। अर्थात् कि भौतिक और स्थूल पदार्थों की हाती है। विस्तारमुक्त स्वभाव के कारण प्रकाश की इकाई की सीमाएँ निश्चित नहीं की जा सकती। इसी प्रकार मनुष्य के चित्तत्व अथवा धारणा की भी कोई निश्चित इकाई नहीं है। चित्तत्व और धारणा महा विकास की ओर अभिमुख रहते हैं। एक ही स्थान पर (देह में) दो अथवा अधिक प्रकाशों का समर्थ हो सकता है। इस सागम में ये प्रकाश अधिक उज्ज्वल और विस्तृत होते हैं। इस सागम में उनके ओतों की इकाइयों का विनय आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार मनुष्यों के चित्तत्व में (भाव) धारणा के विस्तार का शोध होता है। देह काल इकाई परिणाम आदि के प्राकृतिक नियमों का अतिक्रमण करके इन भावों का सागम होता है। इस सागम में भाव अधिक उज्ज्वल और समृद्ध होते हैं। प्रकाश की भौतिक धारणा के भाव की गति भी स्वभावतः विस्तार की ओर है। इस विस्तार में ही उसका स्वरूप समृद्ध होता है। प्रकाश एक भौतिक तत्त्व है। अतः प्रकाशों के सागम का परिणाम गणित के इकाई और परिमाण के नियमों के अनुसार होता है। वस्तुनिष्ठ उसे नाप सकते हैं। किसी अर्थों में

प्रकाश के समान होने हुए भी आत्मा के भाव भौतिक नहीं होते । अतः उनका विस्तार दश वास के नियमों से नामित नहीं है और न उनके संगम का परिणाम गणित के परिमाणगत नियमों के अनुसार होता है । इस संगम में एक और दो तीन नहीं होते बरन् अधिक होते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार व्यक्तिव अथवा आत्मा कठोर इकाइयाँ नहीं हैं उसी प्रकार उनका संगम भी इकाइयाँ के योग के निश्चित परिमाण के अनुरूप नहीं होता । 'यत्कित्व और आत्मा का स्वभाव विस्तार और समृद्धि है । अतः उनका संगम भी समृद्धिगोचर होता है । जिन अनिश्चित विस्तारों का योग भावों के संगम में होता है उनके स्वरूप का प्रतिपाद संगम में और भी समृद्ध हो जाता है । विस्तार अतिशय और समृद्धि ही आत्मा के लक्षण हैं । आत्मा के इन्हीं लक्षणों के द्वारा आत्माओं का संगम ज्ञान में फलित होता है । मुख्य दुख संवेदना का भौतिक अनुभूति है जो ज्ञान द्वारा इकाई और परिणाम के नियमों से नामित रहती है । ज्ञान इनसे अतीत एक अपूर्व और अद्वय अनुभव है। यह अनुभव संवेदना के समान 'यत्कित्व' की इकाई में केन्द्रित नहीं रहता । शरीर में सम्पन्न होने के कारण यत्कित्व अवश्य प्रतीत होता है कि तु यत्कित्व निष्ठता इसका पूर्ण स्वरूप नहीं है । 'यत्कित्व' की इकाई के एकांत में यह अनुभव सम्भव नहीं होता । इसलिए प्रजापति को अकेले में ज्ञान नहीं था और प्रजापति के समान ही अकेले होने पर किसी मनुष्य को भी ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता । यह विचार करने योग्य है कि प्रजापति के समान अकेली स्थिति कभी भी किसी भी मनुष्य की नहीं होती । प्रजापति पूर्णतः अकेल था । यह सृष्टि के पूर्व था एकाकीपन था जब सृष्टि का कोई भी पदार्थ और जीव उत्पन्न नहीं हुआ था । यह धरती धरती के वृक्ष पशु पक्षी और मनुष्य तथा यह आकाश और आकाश के तारे कोई भी न थे । ऐसे परम 'यत्कित्व' और कठोर एकाकीपन की स्थिति मनुष्य की कभी नहीं होती । मनुष्य का जन्म ही मनुष्यों में होता है । कम से कम माता की गोद तो सभी को मिलनी है और उस गोद के आश्रय के साथ एक अत्यन्त स्निग्ध और सरस आत्मा का संगम 'यत्कित्व' में ही मनुष्य का मिलता है । बड़े होन पर जब कभी भी घर अथवा वन में अकेल होते हैं तब भी हम प्रजापति के समान अकेल नहीं होते । प्रजापति का एकांत कठोर और पूर्ण था । आत्मोप भाव में नहीं बरन् दूरदगल से भी उस एकांत को भग्न करने के लिए कोई पक्ष अथवा जीव नहीं था । अकेल हो पर भी हमारा एक न इतना कठोर और पूर्ण नहीं होता । यदि निकट से नहा तो दूर से दृष्ट एकांत को भग्न करने के लिए सकार और इतिहास में अनेक पदार्थ और प्राणी हैं । कल्पना के द्वारा हम उनके साथ आत्मोप भाव स्थापित कर

अपने एकांत भाव को दूर कर सकते हैं। कल्पना की गति असीमित है और स्वप्न ही है। वह दूरतम सोचों में विहार कर सकती है। इसी कल्पना के द्वारा पशुओं की आत्मा ने जलन का और पक्षियों में भी विहार किया है। स्मरण और कल्पना के द्वारा मनुष्य परोक्ष पदार्थों और प्राणियों की गति प्राप्त करके अपना एकांत दूर कर सकता है। अतः वह जिन पुरुषों का जलन होता है वह भी प्रजापति का पूरा एकांत नहीं है। निश्चय और दूर के अनेक पदार्थों तथा प्राणियों के साथ प्रत्यक्ष और काल्पनिक गति की सम्भावना इस एकांत के अभाव और भार को बहुत हल्का बना देती है। किन्तु ऐसी स्थिति में भी मनुष्य इस एकांत को सहन नहीं कर सकता। विरगता के कारण ही वह कभी इस स्थिति पर चला जाता है। तब भी स्वतन्त्रता होने पर वह किसी न किसी उपाय से इस एकांत को दूर करता है। अकेली विधवाएँ सोता मना पाल कर उन्हें ही अपना साथी बना लेती थी और उनका साथ बाँट करके ही अपने एकाकीपन का भार हल्का करती थी। बहुत सी विधवाएँ देवताओं की मूर्तियों को ही अपना साथी बनाकर अपना एकांत दूर करती हैं। उनकी सेवा और पूजा के द्वारा कल्पना के भाव में ऐसा ही आनन्द प्राप्त करती हैं जसा कि मनुष्यों की साक्षात् सगति में प्राप्त होता है। ग्राम और वन के निवासी अकेले होने पर पशु पक्षियों के साथ ही अपना वधुभाव स्थापित करते हैं। वृद्धों सत्ताओं और जड़ पदार्थों तक को अपना साथी बनाकर मनुष्य अपने एकांत को दूर कर सकता है। एकांत उसे इतना असह्य होता है। कभी विरगता के कारण प्रत्यक्ष रूप में अकेला होने पर वह कल्पना के द्वारा अपने प्रियजनो का सग प्राप्त करता है और अपना एकांत दूर करता है। जहाँ तक सम्भव होता है वह प्रत्यक्ष रूप में ही अकेला नहीं रहना। एकांत अप्रिय होने के कारण वह अनजान नगर की सड़कों और उसके बाजारों में ही बिना प्रयोजन के घूमता है। उन लोगों के बीच में भी उसका एकांत कम से कम बाहरी रूप में दूर हो जाता है। भाव की दृष्टि से चाहे वह अकेला हो किन्तु स्थिति और सत्ता की दृष्टि से तो वह अकेला नहीं होता। मन से भी मनुष्य कभी अकेला नहीं रहता। मन की कल्पना क्षणिक से वह अपना अकेलापन दूर कर लेता है। मनोरथ पर चढ़कर वायु वगैरे से वह अपने वधुओं के पास पहुँच जाता है। प्रजापति सत्ता और भाव दोनों की दृष्टि से अकेला है। उनकी मृष्टि का अभाव होने के कारण मनुष्य के जैसे उपकरण उपलब्ध नहीं थे जिनके द्वारा वे अपना एकांत भाव दूर कर सकते हैं। इसीलिए उन्हें इस एकांत में आनन्द नहीं आया और उन्हें भय लगा। ऐसा कठोर और पूर्ण एकांतभाव अपनी अपार शून्यता के कारण

कितना बेगमय और कितना भयंकर हो सकता है इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। मनुष्यो स भरी नगरी और दुनियाँ में अल्पकाल के लिए भी भक्ते होते पर हम दुखी और भयभीत होने हैं। भकेल घर में हमारा चित्त उदास रहना है और हमें भय लगता है। वन के गूँघुं भाग में भक्तेल हान पर हम भयभीत होते हैं। घर के भाम पास में ऐसे लोगो के रत्न पर भा हम सतोष रहता है जिनके साथ हमारा कोई संबंध नहीं है क्योंकि कम से कम वे हमारा सत्ता और स्थिति का अक्षयपन तो दूर करते हैं। भाव का अक्षयपन हम कल्पना के द्वारा दूर कर देते हैं। भूने भाग में कोई भय विहित कि तु गातिपूण, साथी मिल जाने पर भी हम प्रसन्नता होती है। यदि वह उपचाप ही हमारे साथ चलता रहता है तो भी हम सतोष रहता है। घर और वन का एकांत इतना पूण और कठोर नहीं होता जितना कि प्रजापति का एकांत था। फिर भी हम उसमें कसस और भय का अनुभूत होता है। इसकी तुलना में प्रजापति का जसा पूण और कठोर एकांत कितना अधिक बलपूण और कितना अधिक भयावह होगा इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

वस्तु सत्ता और भाव दोनों ही रूप में एकांत मनुष्य की परम सत्ता और परमत्व अभिन्न है। दुर्भाग्य से कभी सकला रहने के लिए विवर्ण होने पर भी वह सदैव यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न करता है। प्रत्यक्ष में ऐसा सम्भव न होने पर वह कल्पना के द्वारा ही उसे दूर करता है। कल्पना मनुष्य की पूणत स्वच्छन्द शक्ति है। उस पर किसी भी शासन व्यवस्था नियम का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता। सुनते हैं कि प्राचीन ऋषि मुनि धार तपस्वी वन्य आश्रम और पर्वत कन्दराओं में प्रकल रहते थे। सम्भव है कुछ योगी पूणत प्रकल भी रहते हों क्योंकि तपस्वी के लिए एकांत का सहन सम्भव है। वस्तुतः एकांत का सहन ही तप का बीज है। फिर भी कठोर एकांत का वरण करने वाले योगी विरल ही होते। अधिकांश ऋषि मुनियो का जीवन कठोर एकांतमय नहीं था। वे वन्य आश्रमों अपने परिवार और मित्रों के साथ रहते थे। उग्र सरत और पवित्र आश्रम जीवन में आत्मीयता का भाव दाना समृद्ध और उत्कृष्ट था कि भयान दुःख है। आधुनिक युग के श्री भरविन्द श्री रामकृष्ण, श्री रामानुज जय योगी भी भक्ते नहीं रहते थे। इनमें श्री भरविन्द का एकांत सबसे अधिक कठोर था। किन्तु वह एकांत भी पूण नहीं था। प्रजापति के एकांत की जसी पूणता का मनुष्य की स्थिति में सम्भव है किन्तु मनुष्य की स्थिति में भी कितना एकांत सम्भव है उस भी

श्री धरविन्द की स्वीकार गयी गिया था। उक्त एकांत का समय बटोर रूप उनका मोन घोर घटगत था। किंतु इतने बटोर घोर तप पूरा एकांत में भी ये सत्ता घोर भाव दानो की ही दृष्टि में पूणत भवत न थे। सत्ता की दृष्टि से श्री माताजी का सम्पर्क उनका एकांत की बटोरता की मृदुल बनाना था। यद्यपि एक ही बार के नि देखकर वे गिप्पय वग की कृताथ करत थे। किंतु माथ ही उनका एकांत भी जन समस क सागर से अभिविक्त होकर सरत बनता था। इसका अतिरिक्त अपने भगणित गिप्पया में पत्र व्यवहार के रूप में उनका सम्पर्क था। वे अकेले घर में रहने वाले विधुर भयवा विषया से भी कम अकेले थे क्योंकि आधम में रहने वाले भगणित गिप्पया का प्रेम पूरा सम्पर्क उनका अनुदिक रहता था। परास रहत हुए भी यह सम्पर्क उनका भाव में अपरोक्ष था। सत्ता की दृष्टि से अकेले रहते हुए भी ऐसा सम्पर्क आनन्द का स्रोत और अभय का आवासिन है। सदीप में श्री धरविन्द का एकांत प्रजापति का एकांत का तुलना में अपने आत्मीय जनो का साथ प्रत्यक्ष और परास आत्मभाव से सम्पन्न था। श्री धरविन्द से अधिक बटोर एकांत का जीवन कदाचित् ही किसी ने यतीत किया होगा। ऋषि मुनियों और तपस्वियों में भी कदाचित् ही किसी का जीवन पूणत एकांतमय हो। जगत और समाज का बोलाहल से दूर अपनी एकांत कदरा में भी वे पूणत भवत न थे। अधिकतर मुनियों के आश्रम में एक आत्मिक परिवार सा रहता था। कदरावासी भी पशुओं और वृक्षा के साथ अवश्य ही आत्मभाव रखत होगे। जिन्होंने कभी सोभाग्य से इन एकांतवासी योगियों के दर्शन किए हैं उन्होंने उनकी मत्पत उदार और महदय पाया है। यह उदारता और सहृदयता उनका विषय आत्मभाव की छोटक है। इससे यही प्रकट होता है कि एकांत साधना आत्मभाव को और विन्द बनाती है। एकांत तपस्या का जीवन में यही मूल्य है। एकांत साधना अपने आप में साध्य नहीं है और न अपने आप में उसका मूल्य है।

✓जीवन का सत्य और साध्य एकांत नहीं बरन् अनेक व्यक्तियों के साथ समात्मभाव है। साधना के एकांत में हम समात्मभाव का सत्य प्रसर रूप में स्फुटित होता है। यही तपस्या और साधना का महत्त्व है। साधना का एकांत में प्रसर होकर यह समात्मभाव मरुति की दिव्य सृष्टि में साकार होता है। इस सृष्टि का अनकरूपता में सम्पन्न होकर समात्मभाव आनन्द का स्रोत बनता है। प्रजापति न उसी ध्यान की प्राप्ति के लिए बहुरूप प्रजा की सृष्टि की और उनके साथ आत्मभाव स्थापित किया। विवकी मृजनात्मक

परम्परा का यही रहस्य है। यही समात्मभाव धर्म दान बता साहित्य सार्वत्रिक आदि का भी मूल तत्व है। इस समात्मभाव का तात्पर्य आत्मा का समभाव है। चेतनाआत्माका स्वरूप है। वेदांत में इस आत्मा को चिन्मय माना है। पान को चेतन मानकर पाता के निर्विषय और तुरीय चेतना का आत्मा की सत्ता दो है। जब विषयो के विरोध में आत्मा को चेतन मानते हैं। किंतु जीवन का सम्पूर्ण सत्य जब और चेतन की विरुद्ध कोटियों में सीमित न हो किया जा सकता। वह एक ऐसा भाव है जिसमें जब और चेतन तथा दोनों का बीच की अनेक कोटियाँ समाहित हैं। वह इन सब कोटियों से व्यापक और विनाशक है। उसके पूर्ण रूप का अधिगम न सचेतन चेतना में हो सकता है और न तुरीय चेतना में सम्भव है। जड़ता की निश्चेतन स्थिति से भिन्न करने के लिए इसे चेतना से रहित मानना उचित नहीं है। किंतु इसका समग्र रूप सचेतन चेतना और तुरीय चेतना दोनों को समाहित कर उनसे अधिक व्यापक है। जीवन का यही व्यापक सत्य आत्मा है। यही सत्य का समग्र स्वरूप है। यह जड़ सत्ता की भाँति उदासीन इकाई नहीं है। इसलिए इसे सत्ता का स्थान पर भाव कहना अधिक उचित है। भाषा के प्रयोग में भाव में चेतना का भी अंतर्भाव है। जीवन का यह स्वरूप भाव चेतना के सभी घरातमो को समाहित करने के लिए एक अपूर्व रस भानन्द से पूर्ण है। आत्मा के इस स्वरूप का भान "यत्तत्त्व की इकाई में सम्पन्न नहीं होता। इसीलिए प्रजापति को अनेकते में भान " नहीं आया। इसीलिए किसी भी जीवको अनेकते में भानन्द नहीं आता। इसीलिए प्रत्येक जीव और विनाशक मनुष्य अपने वस्तुओं की सागति सोचता है। जीवों और वस्तुओं की सागति मात्र में उस भानन्द नहीं मिलता। इसीलिए वह उनका साथ आत्मभाव स्थापित करता है। इकाई यों की उदासीन अनेकता में इकाईयाँ अनेक होकर भी अपनी अपनी इकाई में सीमित रहती हैं। यह जड़ सत्ता और जीवों की प्राकृतिक स्थिति है। वेदांत की तुरीय चेतना में यह इकाई पूर्णतः विनीत हो जाती है। इकाई की सीमा में तो किसी को भानन्द नहीं आता इसीलिए प्रजापति के समान ही एकांत किसी को सह्य और प्रिय नहीं है। इसीलिए प्रत्येक जीव धर्म इकाईयों के साथ सागति की आकांक्षा करता है। इसीलिए योगिया द्वारा प्रवर्तित एकांत साधना की परम्परा अधिक दिन तक नहीं चल सकी। वेदांत की त्रिम तुरीय चेतना में व्यक्तित्व की इकाई का विलय हो जाता है वह भी बहुत कम साधकों को अभीष्ट हुई है। समात्मभाव जीवन का अनन्त इकाईयों का ऐसा आत्मीय भाव है जो न इकाई की बंधन सीमा का प्राप्त हो सकता है और न इकाई का आधार को सन्निहित करता है। जीवन विनाशक मनुष्य

जीवा को बंदोर इकाई नहीं है। बंदोर इकाई के रूप का आरोपण जीवा को असम्भव होता है। जीवन की अनिश्चित इकाई का अनिश्चित इकाईयों के साथ आत्मभाव प्राप्त करने की अनिश्चित होती है। इस आत्मभाव का बंदोर इकाई की रूपना के आधार पर नहीं समझा जाता। बंदोर इकाई का दृष्टि कोण सम्पूर्णता की सम्बन्धन परिधि और उसका स्वायम्भय अन्तर्गत होता है। भौतिक पदार्थों को हम बंदोर इकाई मानते हैं। किन्तु उनमें स सम्बन्ध पदार्थ ऐसे हैं जिनकी इकाईयों अपनी बंदोरता की छोटकर बृहत्तर इकाईयों को जन्म देती हैं। भौतिक सत्ता की मूल इकाई परमाणु है जो अदृश्य है। परंतु हम इन इकाईयों के संयोग से बनी हुई बृहत्तर इकाईयों की ही भौतिक इकाई मानते हैं। ये इकाईयों धातुओं के समान एक दूसरे में विलीन होती हैं और मिट्टी के समान इनका कण अलग-अलग भी हो सकता है। इससे भौतिक सत्ता की उदासीन स्थिति प्रकट होती है। पृथ्वी इस उदासीन सत्ता का विराट रूप है। किन्तु सम्भवतः उसका वह सबसे सूक्ष्म रूप है। इसी सूक्ष्मता के कारण पृथ्वी सबकी माता है। वह अपने सूक्ष्म कण में सबको धारण करती है और सबका पालन करती है। पृथ्वी के गर्भ से ही वनस्पतियों में जीवन का आदि रूप उदित हुआ है। पृथिवी की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म सम्भवतः जल है। जल में इकाईयों का रूप पृथिवी के कणों के समान पृथक् नहीं हो सकता। जिसे हम जल के कण कहते हैं वे वस्तुतः जल के कण नहीं हैं बल्कि कण समूह हैं और वे भी क्षण भर पृथक् नहीं रह सकते। क्षण भर में आकाश में गिर कर वे आपस में अथवा पृथिवी में मिल जाते हैं। इकाईयों की यह अभिन्नता जीवन का भौतिक और सर्वोत्तम रूप है। सम्भवतः इसीलिए सस्कृत भाषा में जल का पर्याय जीवन है। जल में इकाईयों की अभिन्नता के साथ साथ जो बहुरूप समयाजन है वह भी जीवन का अग्रणी रूप है। जल एक आकार में स्थिर भी रह सकता है यद्यपि स्थिरता उसका स्वभाव नहीं है और स्थिरता में वह सड़ता है। वह पृथिवी और वायु में मिल भी जाता है। किन्तु जल का स्वभाव द्रवत्व के कारण गति है। मानो वह सबसे भेदने के लिए निरंतर भाग बंटता है। जल के तीव्र स्वभाव के कारण ही सम्भवतः सृष्टि के आदि में जल में ही जीवन का आरम्भ हुआ है। उसकी द्रवता और सूक्ष्मता के अर्थ में जीवन स्फुरित हुआ। जल के रूप में ही जीवन का गम निश्चित है। इसीलिए जल के बिना किसी भी रूप में जीवन सम्भव नहीं हो सकता। वनस्पतियाँ जल से ही अकुरित होती हैं। पशु-पक्षी और मनुष्य जल में ही जीते हैं। उनका गमन में भी जल का भाव बहुत है। स्थिर होने पर जल वायु के भाग से अपने स्वभाव का अनुसरण करता है। तप से

ऊर्जित जल पञ्चम वन कर तपोमय जीवन व समान ही अधिक फलित होता है। वायु जल से भी अधिक सूक्ष्म और अदृश्य होती है। जन म यदि पृथिवी व समान वण भलग नहीं हो सकते तो धण भर व लिए स्थूल-वण समूह तो दिखायी दते हैं। वायु म इकाइयों व स्थूल समूह भी भलग नहीं हो सकते। मानो समस्त वायु मण्डल एक ममय इकाई है। आकाश वायु से भी अधिक सूक्ष्म और अलप्यन्त है। वह एक पूरा और अनन्त इकाई है। इस इकाई क लण्ड नहीं हो सक्त।

तेज का रूप विचित्र है। वह प्रकट और अप्रकट दोनों है। उसका समप्रता और इकाई दो रूप भी भलग भलग दिखायी दते हैं। सूक्ष्म व अतिरिक्त उसका कोई प्रकट रूप स्थायी नहीं है। तेज का सूक्ष्म रूप भी सक्रिय है। वह वायु और जल को गति दता है। जल पृथिवी और वायु म तेज व संयोग से ही जीवन का उदय हुआ है। तेज व वण पार्थिव वण व आधार में प्रकट हो सकते हैं। अथवा प्रकट तेज इकाइया का समुदाय है। सूक्ष्म तेज एक समग्र इकाई है जो आकाश के अतिरिक्त समग्र विश्व में व्याप्त रहती है। तेज का इस समग्र इकाई म अनन्त इकाइया अंतर्हित रहती हैं। आपक की गितामा और ध्वन की ज्वालाओं की भांति ये इकाइया सहज मिलकर एक हो जाती हैं। प्रकाश रूप इनका फन का इकाइया भी एक रूप हो जाती है। तेज की इकाइया मिलकर एक अधिक उच्च इकाई को जन्म देती है जिसके तेज और प्रकाश दोनों ही अधिक तीव्र होते हैं। इकाइयो व मम्मिलन म तेज की समृद्धि होती है। यह समृद्धि ही जीवन का लक्षण है। इसीलिए समस्त तेज क संयोग से ही विश्व में जीवन स्फुरित होता है। तेज ही जीवन की आत्मा है। इसीलिए भगवान को तेजस्वरूप माना गया है। वेनों म गायत्री मंत्रों में भी दिव्य तेज की वन्दना है। वायु जीवन का प्राण है। इवास म ही सब प्राणी जीते हैं। प्राण वायु तेज और जीवन का आधार है। जीवन का स्पन्दन और तेज की स्फूर्ति इसी पर अवलम्बित है। इसीलिए उपनिषद् क मृष्टि त्रम में वायु से अग्नि यथवा तेज की उत्पत्ति मानी गई है। तेज का प्रकट रूप प्राण वायु म व्याप्त तेजस तत्व का ही स्फोट है। इस प्रकार तेज का उद्भव ही जीवन है। इसीलिए तेज से जल की उत्पत्ति मानी गई है जिसका एक पर्याय जीवन है और जो जीवन का आधार है। जन से पृथिवी व अन्य का अथ यह है कि पार्थिव रूपा म ही उद्भूत जीवन माकार होता है। जल की रसात्मकता से पार्थिव वण संघटित होते हैं। कि तु इस संघटन की इकाइया भलग भलग भी हो जाती है। जीवन

क मूल रूपों में यह संगठन घनिष्ठ होता है। इस संगठन के रहते ही जीवन भा रहता है। इस संगठन के विघटन होने पर जीवन भी उधन हो जाता है। संगठन की ऋचाइयों का विघटन ही मरण है। मीलिए उम पचत्त प्राप्ति कहा जाता है। पचत्त का अर्थ यह है कि जीवन की सजीव ऋचाई में संगठित भूत तत्त्व पृथक् पृथक् हो जाते हैं।

जीवन की सजीव ऋचाई में तत्वों की इकाइयों का संगठन एक अद्भुत रूप में होता है। भूतत्वस्था में इकाइयों का संगठन एक ऐसे रूप में होता है जिसमें एक उत्तर इकाई में सम्मिलित होते हुए भी अन्तर्भाव अथवा अन्तर्भाव में भी अद्भुत बनो रहती हैं। वस्तु की परिभाषा में इकाइयों के इस संगठन को साधन कह सकते हैं। साधन वास्तव में अद्भुत है। घनिष्ठता मात्रिक सम्बन्ध से होती है। पत्थर धातु प्राणि भौतिक पदार्थों में भी इस घनिष्ठता के कुछ रूप दिखायी देते हैं। किन्तु सजीव इकाई में यह घनिष्ठता अधिक पूर्ण है। इसीलिए इन घनिष्ठता का विच्छेद मरण बन जाता है। किन्तु दूसरी ओर भौतिक पदार्थों में साधन के द्वारा इकाइयों का सम्मिलन केवल समुक्त प्रकार और परिमाण को जन्म देता है। महीन गुण भी इकाइयों के गुणों के मिश्रित रूप होते हैं। सजीव इकाई में एक जीवन का अपूर्व गुण तो होता ही है किन्तु इसके साथ साथ इस सजीव इकाई का विकास भी अद्भुत रूप में होता है। समृद्धि इस विकास की शक्ति है। भौतिक संगठनों की भाँति सजीव इकाई उत्तर इकाइयों के बाहरी साधन का परिणाम नहीं है। इसके विपरीत वह एक मूल और बीज रूप इकाई के विभाजन से विकसित होती है। इस बीज रूप इकाई का केवल विभाजन नहीं होता। किसी अतर्निष्ठ शक्ति के द्वारा इसका विभाजन होता है। किन्तु इस विभाजन का फल विभाजित अंगों का समन्वय होता है। इकाइयों का यह विभाजन ही समृद्धि का सूत्र और जीवन का लक्षण है। निर्जीव भौतिक पदार्थों में यह नहीं मिलता। किसी तेजोमय शक्ति के समृद्धिगामी स्वरूप से यह लक्षण जीवन को प्राप्त हुआ है। बीज के विभाजन में शक्ति का स्फोट होता है। आत्म विभाजन बीजाणु की इकाई का विषय घम है। किन्तु इसका प्रतिरिक्त एक बठोर समग्रता का संगठन भी जीवन की इकाई का विषय लक्षण है। इस बठोरता में जीवन की समृद्धि सारक्षित रहती है।

अस्तु जहाँ भौतिक इकाइयों में भी सम्मिलन की प्रवृत्ति दिखायी देती है वहाँ दूसरी ओर उनका संगठन साधन मात्र है। इन संगठन में इकाइयों

का स्वरूप पूरुष नष्ट नहीं होता और इन सगठनों के खिन होने पर भी वह नष्ट नहीं होता। भौतिक इकाइयों का रूप अक्षुण्ण और अमृत है चाहे उनके सगठनों में समृद्धि नहीं होती। इससे विपरीत बीजाणु के विभाजन से सजीव इकाइयों का समृद्ध रूप सगठित होता है। इकाइयों का विभाजन और समवाय जीवन के दो तन्त्र हैं। विभाजन में समृद्धि होती है और समवाय से इकाइयों की पनपुष्टता एक कठोर समग्रता की जन्म देती है। इस अपूर्व स्वभाव के कारण ही सम्भवतः जीवन का समग्र इकाई में एक कठोर संकोच उत्पन्न हो गया। मन्दिर होने के कारण मानो वह अपने अस्तित्व के प्रति अतनी सजग हो गई है कि इस सजगता ने स्वाय और अहंकार का रूप लीनया है। संयोग में भा अक्षुण्ण और अमृत होने के कारण मानो भौतिक इकाइयों संयोग और विभाजन के प्रति उन्मासीन हो। ये भौतिक इकाइयों अपने स्वरूप और स्वभाव में अवश्य स्थिर रहती हैं। किन्तु इनमें कोई स्वाय नहीं होता। ये स्वाय और पराय के भावों से उदासीन होती हैं। किन्तु मजीब इकाई अपनी समग्रता में रुद्ध होने के कारण स्वाय के प्रति अधिक सजग है। सम्भवतः इसी सजगता के कारण सजीव इकाइयों का सम्मिलन नहीं होता। वे अपने रूप की सीमा में सदा घलग रहती हैं। उनका बाह्य नायोग हो सकता है। किन्तु उनका आन्तरिक समवाय नहीं होता। वस्तुतः सजीव इकाई की कठोर समग्रता का स्वाय ही उसकी वृद्धि का सूत्र है। भौतिक इकाइयों के तथ्यों और अपने सगठन में आत्मसात करने को सजीव इकाई बढती है और संरक्षित रहती है। उसका गति और क्रियाएँ भी अपना रूप के संरक्षण के लिये ही होती हैं। यद्यपि उन्हें स्वायमय कह सकते हैं। संवेदनाओं में भी उसका केंद्र स्वाय में ही होता है, यद्यपि इन्द्रियों में शरीर की अपेक्षा पराय भाव अधिक विकसित हुआ है। दृष्टि और स्पर्श की संवेदना में पराय भाव समान भाव बन जाता है। एक सजीव इकाई दूसरी सजीव इकाई के दर्शन और स्पर्शन से आनंदित होता है। किन्तु इसमें भी ये इकाइयों अपने स्वरूप में ही रुद्ध रहती हैं यद्यपि समानभाव में इन इकाइयों को मुक्त मिल सकता है। संवेदना मचेतनता ही मानो केन्द्रित हो कर अहंकार बन जाती है। यह अहंकार स्वाय का बिंदु और बीज है। इसी से प्रेरित होकर सजीव इकाई की प्रवृत्ति और प्रवृत्ति स्वाय में संलग्न रहती है।

किन्तु दूसरी ओर उसकी गति पराय और समानभाव की ओर भी जाती है। गंध, श्रवण आदि में पराय भाव अधिक है। दृष्टि और स्पर्श में

समात्मभाव भी विवक्षित होता है। किन्तु इनका समात्मभाव वर्तमान और सम्प्रेम्णा तक ही सीमित है। मन मे स्मृति और कल्पना के द्वारा इस समात्मभाव का विस्तार भूत भविष्य और परमाणु में होता है। भौतिक होते हुए भी मन प्रकृति की इकाइयों के कठोर नियम से शासित नहीं है। न वह भौतिक इकाइयों की भांति संयोग वियोग के प्रति उदासीन है और न सजीव इकाई की भांति सम्मिलन में असमर्थ है। मन में मानों प्रकृति और चेतना का सगम हुआ है। अतः उस दोनों के स्वभाव का वरदान मिला है। उस अपनी इकाई रूप की भी क्षतता और उसका विराग है। किन्तु वह इसमें ही सतृप्त नहीं है। अपने रूप में रहते हुए भी मन दूसरे मनों में मिल जाना चाहता है। शरीर की सजीव इकाई को भी दृष्टि और स्पर्श में समात्मभाव की आकांक्षा मानो मन से ही मिली है। प्रकृति से शासित न होने के कारण मन का अद्भुत घम स्वच्छन्द रूप से सम्पन्न होता है। उसमें न उसकी इकाई के रूप का विषय होना आवश्यक है और न साथ ही इस इकाई के कठोर स्वायत्त का आग्रह रहता है। संयोग और वियोग के नियम भी उस पर लागू नहीं होते। भौतिक और शारीरिक संयोग होने पर भी मन बिलग रह सकते हैं। समवाय में मन अभिन्न भी हो जाते हैं। संयोग में वे मिलकर एक भी होत हैं। वियोग में वे पृथक् भी हैं। किन्तु जिस प्रकार संयोग में भी वे भिलग रह सकते हैं उसी प्रकार वे वियोग में भी मिल सकते हैं। मन की गति प्रकृति के नियमों से शासित नहीं है। स्मृति और कल्पना के चमत्कार के कारण उसकी गति अद्भुत और विचित्र है। इस विचित्रता में जीवन की एक नई विमा प्रकट होती है जो समृद्धि और समात्मभाव के रूप में जीवन की नवीन विभूतियों के समुद्र द्वार खोलती है।

मन में प्रकृति और चेतना का सगम है। अतः उसमें प्रकृति और आत्मा दोनों के लक्षणों का समवाय है। प्रकृति की इकाई मन में अहंकार के रूप में केन्द्रित हुई है। किन्तु अहंकार की सचेतन इकाई जड़ न होने के कारण उसका कोई निश्चित और स्थिर रूप नहीं है। सचेतन होने के कारण वह उदासीन नहीं बल्कि सचेत है केवल सर्वोच्चगीत ही नहीं बल्कि विस्तारशील भी है। अपने अनिश्चित स्वरूप को स्थिर रखते हुए भी वह दूसरे इकाइयों में मिलकर एक हो जाना चाहती है। इसीलिए इस अहंकार का विस्तार अमर पदार्थों और व्यक्तियों के साथ एकात्मभाव में होता है। इस विस्तार में प्रकृति की इकाई आत्मा के स्वरूप का अनुशीलन करती है। वदन्त के अनुसार आत्मा अतत्त चिन्मय और एक है। एक कहने से यदि इकाई का अर्थ होता तो उसे भीतीय कहना अधिक उचित है। उपनिषदों में आत्मस्वरूप ब्रह्म को एक

बहने के बाद नीघ्न हो अद्वितीय कहकर इस भ्रम का समाधान कर दिया है। एकता और अनेकता उन इकाइयों का लक्षण है जो एक दूसरे से पृथक् समझी जाती है। अनेकता इकाइया की ही अनेकता है। यत यह सारी धारणा है कि वह अपने स्वरूप की सीमा और उससे सबीब में स्थिर रहती है। प्रकृति में इकाइयों का रूप बढोर और उदासीन है। प्रतिम इकाइयाँ ता घनत और समृद्ध हैं। किन्तु इकाइयों के समूह विद्यमान पार्थिव रूपों में कुछ बढोर ज़िन्दापन होते हैं। इन समूहों के संगठन अपने रूप की रक्षा में भी कुछ हन्ता गिराते हैं। सम्भवतः इन इकाइयों की सम्बन्धना से ही मनुष्य में अपने व्यक्तित्व की इकाई का महत्कार विकसित होता है। महत्कार की चेतना का निर्माण में इस सम्बन्धना का बहुत कुछ योग हो सकता है। इसका साथ साथ गरीर की सम्बन्धनाएँ और भाकासाएँ भी इसको हल बनाती हैं। गरीर का निर्माण में संगठित इकाई का रूप भौतिक इकाइयों में भी अधिक दृष्टिगोचर प्रिय बन गया है। गरीर का मोह इसा प्रियता का फल है। शरीर की इकाई इस दृष्टि से बढोर है कि वह दूसरी इकाइयों में मिल नहीं सकती। गरीर की इकाई के इस मोह का कारण क्याचित् यह है कि जहाँ भौतिक इकाइयों का मूल रूप मज्जुतना में अधुण रहता है वहाँ सबीब इकाई विभाजन और विकास में अपने स्वरूप की कलि देकर गरीर का निर्माण करती है। मूल इकाई का अधुण म रहने के कारण सबीब गरीर में संगठन की इकाई प्रसिद्ध हल बन गई है। वह अपने विकास और सरक्षण के लिए भी बहुत चेष्टा करती है। शरीर का विकास के साथ साथ महत्कार की चेतना लया रणा की चेष्टा और अधिक बढ़ती है। इन दृष्टि से गरीर की इकाई भौतिक इकाइयों से पूर्णतः विपरीत है।

आत्मा का स्वप्न इन दोनों में ही भिन्न है। यह भिन्नता इस रूप में नहीं है कि आत्मा इकाई के रूप की पूर्णतः उपेक्षा करती है और अपने लिए आत्मा में कोई स्थान नहीं है। इकाई के इन रूपों में विरोध होने पर आत्मा भी इनसे भिन्न एक इकाई बन जायगी। भेद अनेकता का जन्म देता है और अनेकता इकाइयों का ही लक्षण है। इसी भ्रम की धारणा से वेदान्त में आत्मा की एकता कहकर घट्टन कहा है। अन्त एकता का प्रतिपादन नहीं करने वाला अथवा भेद का निराकरण है। वस्तुतः आत्मा का स्वरूप में इन इकाइयों का समान है और न इनके विपरीत है वरन् दोनों से विनश्वर है। आत्मा के इस विनश्वर स्वरूप में भ्रम समस्त रूपों का समाहार है। किन्तु

इसके प्रतिरिक्त कुछ प्रतिपाद भी हैं। प्रायः इसी प्रतिपाद को आत्मा का मुख्य स्वरूप मानकर यदातदा नो म जगत और जीवन के अर्थ रूपों की निष्ठा होती रही है। किन्तु यस्तुत आत्मा में कोई भी रूप उपेक्षणीय नहीं है। कबल इतना ही है कि ये रूप अपनी सीमाप्राप्ति का धारण करें और अपने को ही पूर्ण तथा परम सत्य न समझें। इनमें परे सत्य की खोज इनसे अतीत सत्यों का सवत करती है। कबल आत्मा पूरा सत्य है और इस पूरा में समस्त रूपों का समाहार है। इस समाहार का कारण ही सृष्टि के विभिन्न घरातलों से विभिन्न रूप उदय हुए हैं जिनमें अणुओं की अमृत इकाइयाँ प्रथम भौतिक सगठन माध्यमिक और सजीव परीर अन्तिम है। माध्यमिक सगठनों में आणविक इकाइयाँ अणुगुण रहती हैं अतः वे संयोग और विभाग के प्रति उदासीन हैं। परीर का सगठन में बीजाणु की इकाई अपने अस्तित्व की बलि देती है। इसीलिए हम इकाई का सगठन की रक्षा का मोह प्रबल है। इकाइयों के सगठनों के ये दोनों विपरीत रूप अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं। इनको ही पूरा सत्य मानना चाहे अमर है। किन्तु इनके सीमित रूप मनुष्य जीवन की समृद्धि सम्भावनाओं के आधार हैं। हम कल्पना नहीं कर सकते कि यदि इकाइयों के सगठनों के ये दोनों ही रूप अपने आकारों में स्थिर न होते तो जीवन की क्या दशा होती। भौतिक इकाइयों के स्थिर न होने पर हमारी समस्त बाहरी व्यवस्था बिभ्रल हो जाती है। परीर की इकाई के स्थिर न होने पर जीवन का आधार ही उच्छिन्न हो जाता है। परीर की इकाई में स्वाध का उत्कण्ठ और अहंकार का उदय प्रतिचार के कारण चाहे कितना ही निन्दनीय हो किन्तु अपनी मर्यादाओं में यह अत्यन्त हितकर है। परीर की इकाई अचेतन और सचेतन स्वाध के कारण अपने पोषण और रक्षण में समर्थ है। इससे हम एक दूसरे के उत्तरदायित्व और भार से कितने मुक्त रहते हैं इसका अनुभव शिशु पालन के भार को समझने पर ही हो सकता है। परीर की यह स्वाधमय समर्थता मनुष्य की मुक्ति का कारण है। परीर की बंधन का कारण मानने वाले अध्यात्मवादियों ने मुक्ति की दिशा में परीर का इस महान योग का भूल्य नहीं समझा। सामाजिक व्यवस्था में सत्तान का स्वतन्त्र और स्वावलंबी बनने पर हमें इस मुक्ति की महिमा का अनुभव होता है। परीर की इकाई में संरक्षण और निर्वाह की समर्थता का पूरा विकास अर्थ दोनों में मुक्ति समृद्धि की भूमिका है।

आत्मा के पूरा स्वरूप में इकाइयों के इन सभी रूपों का उचित स्थान है। इसीलिये आत्मा की स्वतन्त्र इच्छा से ही सृष्टि के विभिन्न घरातलों

पर इकाइयों के विविध रूप प्रकट हुए हैं। किन्तु दूसरी ओर इन इकाइयों का उद्भव ही सत्य का पूर्ण स्फोट नहीं है। आत्मा के पूर्ण रूप में इन इकाइयों का उचित स्थान है। सृष्टि और जीवन में इनका उचित महत्त्व है। किन्तु आत्मा के स्वरूप में इनके प्रतिरिक्त कुछ अतिशय भी है। आत्मा के स्वरूप का यह अतिशय इकाइयों के समस्त रूपा से अतीत और विलक्षण है। इस विनगलता के कारण इकाइयों के किन्हीं भी लक्षणों के अनुरूप आत्मा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह न एक है और न अनेक है। उसका न लक्ष्य है और न नाश। वह न दूर है न निकट है। दूर भी है और निकट भी है। वह न पुरुष है और न स्त्री। किन्तु एक ओर वह जहाँ इन सब रूपों से अतीत है वहाँ वह इन सब रूपों में व्याप्त भी है। अतीत होने की दृष्टि से वह सभी रूपों का समर्थन भी करती है। इन समस्त रूपों के पुष्प आत्मा के ही अन्त में प्रचन में मिलते हैं। इन पुष्पों से ही आत्मा का प्रचन और सृष्टि का भागन भरा है। ये पुष्प उपेक्षणयोग्य नहीं, किन्तु आदरणीय हैं। इनमें आत्मा का ही अन्त साकार हुआ है। ये उत्थान के साधन और अवनत के उपकरण हैं। इन पुष्पों के गम में ही सृष्टि के सौन्दर्य की अन्त परम्पराएँ पसती हैं। ही आत्मा का समस्त सौन्दर्य और स्वरूप इनमें ही समाप्त हो जाता। इनसे अतीत उनका स्वरूप के अतिशय की कल्पना इन रूपों के अनुरूप नहीं की जा सकती। किन्तु वह स्वरूप इन रूपों से विलक्षण है। अतः जहाँ एक ओर वह इकाइयों के सभी रूपों का आदर और समर्थन करता है वहाँ दूसरी ओर वह इकाइया के लक्षणों से अतीत है। इकाई की निरव्युत्ता का समर्थन करते हुए भी वह उनसे उदासीन हो सफल है। इस उदासीनता में इकाइयों का विलय भी असंभव नहीं है। आकाश के समान इस आत्मा का ऐसा अतिशय और अन्त रूप भी है जिसमें इकाइयों का भेद मिष्मा है।

बुद्धि में आत्मा का उदासीन रूप प्रकट हुआ है। बुद्धि का स्वयं निर्व्यवस्थित है। वह अपने और दूसरे के दोनों के व्यक्तित्व की ओर से उठा सीन रहती है। बुद्धि के स्वरूप में अहंकार का जग नहीं होता यद्यपि मनुष्य की प्रकृति के प्रभाव से बौद्धिक विचारों में भी अहंकार का भाव आ जाता है। किन्तु यह भाव विचार के स्वरूप से बाहर होता है क्योंकि वह बुद्धि के स्वरूप का अन्त नहीं है। अपने स्वरूप में बुद्धि और विचार व्यक्तित्व और अहंकार के ऊपर होते हैं। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य अपने विचार का गव करते हुए भी उसे एक निरपेक्ष सत्य के रूप में प्रस्तुत करता है। प्रायः ईमानदारी

स विचार करने पर विचार हमारे अहंकार के विपरीत जाना है। दूसरों के द्वारा प्रमत्त किये जाने पर भी हम ऐसे विचारों से पराभूत हो जाते हैं। मनुष्य का अहंकार भी अपना दुराग्रह करता है किन्तु विचार की निर्वैयर्थ्यता निष्पन्नता निरपेक्षता तटस्थता और उन्मादीनता का बोध स्वच्छ विचार के क्षणों में प्रत्यक्ष बुद्धिमान मनुष्य को होता है। ऐसे क्षणों में वह निस्वार्थ और निरहंकार भाव से किसी विचार की यथायथा को स्वीकार करता है। यह उदासीन विचार बुद्धि का घम और आधार है। इस उदासीनता का रूप यही है कि विचार और उसके सक्षम भूत सत्य की सत्ता तथा उसका महत्त्व किसी की व्यक्तिगत वास्तना पर निर्भर नहीं है। वे अपने आप में ही प्रतिष्ठित हैं। मनुष्य की चेतना में निरपेक्ष भाव से इस सत्य को परचम की सत्ता है। इसी शक्ति का नाम बुद्धि है। व्यक्तित्व और अहंकार से ऊपर होने के कारण यह बुद्धि अनेक रूप नहीं धरन् एक रूप है। व्यक्तित्व और अहंकार के भेद से ही अनेक रूपता उत्पन्न होती है। बुद्धि और विचार इनसे ऊपर हैं। इसीलिए साक्ष्य दर्शन के सत्य क्रम में बुद्धि को अन्तःकार से ऊपर रखा गया है और वह एक ही मानी गई है। अनेक व्यक्तित्वों के आश्रय में उदित होते हुए भी वह एक रहती है। विचारों की एकता होने पर प्रत्येक एक विचार को अनेक व्यक्तियों के द्वारा समान रूप से स्वीकृत होने पर बुद्धि की एकरूपता प्रकट होती है। बुद्धि और विचार सूक्ष्म तत्त्व हैं। उनकी एकता को स्थूल और भौतिक पदार्थ की एकता की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। यह एकता इकाई के संगठन के रूप में नहीं है वरन् इकाई के प्रति उदासीनता के रूप में है। इसीलिए विचारों सश्लेष विचारों के विस्तार के रूप में होता रहता है। विचारकों की इकाइयों का परिच्छेद निम्निकरना कठिन है। ये अनिम्निक इकाइयों विस्तारों में विलीन होती रहती हैं। इन विस्तारों के अंतर्गत परिभाषा और लक्षणों के द्वारा तब तक सूक्ष्म भेद स्थापित करता रहता है। यह भेद ही विवेक का रूप है। किन्तु यह विवेक तब का व्यवहार मात्र है। प्रायः इस विवेक की ही बुद्धि का प्रमुख रूप मानते रहे हैं। तब के व्यवहार के लिए यह उचित है। किन्तु यह विवेक की बुद्धि का सम्पूर्ण स्वरूप नहीं है। विवेक बुद्धि का प्रकट रूप है। इससे भी अधिक निष्कृष्ट बुद्धि का निरपेक्ष और उदासीन रूप है। बुद्धि के इस रूप में समता रहती है। सत्त्व के उत्कर्ष के कारण बुद्धि में साम्य अधिक रहता है। इस समता के कारण ही विचार की विविक्त इकाइयों में विरोध नहीं रहता। वे विरोध के अतिक्रमण और समति की ओर अभिमुख रहती हैं। विविक्त इकाइयों के स्वरूप और सत्य में भी यह निरपेक्ष भाव निहित रहता है। बुद्धि की इस निरपेक्षता के आधार पर ही हम दूसरों

से तब करते हैं और उनसे आगा करते हैं कि व हमारे विचारों को स्वीकार करें। बुद्धि और विचार की एकरूपता का अर्थ यह नहीं है कि विचार एक यत्नहीन इकाई है। सम्भवतः ऐसा हो और विचारों को एकाग्रता केवल एक व्यावहारिक भेद हो किन्तु यहाँ एक रूपता से हमारा अभिप्राय केवल इतना है कि 'यत्न' के भेद का प्रभाव विचार के स्वरूप का आवश्यक अंग नहीं है। वह व्यक्तित्व की ओर उदासीन रहता है। विचार यह आगा करता है कि सभी यत्न उस समान रूप से स्वीकार करेंगे। विचार का साथ यत्न से स्वतन्त्र और उनका स्वरूप में ही निहित होता है। इस दृष्टि से वह अनेक यत्न के लिए अनेक रूप है और समान भाव से स्वीकार्य है। विचार के सम्बन्ध में जो अहंकार और आग्रह उत्पन्न होता है वह विचार का स्वरूप नहीं मनुष्य के स्वभाव का आरोपण है। अपने स्वरूप में विचार उदासीन सम और गति है। विचार में अहं और भय नहीं हो सकता है। यह विचार करने वाले की बुद्धि के उत्पन्न पर निर्भर है। किन्तु समाज में विरोध अहंकार के आग्रह के कारण होता है। यदि मनुष्य विचार की उदासीनता और समता का आदर करता तो विचार के क्षेत्र में ही नहीं समाज में भी शांति आती मनुष्य को बुद्धिमान प्राणी मानकर प्राचीन विचारकों ने बहुत बुद्धिमानों का परिचय दिया है। बुद्धि का समभाव ही मनुष्यता का मर्म है। यह समभाव 'यत्न' के अहंकार और विरोध को शांत करता है। बुद्धि और विचार की उदासीनता तथा निरपेक्षता व्यक्तित्व की ओर उदासीन भाव से समता का द्वार खोलती है। केवल इतना है कि इस उदासीनता के कारण चिंतन के 'मूल' और 'गुण' क्षेत्र में समता का यह द्वार खुलता है। विचार चाह मानसिक क्रिया है किन्तु स्वयं विचार के स्वरूप में व्यावहारिक अर्थ में क्रिया की प्रेरणा नहीं होती। क्रिया की प्रेरणा विचार में नहीं, भाव में होती है। इस भाव के दो रूप हैं। एक जिसे भावना भयवा संवेग कहते हैं और जिसका बीज प्राकृतिक प्रवृत्तियों में रहता है। प्राकृतिक होने के कारण इस क्रिया का रूप स्वायत्त होता है। अहंकार के सजग रूप में तथा अचेतन रूप में भी ये प्रवृत्तियाँ क्रिया को प्रेरित करती हैं। इन क्रियाओं का उद्देश्य सुख रहता है। मुख्य व्यक्तित्व और अनुकूल सम्बन्ध है। व्यक्तिगत होने के कारण यह स्वायत्त होती है। भाव का दूसरा रूप वह है जो व्यक्ति में आसित और प्रवृत्ति से प्रेरित होते हुए भी इनके स्वायत्त में सीमित नहीं है। भौतिक पदार्थ एवम् प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ इनके उपकरण और निमित्त बन सकते हैं। किन्तु इनका कठोर स्वायत्त उस भाव के स्वरूप का नियामक नहीं है। भाव का यह रूप व्यक्तित्व की ओर से प्रेरित उन्मीलन नहीं होता। किन्तु

व्यक्तित्व का स्वाध धीर सीमा का प्राग्रह इनमें नहीं होता । बुद्धि धीर विचार स्वरूप धीर धीर दूगरे दोनों के व्यक्तित्व की धीर से उन्मीलन रहते हैं । किन्तु यह उदासीनता धाव्यय रूप से व्यक्तित्व की अपेक्षा धीर उन्मीलन तिरस्कार नहीं है । व्यक्तित्व के प्राग्रह की भाँति व्यक्तित्व की अपेक्षा भी विपरीतता का कारण है । बुद्धि की समता प्राग्र धीर अपेक्षा दोनों से प्रतीत होने के कारण है । इसी समता से व्यक्तित्वों का सामञ्जस्य धीर समात्मभाव की साधना निहित रहती है । बुद्धि की निरपेक्ष उन्मीलनता से भिन्न धीर विपरीत रूप प्राकृतिक प्रवृत्तियों का है । वे स्वाधमय होती हैं । यह स्वाध व्यक्तित्व का धनुराग धीर प्राग्रह के रूप में प्रकट होता है । बुद्धि की उन्मीलनता धीर समता व्यक्तित्व के इस धनुराग की मर्यादित तथा इस प्राग्रह की मद कर सकती है । यह व्यक्तित्वों के सामञ्जस्य का भाग है । इस सामञ्जस्य में ही सामाजिक शान्ति धीर धान्द का सूत्र निहित है । किन्तु बुद्धि धीर विचार में उदासीनता के कारण इस सामञ्जस्य की सजीव प्रेरणा नहीं है । बुद्धि विरक्त है । नीतराग होने के कारण बुद्धि में प्रवृत्ति के समान प्रेरणा नहीं है । इसीलिए विचारजीवी व्यक्ति क्रिया की धीर से उदासीन होते हैं । इसीलिये वे साधारण कार्यों से भी अधिकतम सेवा धीर सुविधा की भाँगा करते हैं । इसीलिए विचारों के प्रतिपादन धीर उपदेग समाज में कार्यावित नहीं हो सके उपदेग मुनाकर धीर सोता सुनकर सन्तुष्ट रहते हैं । ज्ञान वह धन धन म मूल्यवान् है । धन वह धनने स्वरूप में ही सन्तुष्ट रहता है । वह धीरधो की ही नहीं ज्ञानी उपदेगधो की भी बुद्धि द्वारा प्रकाशित भादगों की धरिताय करने की प्रेरणा बहुत कम देता है । इसका परिणाम यह होता है कि बुद्धि का भादर करते हुए भी मनुष्य दूसरों के व्यक्तित्व का बहुत कम भादर करता है । ज्ञानियों में ज्ञान का भादकार धीर दूसरों के व्यक्तित्व का धनादर सबसे अधिक होता है । कारण यह है कि व्यक्तित्व के प्रति उदासीनता बुद्धि धीर विचार का लक्षण है । किन्तु दूसरी धीर धनने व्यक्तित्व का भादकार धीर मोह मनुष्य का प्राकृतिक स्वभाव है । इस स्वभाव का प्राग्रह ज्ञानियों में भी रहता है । पश्चिमी संस्कृति में जहाँ एक धीर धन्यन्त गम्भीर धीर परिष्कृत विचार का विकास होता रहा है वहाँ दूसरी धीर जीवन में प्रवृत्ति धीर प्रवृत्ति की प्रेरणा प्रमुखतः काम करती रही है । भारतीय संस्कृति के विधायकों ने मूल रूप में प्रकृति की स्वाधमय भावना धीर ज्ञान की उदासीनता दोनों से भिन्न किन्तु दोनों से सागत एक अपूर्व भाव की जीवन में प्रतिष्ठा की थी । किन्तु बुद्धि में मनुष्य की अधिक रुचि होने के कारण उपनिषदों का धान्द धीर धनो का ही विस्तार अधिक हुआ है । वेदान्त का मध्यमन

और उत्पन्न करते हुए भी लोग प्रवृत्ति में अधिक लीन रह। प्रकृति के आग्रह व कारण ही दाना ॥ परस्पर विरोध और संघर्ष रहा।

प्रकृति के व्यक्तिगत स्वायत्त तथा बुद्धि की उदासीनता का सामंजस्य उस भाव में होता है जो दूसरी क व्यक्तित्व क प्रति बुद्धि व समभाव से प्रेरित होकर आत्मोन्नति की सरसता से अनुप्राणित होता है। भाव का धर्म सत्ता भी है। क्योंकि भू धातु और उसका रूपा में उदासीन सत्ता क प्रतिरूप गति और क्रिया का भी अन्तर्भाव है। भू का भाव 'मत्त' क समान केवल उदासीन सत्ता का नहीं है। वह केवल अस्तित्व की ही नहीं बल्कि अस्तित्व को आकार देने वाली शक्ति और क्रिया की भी सूचना है। क्रिया का संबंध तो धातु के रूपों में ही निहित है। 'भवति' का अर्थ केवल है नहीं है परन्तु भवति होना है के क्रियात्मक धर्म की वाचक है। इस दाने की क्रिया व पीछे शक्ति भी अन्तर्निहित है। शक्ति के बिना क्रिया संभव नहीं है। मत्त 'मत्त' का उदासीन सत्ता व विपरीत भू का क्रिया के संवेत और गति व अन्तर्भाव से सम्पन्न है। यही गति धर्म तन्त्रों का सत्ता गति है जिसके द्वारा विषय रूपों की रचना होती है। भाव गति का रचनात्मक रूप है। केवल उदासीन सत्ता भी शक्ति के बिना संभव नहीं हो सकती। शक्ति व द्वारा ही कोई अपनी सत्ता को स्थिर रख सकता है। इसी प्रकार चेतना के सम्बन्ध में भाव का धर्म उदासीन गान नहीं है। उदासीन ज्ञान केवल निरपेक्ष दृष्टि है वह सृष्टि नहीं है। दान की शक्ति इसका भी मूल में रहती है। किन्तु भाव का अभिप्राय केवल दान की गति नहीं है जो न रचनात्मक है और न सार्वभौमिक, ज्ञान वीतराग है। वह अपने आप में पवित्र और उज्ज्वल है। किन्तु राग की सरसता और सृजन की महिमा उसमें नहीं होती। बाहरी और भीति निर्माण में ही नहीं, आन्तरिक निर्माण में भी उदासीन गान प्रेरणा नहीं बन पाता। इसीलिए शास्त्रों की रचना और गानिया के उपरान्त मनुष्य समाज को आदर्शों के अनुकूल बनाने में सफल नहीं हुए। उदासीन ज्ञान में क्रिया की शक्ति और आचार की प्रेरणा नहीं है। इसीलिए दार्शनिक सिद्धान्तों के द्वारा विद्वान् में कोई रचनात्मक कान्ति नहीं हुई। स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है। इसे चाह स्पष्ट ग दो में लोकमान्य तिलक ने ही पहली बार कहा हो किन्तु मनुष्य ही नहीं पशु भी सदा स्वतन्त्र रहने का प्रयत्न करता है। बासक भी गोद से उतर कर स्वच्छन्द रूप से खेलने में प्रसन्न रहता है। सामाजिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता व आदर्शन भी नेताओं व सक्रिय नृत्त्व और उनकी सजीव प्रेरणाओं से प्रारम्भ हुए। बुद्धि और गान

का प्रकाश मात्र जनक लिए पर्याप्त नहीं था। ज्ञानाभा की मन्त्रीय प्राण प्रेरणा ने ही जनता को जागरित और उत्साहित किया। पराधीनता जनता की प्राकृतिक सुविधाओं का हनन करती है। धन स्वतंत्रता की धारागात्र का पीछा प्रकृति की प्रेरणा भी रहती है। प्राकृतिक सुविधाओं की सहज प्रेरणा ही साम्यवादी छात्रियों की मूल शक्ति रही है। इसा शक्ति का आधार पर साम्यवादी जनता जा रहा है। मजदूरी रोगी और सुविधा का अधिकारों का लिए आन्दोलन करते हैं। वे साम्यवाद का सामाजिक राजनीतिक और दार्शनिक सिद्धांत को नहीं समझते। प्रकृति की प्रेरणा का अवलंब लेकर ही धर्म और अध्यात्म की बाहरी व्यवस्थाएँ लोगों को आकर्षित करती हैं। किन्तु वे अवलंब ही धर्म और अध्यात्म को अपने लक्ष्य से भ्रष्ट करते हैं। ज्ञान के द्वारा प्रकाशित धर्म और अध्यात्म का तत्त्व अपने उदासीन स्वभाव का प्रभाव से जीवन की प्रेरणा नहीं बन पाता। शक्ति की शक्ति बढ़ावा की धमकनता और ईसाई धर्म की निष्कलता के ये ही कारण हैं। इस्लाम की जो कुछ भी सफलता हुई उसका मूल कारण उसके धार्मिक तत्व नहीं बल्कि प्राकृतिक अवलंब हैं जो इस्लाम का धार्मिक अभियानों की प्रेरणा बना। इस धार्मिक अभियानों में प्राप्त होने वाले धन व भव वगैरह आदि इस लक्ष्य के प्रमाण हैं।

अस्तु तात्पर्य यह है कि क्रिया की प्रेरणा और शक्ति मूलतः प्राकृतिक प्रवृत्तियों में है। ये प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ स्वायत्त हैं। इसीलिए बिना किसी उपदेश और शिक्षा के भी सत्य से मनुष्य की प्रवृत्ति स्वायत्त साधन में रही है। धर्म और अध्यात्म के उपदेशों के अभीष्ट लक्ष्य और आदर्शों की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति बड़ी शिक्षा और प्रेरणा का बाद भी बठिनाई से होती है। इसका कारण यही है कि ज्ञान रूप से उदासीन होता है। उसमें प्रकाश होता है किन्तु प्रेरणा नहीं होता। प्रकृति में सहज प्रेरणा होती है। किन्तु उसकी प्रवृत्ति स्वायत्त में ही होती है प्रकृति से प्रेरित होकर मनुष्य जो कुछ करता है वह अपने सुख के लिए ही करता है। ज्ञान के उपदेश पराधीन और परमाय का उच्च लक्ष्यों को प्रकाशित करते हैं। किन्तु उदासीन ज्ञान में हमारे जीवन का इन लक्ष्यों की ओर प्रगतिशील बनाने की प्रेरणा और शक्ति नहीं होती। ज्ञान भी चेतना का भाव है क्योंकि चेतना अपनी प्रकाशमयी शक्ति से ज्ञान का रूप में साकार होती है। किन्तु ज्ञान का उदासीन भाव उस सामाजिक को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है जिसमें प्रकृति के व्यक्तिगत स्वायत्त के आधार पर दूसरों का साथ आत्मीयता का सरस और समभाव प्रतिष्ठित होता है।

बुद्धि और ज्ञान की उदासीनता उनके निर्वैयक्तिक स्वरूप के कारण समभाव का मूल अवश्य है किन्तु बुद्धि और ज्ञान इस समभाव को रस से ग्रहित नहीं कर सकते। रस राग का स्फोट है। प्राकृतिक यक्तिगत और स्वायम्भ राग माह कहलाता है। प्रकृति की प्रेरणाएँ इस मोह से ही मधुर बनती हैं। बुद्धि और ज्ञान वातराग होते हैं। वे प्रकृति व राग से अतीत होते हैं। किन्तु उनमें राग का कोई भ्रम उत्कृष्ट रूप में नहीं होता। भाव की सरसता प्रकृति के मोह और ज्ञान की उदासीनता निर्वैयक्तिक है। अपने स्वरूप में वे अपने और दूसरों के यत्नित्व से समान रूप से निरपेक्ष हैं। वे यत्नित्व की धारणा से ग्रहीत हैं। किन्तु भाव इन दोनों से विलक्षण है। वह न उस एकांत सभन में है जिसमें प्रकृति कृत्या ही सकती है और न उस निर्वैयक्तिक उदासीनता में सम्भव है जिसके मूल आकाश में ज्ञान का मूल प्रकाशित होता है। यह यत्नित्व का उस अनेकता और पारस्परिकता में अनुष्ठित होता है। जिसमें प्रकृति का राग केवल स्वाय का मोह नहीं रहता, जिसमें प्रकृति के स्वायम्भ प्रवाह समता के सगम में मिलते हैं और जिसमें प्रकृति के राग स्वाय का आघातों में रहते हुए भी एक प्रपूर्व रस मागर व अनन्त कलों पर उच्चतर भय और सौन्दर्य के सितियों का स्पष्ट करते हैं। इस समभाव के रस और सौन्दर्य में प्रकृति के स्वाय और राग विलीन नहीं हो जाते। किन्तु स्वाय की सीमाएँ विरोध का कारण नहीं बनती। इन सीमाओं के विस्तार एक आन्तरिक आत्म भाव दूसरे व्यक्तियों में हाते हैं और प्राकृतिक घरातलों पर सांस्कृतिक सौन्दर्य के नव-नव पथ रचते हैं।

रसमयी सप्रकृति का यह भाव प्रकृति के समान स्वाय में सीमित नहीं होता, यद्यपि उसमें प्रकृति की सी ही प्रेरणा रहती है। दूसरी ओर वह बुद्धि और ज्ञान के समान व्यापक तथा उदार होता है किन्तु इसमें इनकी उदासीनता नहीं होती। प्रकृति की प्रेरणा और बुद्धि की उदारता का इस भाव में प्रपूर्व सगम है। किन्तु साथ ही वह प्रकृति की स्वायम्भता और बुद्धि का उदासीनता दोनों से मुक्त है। आत्मा का भाव होने के कारण यह घरीर मन भ्रंश, बुद्धि आदि सबकी भूमियों में घात रहता है। किन्तु यह किसी की सीमाओं में निबद्ध नहीं है। इसीलिए हम आत्मा का भाव कहना अधिक उचित है। समानभाव इसकी उपयुक्त सत्ता है। समता इसका सदाण है। समता के सदाण से युक्त यह आत्मा का वह विलक्षण भाव है जो घरीर मन भ्रंश और बुद्धि की भूमियों में व्याप्त होता है और साथ ही अपने विलक्षण स्वरूप में भी प्रतिष्ठित रहता है। इस भाव की स्वरूपगत स्वतन्त्रता का प्रमाण

का प्रकाश मात्र उनके लिए पर्याप्त नहीं था। तात्पा की मज्जीव प्राप्ति प्रेरणा ने ही जनता को जागरित और उत्साहित किया। पराधीनता ज्ञान की प्राकृतिक सुविधाओं का हान करती है। अन्तःस्वतन्त्रता की प्राप्ति का प्रेरणा भी रहती है। प्राकृतिक सुविधाओं की सहज प्रेरणा ने साम्यवादी आतियों की भूल दृष्टि रहो है। इसी दृष्टि का आधार पर साम्यवाद फैलता जा रहा है। मजदूरों रोने और सुविधा का अधिकारों के लिए आन्दोलन करत हैं। वे साम्यवाद का सामाजिक राजनीतिक और दार्शनिक सिद्धांतों को नहीं समझते। प्रकृति की प्रेरणा का अर्थलभ्य लेकर ही धर्म और अध्यात्म की बाहरी व्यवस्थाएँ लोग को आवर्षित करती है। किन्तु ये अर्थलभ्य ही धर्म और अध्यात्म को अपने लक्ष्य से भ्रष्ट करत हैं। ज्ञान के द्वारा प्रकाशित धर्म और अध्यात्म का तत्त्व अपने उदासीन स्वभाव का प्रभाव से जीवन की प्रेरणा नहीं बन पाते। भक्ति की भाँति वदन्त की असफलता और ईसाई धर्म की निष्फलता के ये ही कारण हैं। इस्लाम की जो कुछ भी सफलता हुई उसका मूल कारण उसके धार्मिक तत्त्व नहीं बल्कि प्राकृतिक अर्थलभ्य हैं जो इस्लाम का धार्मिक अभियानों की प्रेरणा बना। इस धार्मिक अभियानों में प्राप्त होने वाल धन वभव यंग विलास आदि इस लक्ष्य के प्रमाण हैं।

अस्तु तात्पर्य यह है कि क्रिया की प्रेरणा और शक्ति मूलतः प्राकृतिक प्रवृत्तियों में है। ये प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ स्वाधमयी हैं। इसीलिए बिना किसी उपदेन और गिना का भी सन्तान मनुष्य की प्रवृत्ति स्वाध साधन में रही है। धर्म और अध्यात्म का उपदेन के अभीष्ट लक्ष्य और आत्यों की और मनुष्य की प्रवृत्ति बड़ी गिदा और प्रेरणा का बाद भी कठिनाई से हाती है। इनका कारण यही है कि ज्ञान रूप से उदासीन होना है। उसमें प्रकाश होता है किन्तु प्रेरणा नहीं होती। प्रकृति में सृज प्रेरणा होती है। किन्तु उनकी प्रवृत्ति स्वाध में ही होती है प्रकृति से प्रेरित होकर मनुष्य जो कुछ करता है वह अपने सुख के लिए ही करता है। ज्ञान के उपदेन पराध और परमाध का उच्च लक्ष्य की प्रकाशित करत हैं। किन्तु उदासीन ज्ञान में हमारे जीवन का इन लक्ष्य की ओर प्रवृत्तिगत बनाने की प्रेरणा और शक्ति नहीं होती। ज्ञान भी चेतना का भाव है क्योंकि चेतना अपनी प्रकाशमयी शक्ति से ज्ञान के रूपों में साकार होती है। किन्तु ज्ञान का उदासीन भाव उस सामयिक को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है जिसमें प्रकृति के यत्तिगत स्वाध का आधारों पर दूसरों का साथ आत्मीयता का सरस और समभाव प्रतिष्ठित हाता है।

बुद्धि और ज्ञान की उदासीनता उनका निर्वैयक्तिक स्वरूप के कारण समभाव का भूत अवश्य है किन्तु बुद्धि और ज्ञान इस समभाव को रस से अक्षित नहीं कर सकते। रस राग का स्फोट है। प्राकृतिक यत्नित और स्वाधमय राग माह कहलाता है। प्रकृति की प्रेरणाएँ इस माह से ही मधुर बनती हैं। बुद्धि और ज्ञान भीतराग हान हैं। वे प्रकृति के राग से अतीत हान हैं। किन्तु उनमें राग का कोई अंश उत्कृष्ट रूप भी नहीं होता। भाव की सरसता प्रकृति के माह और ज्ञान की उदासीनता निर्वैयक्तिक है। अपने स्वरूप में वे अपने और दूसरों के व्यस्तित्व में समान रूप से निरपेक्ष हैं। वे व्यस्तित्व की धारणा में अतीत हैं। किन्तु भाव इन दोनों से विलक्षण है। वह न उन एकांत सभब में है जिसमें प्रकृति कृताय हा सकती है और न उस निर्वैयक्तिक उदासीनता में समभव है जिसके मूल्य आकाश में ज्ञान का सूक्ष्म प्रकाशित होता है। यह व्यस्तित्व की उभय अनङ्गता और पारस्परिकता में अनुष्ठित होता है। जिसमें प्रकृति का राग कवन स्वाध का माह नहीं रहता जिसमें प्रकृति के स्वाधमय प्रवाह समता के सगम में मिलते हैं और जिसमें प्रकृति के राग स्वाध के आधारा में रहते हुए भी एक अनूप रस-सागर के अन्तर्गत सभी पर उच्चतर यम और सोदय के नितिजों का स्पन्द करत हैं। इस समभाव के रस और सोदय में प्रकृति के स्वाध और राग विनाश नहीं हो जाता। किन्तु स्वाध का सोमाएँ विराग का कारण नहीं बनती। इन सोमाग्रा के विस्तार एक अन्तर्गत रस आत्म भाव दूसरे व्यक्तियों में हात हैं और प्राकृतिक घरातलों पर सांस्कृतिक सोदय के नव-नव यम रखते हैं।

रसमयी सप्रकृति का यह भाव प्रकृति के समान स्वाध में सीमित नहीं होता यद्यपि उसमें प्रकृति की सी ही प्रणा रहता है। दूसरी धार वह बुद्धि और ज्ञान के समान व्यापक तथा उत्तर होता है किन्तु इनमें इनकी उदासीनता नहीं होती। प्रकृति की प्रेरणा और बुद्धि की उत्तरता का इस भाव में अनूप सगम है। किन्तु साथ ही वह प्रकृति की स्वाधमयता और बुद्धि का उदासीनता दोनों में युक्त है। आत्म का भाव ज्ञान के कारण यह गरीर मन पहचान बुद्धि मानि सबकी भूमियों में व्याप्त रहता है। किन्तु यह विषयी का सीमाओं में निबद्ध नहीं है। इसीलिए इन आत्मा का भाव कहना अक्षिप्त उचित है। मयात्मभाव इसकी उपयुक्त मना है। समता इसका सगम है। समता के सगम से युक्त यह आत्मा है। वह विसंगम भाव है जो गरीर मन पहचान और बुद्धि की भूमियों में व्याप्त होता है और साथ ही अपने विरक्षण स्वरूप में भी प्रतिष्ठित रहता है। इस भाव की स्वरूपगत स्वतन्त्रता का प्रमाण

यह है कि जिग भूमियों में यह व्याप्त रहता है उसी प्रकार के संस्कार
 देकर उत्पन्न और परिष्कृत बनाता है। इंगीलिश इसे संस्कृति का मूल भाव
 मानता उचित है। उन्मासान सत्ता और उदासीन ज्ञान का मिश्र सक्रियता और
 सृजनात्मकता इस भाव का साक्ष्य हैं। समता के सामाजिक अर्थ में सक्रियता
 और सृजनात्मकता के भाव भी समाविष्ट हैं। साथ तबों में सम का अर्थ
 साम्य का भाव से है जो निष्पन्नता अविच्छिन्नता सन्तुलन सामञ्जस्य समानता
 आदि अनेक भावों का मूकक है। इनमें कई भावों का मुख्य पद स्वयं सम
 के उपसर्ग से युक्त है। अतः यह एक प्रकार की पुष्टि है। समानता अथवा
 बराबरी सम का सबसे सरल और मुख्य भाव है। समानता की प्रायः बाहरी
 दृष्टि से देखते हैं क्योंकि बाहरी विषमता से अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं।
 अनर्थों को जन्म देने वाले बाहरी विषमताएँ भी मिटाने योग्य हैं। एतद्वि-
 मिटाने के लिए समाज का इतिहास में सदा क्रांतियाँ होती रहा। किन्तु इन
 अनर्थों के मिट जाने पर भी जगत और समाज में अनेक विषमताएँ रहती हैं।
 ये विषमताएँ अमंगलकारी नहीं हैं। इसके विपरीत समाज के मंगल और
 सौन्दर्य को बढ़ाने में इनका बहुत योग्य रहता है। मदान से लेकर पक्ष
 गिरों तक का उतार चढ़ाव सौन्दर्य का ही नहीं मंगल का भी कारण है।
 वर्षा के अतिरिक्त और भी अनेक कल्याणकारी व्यवस्थाएँ उस पर निर्भर हैं।
 वृक्षों और जीवों के शरीर विघात में भी अनेकों का उतार चढ़ाव है। सम
 होने पर वह का यह सो दय न होता। नारी के शरीर का सौन्दर्य तो प्रमुखतः
 अनेकों की प्रतिपक्ष विषमता पर ही अवलम्बित है। कला और काव्य में अनेक
 विषमता के सौन्दर्य का बहुत गौरव मिला है। यह सत्य है कि बाहरी विष-
 मता जगत का व्यवस्था और शरीर की रचना दोनों में ही सौन्दर्य और श्रेय
 का विधान करती है। किन्तु श्रेय और सौन्दर्य के विपरीत होने पर यह
 विषमता मिटाने योग्य है। साथ ही यह भी महत्वपूर्ण है कि समता की भूमि
 पर ही यह बाहरी विषमता मिटाने योग्य है। साथ ही यह भी महत्वपूर्ण है कि
 समता की भूमि पर ही यह बाहरी विषमता मंगल और सौन्दर्य का विधान
 कर सकती है। अतः बाहरी दृष्टि से भी समता की भूमि पर ही यह बाहरी
 विषमता मंगल और सौन्दर्य का विधान कर सकती है। अतः बाहरी दृष्टि से
 भी समता की भूमि का मौलिक महत्व है। इनका भी वे रूप स्पष्टणीय हैं जो
 मंगल और सौन्दर्य का साधक हैं। इतक अमंगलकारी रूप व्यक्ति और समाज
 के राग तथा विकारों के रूप में निकलते हैं।

किन्तु समता का वास्तविक स्वरूप आन्तरिक है। वह दो प्रपञ्च

अग्नि सत्ताओं की बाहरी अथवा परिग्रह्य तुल्यता न होकर एक आंतरिक और अदृश्य भाव है। जहाँ बाहरी रूप की तुल्यता इतना मुख्य अंग नहीं है वहाँ बाहरी रूपों की अंगगत्कारी विषमता भी उसकी छातक है। इसीलिए भौतिक साधन शरीर सुख मानसिक स्वतंत्रता व्यक्तिगत अधिकार आदि की समानता प्राप्त करने के लिए समाज में क्रांतियाँ होती हैं। किन्तु अंगगत्कारी हान पर ही ये विषमताएँ मिटाने योग्य हैं। अथवा इन विषमताओं में ही जीवन के मगन के सूत्र और सौंदर्य के स्रोत हैं। स्त्री और पुरुष, गुरु और शिष्य आदि की शारीरिक तथा मानसिक विषमताएँ विषमता के उन रूपों के उदाहरण हैं जो समाज के अथवा और सौंदर्य के भौतिक आधार हैं। आंतरिक और स्वतंत्रता समता का इस विषमता से कोई विरोध नहीं है क्योंकि दोनों का लक्ष्य समान रूप से समाज का मगन और सौंदर्य है। समत्व का यह आंतरिक भाव समता और विषमता के विविध बाह्य रूपों में सम्पन्न होता है। भाव हो वह अपने स्वतंत्र स्वरूप में भी प्रकाशित होता है। माता-पुत्र पिता-पुत्र पति-पत्नी गुरु-शिष्य आदि अनेक सम्बन्धों में भी विषमता में समत्व का भाव अत्यंत सुन्दर और अमूल्य रूप में स्फुटित होता है। सत्ता की इकाई अथवा समानता इस समत्व के भाव का आवरणक अंग नहीं है। बर्दानित यह उस भाव की बाधक हो। इकाई की एकता में तो समता और विषमता का प्रश्न ही उठना कठिन है। इसीलिए ब्रह्मवाणी दोनों में सृष्टि के प्रपञ्च और समाज के अनेकों की व्याख्या करना कठिन हो जाता है। अतः इकाई की समता का प्रश्न इकाईवादी की अनेकता में ही उठता है। उदासीन सत्ता की स्थिति में अनेक इकाईवादी की विषमता होते हुए भी कोई महत्त्व नहीं रखती। जान भा उदासीन है। यह भी सत्ता के अथवा अपने रूपों की विषमता का विवेक करके ही कृतार्थ हो जाता है। अतः समता केवल अस्तित्व अथवा ज्ञान का भाव नहीं है बल्कि यह एक सक्रिय गृहणात्मक आंतरिक स्वरूपगत और स्वतंत्र भाव है, जो मगन और सौंदर्य के लिए समता की भूमि पर विषमता की रचना करता है और विषमताओं के बीच समता का अनुसंधान करता है। तत्त्व शास्त्र की दृष्टि से मूल तत्त्व का समभाव अपने स्वरूप के साथ और उसकी समृद्धि के लिए ही सृष्टि में निरंतर आकार होता है। अध्यात्म साधना की दृष्टि से अनुरूप विषमताओं के बीच इसी समता का अनुसंधान करने कृतार्थ होता है। तत्त्व, शास्त्र और अध्यात्म दोनों में आवरणक और उचित हुए भी इकाई का आधार रहता है। अतः शास्त्र एक ही तत्त्व से सृष्टि का विस्तार मानता है। उस तत्त्व की समता के आधार में विषमता का स्फोट होता है। अनेक दर्शन इस स्फोट के पीछे

एक अतनिहित शक्ति की प्रेरणा मानते हैं। यह धीरे धीरे दर्शना में मू
 मिश्रित अधिक स्पष्ट है। किन्तु ऐसा मानने पर एक इकाई की ओर कल्पना
 संचित हो जाती है। शिव (सत्य) धीरे शिव को अभिन्न तथा उनका भाव
 को धृति मानते हुए भी शक्ति का धारणा उनमें सामू नहीं होता। इकाई
 एक दूसरे से भिन्न होती है। शिव धीरे शक्ति अभिन्न है। ये दोनों मिलकर
 भी शक्ति का निमाण नहीं करते। समस्त भिन्न इकाई का सम्बन्ध नहीं
 है। उसे अभिन्नो का आन्तरिक भाव कह सकते हैं। शक्ति शक्ति का धार
 मुख्य भाव है। शक्ति शिव की ही मुख्य स्फूर्ति है। तबों में इसी शक्ति का
 कला सुन्दरी आदि नामों से पुकारते हैं। यह धन रूप शक्ति का मीमांसा का
 विधान करती है। किन्तु इस विषयता में शिव धीरे शक्ति का सामरस्य अल
 दित रहता है। यह अविक्रियता अविकलता, अविरोध आदि के अर्थ में
 साम्य की अवस्था है। इन इकाई की बाहरी अवस्था आन्तरिक समता नही
 कह सकते हैं। दूसरी ओर अध्यात्म की साधना भी साधक की इकाई को मानकर
 चलती है। इकाई वस्तुन सत्ता का भाव है। उसमें मृगत धीरे क्रिया का
 भाव नहीं होता। इसीलिए साधना के माग में बहुत मद प्रेरणा रहती है।
 अध्यात्म के वास्तविक माग में साधकों की वास्तविक प्रगति बहुत कम होती
 है। इनमें अधिकांश प्रकृति की प्रवृत्तियों और आतियों में ही उलझे रहते
 हैं। साधक की इकाई धीरे साधना के एकांत की मानकर ही अध्यात्म
 अमकल हुआ। इसी प्रकार ब्रह्म अवस्था इश्वर की इकाई मानकर तब गाल
 धीरे धर्म गाल कठिनाइयों से आपन हुए। शक्तियों की तुल्यता केवल गलित
 धीरे विज्ञान का सिद्धांत है। इकाई के स्वागत रूप धीरे परिमाण में
 प्रकृति साकार होती है। किन्तु तुल्य परिमाणों में प्रकृति का जड़ रूप ही
 अधिक मिलता है। जीवित रूप में प्रकृति इकाई की विषयता में ही अपने
 सौम्य की रूप देती है। प्रत्येक जीव की आकृति दूसरे से भिन्न है। प्रकृति
 के जड़ रूपों में भी विषयता ही अधिक मिलती है। जड़ रूपों में भी इकाई
 की बाह्य तुल्यता अनुष्य उत्पन्न करता है। जीव में अनुष्य का एतना अधिकार
 नहीं है। अनधिकार चेष्टा में अनुष्य जीवों की हत्या कर सकता है। किन्तु
 यह वह है तुल्य इकाई का रूप नहीं दे सकता। आन्तरिक दृष्टि से अध्यात्म
 न साधकों की शक्तियों की तुल्यता स्वीकार की है। यह अध्यात्म धीरे
 सत्कृति का बहुत सही सिद्धांत है। साम्यवादी धीरे जनतम दोनों इसी पर
 आधारित हैं। किन्तु राजनीति के उदासीन सिद्धांत के रूप में इसे मानना
 व्यक्तित्व की इकाई को केवल सत्ता के उदासीन आधार पर ही ढो देना है।

समता के स्वरूपगत और आन्तरिक भाव का आरम्भ इकाई की सीमा और परिधि में नही होता । एक इकाई का आन्तरिक साम्य निष्पन्न और निष्कल है । अध्यात्म की निष्कलता इसका प्रमाण है । अनेक इकाइयों का पृथक् मानकर उनकी बाह्य ध्येयवा आन्तरिक तुल्यता में भी समता का भाव सम्पन्न नही होता । किसी सामान्य नव सजीव और सचेतन इकाइयों को मानकर विषमता के कारणों का निर्धारण और निवारण किया जा सकता है । इस निवारण से सचेतन इकाइयों का आन्तरिक साम्य बर्णा इसमें सन्देह नहीं । किन्तु इकाई की सीमा में रहकर ही चेतना वृत्ताय नही हो सकती । अध्यात्मवादी के तक समस्त परिमय इकाइयों की चेतना का विषय मानकर चेतना को उससे अतीत मानने हैं । समस्त परिच्छिन्नो से अतीत होने के कारण आत्मा अनन्त है । किन्तु इस अनन्त की भी कल्पना इकाई के रूप में करने पर समता का धर्म बल आन्तरिक साम्य रह जाता है । तत्त्व शास्त्र के मूल सिद्धांत की दृष्टि से इसमें जो कठिनाइयाँ हैं वे सृष्टिवादा में प्रकट होती हैं । अध्यात्म के आरोह क्रम की मद्गति और एतिहासिक निष्कलता इकाई के आन्तरिक साम्य की दूसरी विडम्बना है । अस्तु समत्व का वास्तविक रूप इकाई और एकांत के आग्रह को छोड़कर तथा उनसे उत्पन्न उदासीनता से मुक्त होकर अनन्तत्व के सक्रिय और सृजनारम्भ समभाव में ही मिल सकता है । इन अनेकों में बाह्य और आन्तरिक विषमता होने हुए भी अनुत्पत्ता नहीं है । इकाइयों के परिमाण की दृष्टि से अनुत्पत्ता, आकार और परिमाण का अनन्तर है । किन्तु जीवन की दृष्टि से वह अनादर और गौरव का भाव है । अनन्त समत्व के भाव की पहली कसौटी यह है कि व्यक्तियों के परस्पर संबंध में कहीं भी अनादर और अगौरव का लक्षण न हो । परस्पर आदर और गौरव में ही समत्व का भाव सम्पन्न होता है । गिव गति की कला को समत्व पर धारण करते हैं । पावती उनकी सेवा करता है । एक और लक्ष्मी का मामन विष्णु के वक्ष पर है तो दूसरी और वे उनके चरण भगती है । आत्मीयता के कारण समत्व में अनन्तर के लिए स्थान नही है । उसमें गौरव और आदर का असीम उत्साह है । इसी गौरव में अनेक विषमताओं में समता का आत्मीय और आन्तरिक भाव सम्पन्न होता है । इस समता के भाव के लिए अनेकना आवश्यक है । किन्तु यह अनन्तता बढोर इकाइयों की अनन्तता नहीं है । बढोर इकाइयों की एकता में आन्तरिक और आत्मीय भाव की समता नहीं हो सकती । उनमें बाह्य तुल्यता की समता ही सम्भव है । इकाई का आग्रह समभाव की सम्भावना का

पातक है। इकाई की जठोरता जीव जगत में स्वाय की जठोर बनानी है। स्वाय का धर्म स्व' की धारणा पर निर्भर है। अतः यह व्यापन भी हो सकता है। किंतु साधारण अर्थ में उसकी धारणा और गति अपनी ओर ही होती है। यह संकोच की गति है विस्तार की गति नहीं।

मनुष्य का मचेतन व्यक्तित्व पूणतः जठोर और ऐंगी संकोचशील इकाई नहीं है। उसका शरीर की ध्वनन बिभाए तो पूणतः स्वायमय है। इस स्वायमय गति से ही शरीर का विकास होना है। अतः यह स्वाय भी सृष्टि के मंगल का मांग है। शरीर के विकास और पापण पर ही विश्व का समस्त उन्नयन और सांस्कृतिक मूल्य अवलंबित हैं। कुमार सम्भव में शिव ने सत्य ही कहा है कि शरीर ही धर्म का साध साधन है। किंतु शरीर की गति भी पूणतः स्वायमय नहीं है। उसकी सम्बन्धनायें दूसरी इकाइयाँ की ओर अभिमुख होती हैं और उनका साथ सामजस्य में मूल्य प्राप्त करती हैं। चेतना का भीतर शरीर में दूसरों के साथ सम्पर्क और सामजस्य की आकांक्षा और भी अधिक तीव्र होती है। यह सामजस्य स्थूल और बाहरी इकाइयों के सम्पर्क के समान कवल संपाद नहीं है। संयोग में जा इकाइयाँ मिलती हैं प्रायः उनका अपना रूप अलग ही बना रहता है। यह संयोग एक अनिधि मात्र है। किंतु चेतना कोई भौतिक और स्थूल पदार्थ नहीं है। उसका कोई जठोर इकाई रूप नहीं होता। व्यक्तित्व के ग्रहबोध में एक अनिधित केन्द्रीयता अवश्य होती है। किन्तु ग्रहबोध का यह केंद्र सूक्ष्म केंद्र के भौतिक सदा अपने तेज का विस्तार और विकीरण करता रहता है। चेतना के इस अनिधित बिंदु का विलय होना चेतनाओं के सम्मिलन के लिए आवश्यक नहीं है। इस बिंदु के रहते हुए भी (वरन् यह कह सकते हैं कि रहते हुए ही) चेतनाओं के सम्मिलन में भाव की समृद्धि और स्फूर्ति का आनंद उदित होता है। केवल व्यक्तित्व की इकाई का स्वायमय और संकोचशील आग्रह इस सम्मिलन के आनंद का बाधक है।

अस्तु चेतना के भाव क्षेत्र में इकाइयों का आग्रह और विलय दोनों स विलक्षण रूप में चेतनाओं का सम्मिलन होता है। मत्ता की इकाई और ज्ञान की निर्व्यक्तित्वता दोनों से भिन्न होने के कारण इसे आत्मा का भाव कहना ही उचित है। आत्मा न इकाई में रुद्ध है और न इकाइयों की आग्रह विहीन केन्द्रीयता उसके विस्तार में बाधक है। इस विलक्षण स्वभाव के कारण ही आत्मा रस स्वरूप है। रस का अर्थ आनंद है। किंतु भौतिक

जगत में 'रस' का अर्थ द्रव्य है। जल' को रस कहते हैं। पना धीर वनस्पतियों का द्रव तत्व 'रस' कहलाता है। इस रस का लक्षण यह है कि इसका विस्तार में अनेक इकाइयों का अपना एक विलीन हो जाता है जम बिन्दु सागर में विलीन हो जाते हैं। किन्तु इस विलय में इकाइयों की कठोर सीमाएँ ही खण्डित होती हैं। उनके तत्व नष्ट नहीं होते। वस्तुतः हम जिस द्रव को इकाई मानते हैं वह इकाई नहीं है वरन् अनेक इकाइयों का समुदाय है। हम समुदाय में मूल इकाइयों का रूप भी सुरक्षित रहता है और वे समुदायों की भी जन्म देती हैं। इकाइयों के एक अलक्ष्य रहते हैं और समुदाय ही प्रकट होता है। बिन्दु, सरोवर और नदी के विलय में कबल छूटते समुदाय विलय होकर बड़े समुदायों को जन्म देते हैं। रस का इन छोट बड़े समुदायों में इकाइयों अलक्ष्य और समुदाय ही प्रकट रहते हैं। हमका सकेत यही है कि इकाइयों का मायह रस का स्वरूप अनुभूत नहीं है। फलात् रस में धीर भी अनेक इकाइयों का तत्त्व अलक्षित रूप से मिलकर उस अधिक सुन्दर अधिक स्वादु और अधिक हितकर बनाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य जीवन में भी अलक्ष्य रूप से इकाइयों का रूप रहने हुए सम्मिलित रूप में अभिन्न हो जाते हैं। इकाइयों के नष्ट होने के कारण इन समुदायों की भी कठोर रूप में इकाई नहीं कहा जा सकता। फिर भी सम्मिलित रूप की व्यापकता में ही ये इकाइयों गौरव पाती हैं। हम गौरव में ही इनकी सच्चता महानता के शक्तिज्ञा की ओर बढ़ती है। इस सम्मिलन और विस्तार में ही जीवन का भाव है। चेतनाओं का यह विलक्षण सगम ही समात्मभाव का वास्तविक रूप है।

समात्मभाव आत्मा का समभाव है। अध्यात्मवादी दशम प्राय आत्मा को क्रिया से अतीत और अविकारी मानते हैं। उनकी दृष्टि से समस्त का अर्थ निष्प्रयत्नता और अविकारिता ही है। तब दृष्टि से यह सत्य भी है किन्तु यदि इसी आत्मा से सृष्टि हुई है तो उस ऐसा मानना भी पूर्णतः सत्य नहीं है। हमारे 'आत्मज्ञान'ों में परमतत्त्व की शक्ति अथवा रूप में भी अभिन्न मानते हैं। सृष्टि इस शक्ति अथवा स्वरूप की स्फूर्ति है। इसी का 'बला' कहते हैं। विश्व शिव की बला का विलास है। यह अध्यात्म का अथवा दशम की बात है जिसमें हमारा अधिक अधिकार नहीं है और हमारे ज्ञान की गति भी सीमित है। मनुष्य जीवन की स्थिति में साधना के आरोहण का ध्यान देना ही अधिक उचित है। आत्मभाव को साधना का लक्ष्य मानते हैं। अधिकांश अध्यात्म दशम व्यक्तिगत और एकाग्र साधना में तुरीय और निर्विकल्प आत्मा का साक्षात्कार को ही साधना की कृतायता ही मानते रहते हैं।

हैं। इसे वे ध्यान-मय भी मानते हैं। यह तत्वात् और निरपेक्ष ध्यान है। साधना के इस एकांत और निरपेक्ष माय में विनया की गति हासकी है और विनय उसमें वृत्ताय दृष्ट है। यह कोई भी अपनी ओर देखकर जान सकता है। बढ़ती महारमाओं में भी कोई विरल ही मुक्तों प्राप्त कर सकेंगे। दण्ड बनकर बढ़ात में साधना की अगता भीमामा का मन्त्र अधिष्ठ बढ़ गया। इसका कारण बसल यह है कि आत्मा की एकांत और निष्प्रय साधना बठिन ही नहीं करन् एक आत्म विरोधी बात है। स्वयं प्रजापति को भी अकाल में ध्यान नहीं आया है। मनुष्य उन प्रजापति की ही प्रजा है। उन्हें भी एकांत में ध्यान नहीं आता। एकांत व्यक्तित्व की इकाई का परिच्छेद है जिसकी सीमा में मुक्त नहीं है। आनन्द का उदय इकाई की सीमा के आग्रह को छोड़ कर दूसरी इकाइयों के साथ सक्रिय और मृजनात्मक समात्मभाव में होता है। यह ध्यान रचना आर्त्तिय कि इस आग्रह को छोड़कर इकाइयाँ भौतिक इकाइयों की भाँति बठोर नहीं रह जाती। अतः इसे इकाइयों का समात्मभाव कहना एक उपाय मात्र है। यह आत्मा का समभाव है किम एकाई का बठोर सीमा में बाधा नहीं जा सकता। मनुष्य-जीवन में सचेतन व्यक्तियों के इस समात्मभाव में ही आनन्द है। आत्मा क्रिया और विकार में अतीत है। उस दृष्टि से यह समात्मभाव एक अनन्त भाव है। उपनिषदों की भूभा के आनन्द का यही रहस्य है। किन्तु इस अनन्त रूप की कल्पना जीवन में बठिन है। यदि सम्भव भी हा तो भी यह साधना के अन्त में ही हो सकती है। इसके पूर्व मानव जीवन में इस इन रूपों में ही ग्रहण करना उचित है। जिन रूपों में य सामान्यतः प्राप्त और सम्भव होते हैं। इन रूपों का आकार अनन्त नहीं है क्योंकि साधारण जीवन में अनन्त की धारणा बठिन है। किन्तु य रूप इकाइयों के बठोर परिच्छेदों में सम्पन्न नहीं होते। उपनिषद के अनुसार अल्प में आनन्द नहीं है। वस्तु अथ यही है कि एकाइया के बठोर परिच्छेदों की सीमित और सक्तीयल धृति में आनन्द सम्पन्न नहीं होता। प्रजापति के समान एकांत की स्थिति में प्रत्येक मनुष्य को अकेलेपन की दृष्टता और आनन्दहीनता का अनुभव होता है। इसीलिए स्वतंत्र इच्छा से उसे कोई स्वीकार नहीं करता। विवग होने पर भी यथा सम्भव एकांत को दूर करने का यत्न करता है। यह सम्भव न होने पर कल्पना के द्वारा ही दूसरों का संग प्राप्त करता है। मन से मनुष्य कभी अवेसा नहीं रहता। जब मन में अवेनेपन का कुछ अनुभव होता है तो वह उसे विचलित और लिन रहता है। उसकी अन्ततम आकांक्षा सदा समात्मभाव प्राप्त करने के लिए सचेष्ट रहती है। माता के साथ सभी समात्मभाव में मनुष्य का जन्म होता है।

य के विकास के साथ वह अपने माता पिता भाई बहिन, बचुआ मित्रा मुटुम्बियों परिचितों, ग्राम के साथ समात्मभाव में आत्मा की समृद्धि विभूति का प्राप्त करना चाहता है। चाह अनंत की धारणा जीवन में कठिन हो किंतु आत्मा का भाव सत्ता विस्तार की ओर अभिमुख रहता है। इस विस्तार में अपने अस्तित्व और बोध की कठोर इकाई के आग्रह की छोड़कर दूसरों के भाव के साथ समभाव प्राप्त करना चाहता है। इस समभाव में ही भान के स्फूर्ति होती है। चाहे प्रकृति के स्वायत्त आग्रह इस समभाव के भान को ललित करता रहे फिर भी अपनी चेतना के गहनतम तल में मनुष्य सदा इस बात का अनुभव करता है कि इस समभाव में ही जीवन का सत्य धीरे धीरे निहित है।

विषय और क्रिया से अनीत होने के कारण चाहे आत्मा का तात्त्विक रूप अनंत और अचल हो, किंतु मनुष्य जीवन के व्यवहार में भौतिक उपकरणों के निमित्त और क्रियाओं के प्रसंग में यह समभाव अधिष्ठित सरल और साधारण रूप में स्फुट होता है। आत्मा का निरपेक्ष समभाव जीवन में अचेतन रूप में उसी प्रकार व्याप्त रहता है। जिस प्रकार विश्व में आकाश व्याप्त है। किंतु इस समभाव और अचेतन आनंद के स्फुट रूप सक्रिय और सृजनारम्भ सम्बन्ध में भौतिक उपकरणों के व्यवहार से ही साकार होत हैं। अध्यात्म की गुह्य रूप का आग्रह जीवन से असंगत होने के साथ साथ मयव हाथ और निष्पन्न भी है। जीवन के उपादानों में अध्यात्म का रूप साकार और सफल हाथा है। जीवन सक्रिय है। क्रिया ही जीवन का गति धीरे प्राण है। भौतिक उपकरण जीवन के आवश्यक अवस्तव हैं। सत्ता और योगी भी उनका परित्याग नहीं कर पाते। जीवन के भौतिक उपकरण प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ से निमित्त हैं। प्रवृत्तियाँ स्वायत्त हैं। किंतु ये प्राकृतिक उपकरण और क्रियाएँ जीवन के अग्र और सांस्कृतिक भावनाओं के निमित्त भी बन सकते हैं। स्वायत्त का जीवन में अपना हितकर रूप है। किंतु निमित्त के इन रूपों में उन स्वायत्त का विस्तार प्रवृत्तियों के पीछे पर सत्कृति की प्रेरणा प्राप्त करता है। जीवन के सजीव रूप में इन निमित्तों के सरोवर में ही सत्कृति का कमल खिलता है। इन भौतिक निमित्तों और प्राकृतिक क्रियाओं की भरसना करके अध्यात्मवादी दशना में अध्यात्म और मानव सत्कृति दोनों की ही निष्पन्नता का माग दिया गया। अध्यात्म की निष्पन्नता स्वविनि है यद्यपि अध्यात्म के प्रतिपादन प्रकार को ही अध्यात्म समझने के कारण हम इन निष्पन्नता को स्वीकार नहीं करते। अध्यात्म की चर्चा ही अध्यात्म नहीं

है। अध्यात्म का वास्तविक स्वरूप साधना है जिसके सम्बन्ध में प्रायः हम भ्रम रहता है। भौतिक रूपों में उसमें रहने के कारण हम वस्तुतः अध्यात्म के माग में अधिक नहीं देख पाते। अध्यात्म यथार्थों के अनुसार जो तत्त्व मायात्मार अध्यात्म साधना का फल है। वह जितना साधना की जितनी मात्रा में प्राप्त होता है। साधकों ऐसे सात और साधक जितने मिले हैं जिनका लौकिक और स्वाध्याय दृष्टिकोण अध्यात्म की मायात्माओं का सङ्गठन नही करता। साथ यह है कि अध्यात्म का साक्षात्कार रूप चाह तब दृष्टि से सही है किन्तु जीवन की दृष्टि में व्यवहार्य नहीं है। लौकिक जीवन के भौतिक उपकरणों और प्राकृतिक प्रवृत्तियों के संगम में ही अध्यात्म सफल हो सकता है। य जीवन के आवश्यक उपकरण हैं। इनकी अनिवार्यता के कारण अध्यात्म के अपार उपदेश भी लोक जीवन को इनसे विरत नहीं आता सब। अध्यात्म की भक्तनामों का स्तना फल अत्यन्त दुर्लभ कि लौकिक जीवन की प्राकृतिक सरसता भी भग्न हो गई और उसमें सांस्कृतिक सम्भावनाओं का समुचित विकास न हो सका। अध्यात्म की भक्तनामों के निरन्तर घोष सुनते रहने के कारण जीवन और संस्कृति के प्रति लोक का उत्साह भद हो गया। उत्साह के बिना न प्राकृतिक जीवन में उत्थान रहता है और न संस्कृति की साधना के लिए प्रेरणा मिलती है। लोकातीत अध्यात्म के उपदेशों ने लौकिक जीवन के मूल्य माधुर्य और सौन्दर्य को बहुत भद बना दिया है। यही निरुत्साह और मदता भारतवर्ष की ऐतिहासिक पराजय का मूल कारण है। इसी के कारण धर्म रक्षा के लिये अर्पणित एकता और संगठन भी सम्भव न हो सके। उत्साह के द्वारा ही प्रकृति के आधार पर सामाजिक संगठन और सांस्कृतिक एकता का विधान हो सकता है। लौकिक जीवन और प्रकृति की निन्दा करके अध्यात्म न संस्कृति के इस विजयगीत विकास का आधार उद्घोष किया। प्रकृति से विषम किन्तु जानिये कि निन्दित लोक जीवन आदर्शों की विदम्बना करता हुआ स्वाध्याय में संकुचित रहता है। इस स्वाध्याय और सत्त्व के कारण ही भारतवर्ष का सामाजिक जीवन विशृङ्खल रहा और विशृङ्खल रहने के कारण संगठित न रह सका। असम्भव आदर्शों की छलपूर्ण विदम्बना ने अध्यात्म की भी असफल बनाया। लोकातीत अध्यात्म में कोई स्वरूपगत प्रेरणा नहीं है। आत्मा का प्रकाश रूप माय है और यह साथ है कि स्वयं प्रकाश की प्रभा मदतम मनुष्य के अन्तर्गत म पूणत तिरोहित नहीं होती। किन्तु आत्मा के इस अनुच्छेद प्रकाश में कोई प्रेरणा नहीं है। अमीलिये अध्यात्म के माग में गति कठिन होती है। निष्ठावान साधक भी प्रकृति के मोह में छुटकारा नहीं पाते। अतः अपने लोकातीत स्वरूप का

प्राप्त करने वाला अध्यात्म अपने का असफल बनाता है। साथ ही लौकिक मूल्यों की निंदा करके वह लौकिक कल्याण के भी मकदम डालता है। इस अलौकिक अध्यात्म के प्रभाव से ही भारतीय जीवन लोक और अध्यात्म दोनों ही निगाहों में असफल रहा। इसी असफलता की स्थिति में द्विवेदा में दानों यम, माया मिली न राम' की कहावत चरिताय हुई।

अस्तु लौकिक उपकरणों और प्रवृत्तियों का आधारों में ही अध्यात्म की साधना समभव और सत्कृति के अध्यवसाय सफल होते हैं। जो समात्म भाव अध्यात्म और सत्कृति का भार है वह भी लौकिक उपकरणों और क्रियाओं के निमित्त में ही कृताय होता है। जीवन में इसके अनुभव और वशाहरण असह्य और सरलता से मिल सकते हैं।

है। अध्यात्म का पारलौकिक स्वरूप साधना है जिसके साथ यम प्रायः हम भ्रम रहता है। भौतिक रूपों में उसमें रहने के कारण हम वस्तुतः अध्यात्म के माग में अधिका नहीं बढ़ पाते। अध्यात्म दानों व भुक्तियों जो तत्त्व साक्षात्कार अध्यात्म साधना का फल है। यह जितना साधनों को जितनी माना व प्राप्त होता है। आपको ऐसे सत और साधक जितने मिले हैं जिनका लौकिक और स्वाध्याय दृष्टिकोण अध्यात्म की मायनाओं का समझ नहीं करता। सत्य यह है कि अध्यात्म का साक्षात्कार रूप चाह तत्त्व दृष्टि से सही हो किन्तु जीवन की दृष्टि से व्यवहार्य नहीं है। लौकिक जीवन के भौतिक उपकरणों और प्राकृतिक प्रवृत्तियों के संगम में ही अध्यात्म सफल हो सकता है। ये जीवन के साधक उपकरण हैं। इनकी अनिवार्यता के कारण अध्यात्म के अपार उपदेश भी लौकिक जीवन को इनसे विरत नहीं बना सक। अध्यात्म की भक्तियों का इतना फल अवश्य हुआ कि लौकिक जीवन की प्राकृतिक सरसता भी भंग हो गई और उसमें सांस्कृतिक संभावनाओं का समुचित विकास न हो सका। अध्यात्म की भक्तियों के निरंतर धोप सुनते रहने के कारण जीवन और सत्कृति के प्रति लोभ का उत्साह मंद हो गया। उत्साह के बिना न प्राकृतिक जीवन में उत्सास रहता है और न सत्कृति की साधना के लिए प्रेरणा मिलती है। लोकातीत अध्यात्म के उपदेशों ने लौकिक जीवन के मुख्य माधुय और सौंदर्य को बहुत मंद बना दिया है। यही निरुत्साह और मंदता भारतवर्ष की ऐतिहासिक पराजय का मूल कारण है। यही के कारण आत्म रक्षा के लिये अप्रसिद्ध एकता और संगठन भी संभव न हो सके। उत्साह के द्वारा ही प्रकृति के आधार पर सामाजिक संगठन और सांस्कृतिक एकता का विधान हो सकता है। लौकिक जीवन और प्रकृति की निंदा करके अध्यात्म न सत्कृति के इस विजयगीत विकास का आधार उच्छिन्न किया। प्रकृति से विवश किन्तु जानियों से निर्दित लौकिक जीवन आदर्शों की विदम्बना करता हुआ स्वाध्याय में समुचित रहता है। इस स्वाध्याय और संकोच के कारण ही भारतवर्ष का सामाजिक जीवन विष्टब्ध रहता और विष्टब्ध रहने के कारण समृद्धि न रह सका। असम्भव आदर्शों की छलपूर विदम्बना ने अध्यात्म को भी असफल बनाया। लोकातीत अध्यात्म में कोई स्वरूपगत प्रेरणा नहीं है। आत्मा का प्रकाश रूप माय है और यह सत्य है कि इस प्रकाश की प्रभा मंदतम मनुष्य के अंतः में पूरा तिरछी नहीं होती। किन्तु आत्मा के इस अनुच्छेद प्रकाश में कोई प्रेरणा नहीं है। यमोनिय अध्यात्म के माग में गति कठिन होती है। निष्ठावान साधक भी प्रकृति के मोह से छुटकारा नहीं पाते। अतः अपने लोकातीत स्वरूप का

आग्रह करने वाला अध्यात्म अपने को असफल बनाता है। साथ ही लौकिक मूल्यों की निंदा करके वह लौकिक कल्याण व भी सवट में डालता है। इस अलौकिक अध्यात्म के प्रभाव से ही भारतीय जीवन लोक और अध्यात्म दोनों ही दिशाओं में असफल रहा। इसी असफलता की स्थिति में द्विवधा में दानों गये 'माया मिली न राम' की कहावत चरिताय हुई।

अस्तु लौकिक उपकरणों और प्रवृत्तियों के साधनों में ही अध्यात्म की साधना संभव और सत्प्रति के अध्यवसाय संभव होते हैं। जो समात्म भाव अध्यात्म और सत्प्रति का सार है वह भी लौकिक उपकरणों और क्रियाओं के निमित्त में ही कृतार्थ होता है। जीवन में हमें अनुभव और उपाहरण संस्कृत और सरलता से मिल सकने हैं।

अध्याय २

कविता की भागीरथी

कविता की कोई सवमाय परिभाषा कठिन है। सामान्यतः सभी लोग कविता के रूप को पहचानते और किसी न किसी घटना में उगता मान लेते हैं। किंतु कविता के स्वरूप के निरूपण का प्रयत्न करते हुए इस सम्बन्ध में घने कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। यथा कारण यह है कि कविता मानवीय कृतिरूप की एक व्यापक व्यञ्जना है। उसकी व्यापक परिधि में जीवन और कला की अनेक प्रेरणाओं और विधियों का समाहार है। मानवीय चेतना के अनेक रूप पक्ष और घरातल हैं। समय है भागीरथी के स्रोत की भाँति विद्वत् मानव के अन्तर से उद्भूत होने वाली कोई एक मूल प्रेरणा ऐसी हो जिसे हम कविता का उद्गम कह सकें। भागीरथी के उद्गम की भाँति ही कविता की इस मूल प्रेरणा की योजना कठिन है। चेतना के उस ऊँच और दुर्गम देश में मन की गति कठिन है। आदि कवि की विगलित कल्याण के गोमुख से कविता की भागीरथी के उद्गम और उज्ज्वल समारम्भ के पीछे मानवीय चेतना की कितनी दुर्लभ सरणियों का सहयोग है यह अक्षर्य सहज नहीं है। सामान्य जीवन के समतल पर कविता की भागीरथी के जिस शीघ्र प्रवाह से हम सामान्यतः परिचित हैं तथा जिसने पुण्य तटों पर हम प्रायः अवगाहन करते हैं उसका निर्माण में भी उद्गम के दुर्गम देश की न जाने कितनी सहस्र धाराओं का सहयोग है।

कविता के लिए भागीरथी की यह उपमा सुन्दर ही नहीं उपयुक्त भी है। वस्तुतः यह कविता की भाषा में ही कविता के स्वरूप की परिभाषा है। कविता जीवन की भागीरथी है। तक की दृष्टि से इस परिभाषा में आलका रिता का दोष भले ही हो किंतु कविता की दृष्टि से यह परिभाषा अत्यन्त उपयुक्त और अक्षर्य है। इस परिभाषा में हमें कविता के स्वरूप का उसी प्रकार साक्षात्कार होता है जिस प्रकार स्वयं कविता के रूपों में मानवीय जीवन और आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार जगत के ऊँच लोक से भागीरथी गया का उद्गम होता है उसी प्रकार मानवीय चेतना

के ऊँच सोचा म कविता का मूल स्रोत है। हिमालय के उज्ज्वल शिखरों पर सूर्य के सतरंग आतप न पड़ने से आरम्भ होने वाला हिम का विगलन ही भागीरथी के प्रवाह का आदिमूल है। उसी प्रकार मानवीय चेतना में सत्त्व के उत्कृष्ट जीवन की रश्मियाँ से रञ्जित और विगलित होकर कविता के प्रवाह का आरम्भ करते हैं। सूर्य विन्ध की जीवन शक्ति है वही हिम के विगलन का प्रेरक है। हिम के साथ सूर्य के सम्पर्क में आलोक की वणविभूति भी विष्फुरति होती है। प्रवाह की तरफों पर यह वण विभूति इंद्रधनुषा स्वप्नो का भनत विधान करती है। हिम के उज्ज्वल मत्स्य में सबल के शिवम् के साथ अभि यक्ति के सुन्दरम् का उदय होता है। उसी प्रकार मत्स्य के उत्कृष्ट में जीवन की ऊँचा के सम्पर्क से जित यापक करणा में चेतना का द्रवण होता है वही कविता का प्रथम दर्शन है। जीवन की ध्वनि पर तरंगित चेतना के इस प्रवाह में सात्त्विक विधानों के भनत इंद्रधनुष कहना की सुलिका से अभित होने हैं। सत्त्व के भगवन्मय सबल की करणा में कल्पना के य विप्र विधान ही सौ दय की सृष्टि करते हैं।

सत्य की भूमि पर मगल की गति में सौ दय की सृष्टि ही कविता का पूरा रूप है। सत्य जीवन की स्थिति है। उसमें उज्ज्वल आलोक की समष्टि है, किंतु गति नहीं है। सत्त्व का उत्पन्न होने के कारण ही आत्मात्मवादी दशन परम सत्य की प्रचल और अविकारी मानते रह हैं। हिमाचल इसी मत्स्य के उत्कृष्ट का प्रतीक है। जीवन की ऊँचा के सम्पर्क से सत्त्व का हिमाचल विगलित होता है। कदणा का यही साव कविता का आदि स्रोत है। आदि कवि का प्रथम उच्छ्वास इसी कविता के प्रवाह का प्रथम बिंदु है। यह सबल ही शिवम् है। आत्मदान इसका स्वरूप है। अभिव्यक्ति की प्रेरणा बनकर यही आत्मदान सुन्दरम् की सृष्टि करता है। जीवन की ऊँचा से विगलित होकर हिम का तीव्र प्रवाह पृथ्वी के प्रान्तों का भपना जीवन समपण करता है। उनका यही आत्मदान प्रकृति के वृक्ष वीरध सता गुप्त पान्थ वृक्षादि में के रूपों में पलनविन पुनित और फलित होता है। अभिव्यक्ति का सौन्दर्य बनकर यही आत्मदान सेत, शास्त्र उपनयन वन आदि की सृष्टि करता है। इसी प्रकार सत्त्व का कदणा रसमम आत्मदान के द्वारा भगवन्मयी गति से जीवन के सौन्दर्य लोकों का रचना करती है।

जिन मूढम और दुनय्य धाराओं के रूप में सत्त्व के इस विगलित

प्रवाह का धारम होता है। उभा घुमघात इन ऊँचसोचों के थड़ासु और साहसपूर्ण यात्री कर सकते हैं। सार के उदात्त व उत व समांग और उनके प्रवल म सहस्रान्तें बढ़ना व निर्मल मानगरीवर के दर्शन विरमे ही पुण्यगात्री कर पाते हैं। उपर्युक्तों और सराद्यों के वासियों को उा मह्यपाराओं के कोमाय में कविता की भागीरथी की विसिद्ध सीलाओं का दर्शन प्रवश्य होता है। उन्हें इन सहस्रपाराओं के दात गत संगमो पर निमिन् होने वाले घटना प्रयागो के पुण्य का भी साम होना है। सोर जीवन की साधारण समतल भूमि के निवासियों को तो एक मधुर और सष्वेत प्रवाह के रूप में ही इस कविता की भागीरथी व दर्शन होते हैं। इसी के तट पर उनके अनेक सांस्कृतिक तीर्थ निमित्त हैं। इन रस की भागीरथी में अनुराग की यमुना के संगम से निमित्त एक प्रमाण ही उनका तोषराम है। इस कविता भागीरथी का मधुर मधुर बल बल ही उनकी दिव्य शक्ति है। उसका विनाल प्रवल ही उनके जीवन का कल्याणम माध्य है। उद्गम के ऊँच लोकों की रसकुमारिया की सिद्ध गति प्रवल सीला अविम विलास उदल वाति और मन्द्र सगीत के वास्तविक रूप की कल्पना भी उनके लिए कठिन है। छेती सादृशा उपवनों और वनों की विभूति को ही बहुत मानने वाले समतल वासियों को इन ऊँच लोकों के देवदास वनों गंध मादनो औषधि प्रस्थो आदि क सोरभ और सौंदर्य की कल्पना भी सामन नहीं है।

कविता की भागीरथी के उद्गम की सुपमा और विभूतियों का अनुसंधान जितना दुष्कर है उससे कोमाय की सहस्रपाराओं के समवाय से निमित्त समतल की उदारपारा के दर्शन और अदगाहन का पुण्य उतना ही सुलभ है। उद्गम के रहस्य और चमत्कारी की प्रतिभा का दर्शन चाहे इसमें सुलभ हो किन्तु उसके रस का प्रसाद इसमें भी समान रूप से प्राप्य है। यह रस ही कविता की भागीरथी का स्वरूप और सार है। मूलतः कविता की भागीरथी का रस पवित्र और अविनाश है। समतल के प्रवाह में यदि कोई विचार प्रथवा अपवित्रतायें मिलती हैं तो वे उस रस प्रवाहिनी का स्वरूपगत दोष नहीं है वे सम्मता के विचारों के बलुप हैं। कविता की रसप्रवाहिनी इस बलुप को आत्मसात् और प्रच्छालित करने की शक्ति रखती है। मूरदास के समदर्शी भगवान के समान कविता की प्रवाहिनी इन बलुपों को भी आत्मसात् करके मुरसरी' की सज्ञा प्रदान करती है। वस्तुतः उपनिषदों के रसो वस के अनुरूप रस ही इसका स्वरूप है। पुराणों में भागीरथी के रसप्रवाह को ब्रह्म द्रव कहा गया है। कविता की भागीरथी का प्रवाह ब्रह्म के समान ही रसमय और अविनाशी है। कविता ब्रह्म के रसमय सत्व का ही सगीतमय प्रवाह है।

कविता की रमण भागीरथी अपने मूल और दिव्य रूप में यज्ञा व कमण्डलु की विभूति है। यज्ञा सृजन का देवता है। क्षीर सागर पर गंगा गह्वर पर निराकृत विष्णु की नाभि से निःसृत कमल पर आसीन यज्ञा सृजन का प्रतीक है। क्षीर सागर मानवीय सत्त्व का आधारभूत मानव भावना का प्रतीक है। अनन्त का सत्ता से विभूषित समय का अनुस्यूत गुह्यगंग और सहस्र फल युक्त गङ्गागंग अनन्त और अनन्त गङ्गागंग से सम्पन्न ज्ञान का प्रतीक है। विष्णु चक्र और गंगा से सूचित विक्रम का द्वारा गङ्गा और पद्म से शासन धर्म और अत्यात्म का रक्षण है। मानवशक्ति का प्रेरणा और ज्ञान का सम्पन्न उनकी स्थिति का स्थाई आधार और अवलम्ब है। आग्नि शक्ति की प्रेरणा और अनन्त ज्ञान का सम्पन्न ॥ विष्णु अपने विक्रमों में सफल होना है। नाभि वह का क ड है। कमल जीवन के रत्न (जल) और कलुष (पद) ॥ उद्भूत जीवन की उत्पत्तिका श्री का प्रामाण्य है। उन्नी श्री की सृजनशक्ति का विभूति से विष्णु के विक्रमों का क शीघ्र प्रयोजन सफल होता है। मृष्टि का विधाता होने का साथ साथ यज्ञा वहाँ का आग्नि यज्ञ भी है। मृष्टि प्रकृति है। वह ज्ञान और सत्त्व का आधार है। यज्ञा प्राकृतिक और सांस्कृतिक सृजन का पौराणिक प्रतीक है। उनका कमण्डलु उनकी धारणा का पात्र और साधना का उपकरण है। उनमें वर्तमान गंगा सृजन की साधना और धारणा का रसमय तत्व है। यज्ञा लोक की वाग्मिनी गंगा का पृथ्वी पर अवतार का लिए भागीरथी की तपस्या अपेक्षित है। कवि यज्ञा लोक की रमणुति को भूलोक में प्रदान करने का तपस्वी भागीरथी है। तप से ही उनकी साधना सफल हो सकती है। भूलोक में कविता की भागीरथी की रसधारा प्रवाहित करने का साथ साथ वह धनन अन्न और धनन विलास के आकाश लोक की कामना के प्रतीक स्वयं का अन्तिम इन्द्र का धन से सम्पन्न हुए अपने अन्तिम पूर्वजों का भी उद्धार कर सकता है।

किंतु कवि रथी भागीरथी की यह साधना गिव का सहयोग के बिना सम्भव और सफल नहीं हो सकता। गिव लोक अमल के प्रतीक है। धनन ज्ञान का प्रतीक रोपनाग के पत्तों पर पृथ्वी का स्थिति है। उत्कृष्ट सत्य का गुण सत्य का प्रतीक कलाग पृथ्वी का बुद्धिमत्ति है। उस कलाग पर आसीन गिव गङ्गा का उत्कृष्ट का साधना द्वारा प्राप्य लोक का धर्म और उत्कृष्टतम धर्म का साधक है। गिव का शुष्क जगज्ज साधना की सत्य धीयियों का सत्य करता है। लोक की उत्कृष्टतम भगवत् साधना की सत्य वायियों ही सृजन का देवता का साधना पात्र का रस प्रवाह को वनवित करने में समर्थ है। इस

साथ मगन की साधना और उगरी प्रीति के अनुपम में ही कवि की भगीरथ उस रम प्रवाहिनी को पृथ्वी पर उतारने में समर्थ होता है। ब्रह्मा का यह ध्यान कि 'यथा यह प्रवाह पातान को बना जावगा' सोत मगन की साधना के बिना रस साधना की निष्पन्नता का व्यर्थ है। पातान विषय का अधोनीर है। निव की साधना के धर्माय म वितती रस साधना इस अधोनीर की गामिना बनी है यह कला कविता और साहित्य का स्वस्थ अनुशीलन करने का न पाठों को प्रतिष्ठित नहीं है। निव का स्वरूप स्वयं साधनामय है। भगीरथ और निव का सहयोग रस और मगन की साधना की सगति का सूचक है। तब और साधना प्रकृति के संस्कार के माग हैं। रस और मगन की दिशा में इस साधना की समर्पित गति ही पृथ्वी पर मगन मयी रस भगीरथी को प्रयत्नरित करने में सफल होनी है। पौराणिक कल्पना में गंगा की धारा निव के नीचे से प्रवाहित होती है। सोच मगन के नीचे से प्रवाहित होने पर ही रस भगीरथी कल्याणमय आनन्द का वरदान बन सकती है। भगीरथ के समान हनु और दीध साधना के द्वारा ही निव के प्रसाद की विभूति मगनमयी रस भगीरथी पृथ्वी पर प्रवाहित होती है।

ब्रह्मा निव और भगीरथ के पौराणिक निमित्तों से निमित्त भगीरथी का यन् रूपक कविता का स्वरूप उद्गम और अभिव्यक्ति के रहस्यों का एक अद्भुत मार्मिकता का साथ संकेत करता है। कविता का स्वरूप भगीरथी के समान ही रसमय है। यह रस साधारण भावा अथवा जनो के समान विकार गीत नहीं बल्कि ब्रह्म रस के समान अविनाश है। उपनिषदों में हम रस के आध्यात्मिक ब्रह्म को कवि की सेवा दी गई है। वह सर्वज्ञ कवि अपने स्वरूप भूत रसतरंग से विश्व की सृष्टि करता है। यह सृष्टि विमल ब्रह्म के स्वभाव की अनायास अभिव्यक्ति है। भावों के मगलाचरण में बीजित मनस्य पचभूतानि और स्मिन्मेतस्य वरावरम् मणि सृष्टि के हम अनायास सौंदर्य का संकेत मिलता है। ब्रह्मा सृजन के देवता हैं। उन्हें हम ब्रह्मा गति के सृजनात्मक रूप का प्रतीक मान सकते हैं। ब्रह्मा का ऋषि रूप सांस्कृतिक साधना का सूचक है। साधना का सम्बन्ध ही ब्रह्म की रस विभूति का आश्रय और निवास में उसके प्रवाह का आदि स्रोत बनता है। सांस्कृतिक जगत में कवि अनन्त रस लावो का विधाता है। नाट्य शास्त्र की परम्परा में कवि का प्रजापति माना है यह उचित ही है। कवि स्रष्टा है। साध ही वह द्रष्टा भी है। गहराचार्य ने उपनिषदों के कवि का कवि ज्ञातदर्शी सर्वज्ञ भाष्य किया है। चतुर्मुख होने के कारण विश्व के स्रष्टा ब्रह्मा सर्व

दर्शी हैं। वह क विघाता होने के कारण वे सब भी हैं। घनामिल ज्ञान दृष्टि विघाता की सृष्टि क्रिया का आलोचक है। उज्ज्वल और घनामिल ज्ञान दृष्टि से समन्वित होकर ही कवि की सांस्कृतिक सृष्टि भी सफल होती है। अस्तु ज्ञानदृष्टि से युक्त सृष्टि ही कविता का रूप है। साधना से युक्त सृजनात्मक बनना की अभिव्यक्ति कविता के रूप में होती है।

साधना से सत्व का उत्कर्ष होता है। कलाग उद्योग का प्रतीक है। कवि का कलाग उसका मस्तक है। यह कल्पना योग का प्रतीकवाक्य का अनुसरण है। तप और गति साधना के सम्बन्ध हैं। तप प्रकृति का मर्यादित तथा कर्षण है। गति क्रिया की सामर्थ्य है। या तो यह गति अस्तु अस्तु में व्याप्त है और ज्ञान उसका विस्फोट बिन्दु का प्रलय का द्वार दिखा रहे हैं। निमग्न प्रकृति की सृजनात्मक क्रिया में गति की अभिव्यक्ति प्रकृति की एक अनगन नियति बन गई है। गति की कृत्रिम अभिव्यक्तियां अनुपम तथा हैं। अनुपम की चेतना में गति का स्वतन्त्र रूप अभिव्यक्त हुआ है। तभी में इस विमयी गति का चिन्तित की सजा दी गई है। ममत्त विन्दु इस गति का ही विलास है। विन्दु का काय गति की महात्मा का अद्भुत सौन्दर्य है। कविता की सृष्टि भी कवि की गति साधना का फल है। सत्व का उत्कर्ष गति का भी सम्पूर्ण है। कवि की समय चेतना की विभूति ही कविता बन कर विस्तारित होती है। जीवन की लम्बा से विद्रवित सत्व का हिमालय ही मानस का भाग से कविता की भागीरथी के रूप में प्रवाहित होता है। इस प्रवाह में सत्व की भास्वरता और काति गति का वग और गति कल्पना का रजित कीचिचित्त तथा सृजन का अद्भुत सौन्दर्य और प्रगति का मन्द मधुर गीत है।

कविता की भागीरथी की मौलिक काति, वह संगीत भाति का परिचय है। उसका उद्गम के उच्च स्रोतों में ही मिलता है जो दुर्लभ है। समस्त भूमि के निवासियों को इन तीनों के मन्द रूप का ही साक्षात्कार होता है। किन्तु वे भी अपनी कल्पना के द्वारा इन भूत रूपों का मानसिक साक्षात्कार प्राप्त कर सक्त हैं। समस्त के प्रवाह में भी काति की अद्भुत भाति गति का प्रबल वग सृजन की व्यापक विभूति और सगात का मनाहर माधुर्य है। मन्द होने हुए भी प्रवाह का वग अविच्छिन्न है और उसका विस्तार अधिका है। प्रवाह की यह अविच्छिन्न परम्परा कविता का वास्तविक गति है। महाभारत वाल्मीकि रामायण भाति के समान विरल ही वाक्यों में प्रवाह का

यह परम्परा मिलती है। अधिकांश काव्य भाषा व गुण सरासर हैं जो गुण की माया व काल में तो स्वच्छ बने रहते हैं। किंतु यहाँ भी उगी होकर गिवार घोर काल से ढक जाते हैं। राम चरितमाताम की समान विरत हा मरोवर भाव की उस उच्च भूमि पर स्थित है जहाँ ये विचार ग काचित नही हो सकते। रवीन्द्रनाथ जयगकरप्रसाद निराशा और कुछ प्राधुनिक कवियों के गीतों में भावना का स्वल्प किंतु स्वच्छ उत्पन्न है जो अधिकांश दूर तक नहीं जाते फिर भी उनका प्रवाह में काचित गति और संगीत है। कुछ राम प्रिय प्रवृत्ति वर्षावात की नन्धियों की भाँति अपने प्राविम प्रवाह में गम्भीरता की भाँति उत्पन्न करके ताक की पूजा व पाव बन जाते हैं। किंतु गार्द निमन पातावरण में वे दीन हो जाते हैं। जिन स्थायी काव्या में त्रिकार का कुछ भाग है व उन प्रायः नदियों का समान है जिसका प्रवाह तो निरंतर है किंतु उनका उद्गम निम्न सोच व पवनो की गुग्म और सुविज्ञ का देखासा है। कविता का उत्तम रूप तो भागीरथी का पवित्र और अविकारी प्रवाह ही है जो साधना का ऊँचा लोका से निमृत् होकर सामान्य जीवन की समस्त भूमि का जल और सौंदर्य से निरंतर भचित करता रहता है और जिसका दोष पय मनुष्य का सांस्कृतिक तीर्थों का प्रायः है।

भागीरथी का उत्पन्न और समृत्त प्रवाह ही कविता का उत्तम रूप है। ताक चेतना का गंगासागर में विनीत होकर भी स्व प्रवाह का गति विच्छिन्न नहीं होनी। जीवन की उष्मा से गादोलित होकर उसका रस तत्व कहलामयी मेघमासाओं के रूप में अनंत का भाग से साधना का उसी हिमानय का भार चल पड़ता है जो कविता की भागीरथी का मूल उद्गम बनता है। इस प्रकार अविक्षिप्त रहकर कविता की भागीरथी का प्रवाह अपनी एकता व अनेकता का समाहार करके मानवीय जीवन का लिए सृजन और सौंदर्य की मगनमयी परम्परा की चिरतन प्रेरणा बन जाता है।

उद्गम की काचित गति और संगीत का अतिरिक्त भागीरथी के प्रवाह की दिशा भी कविता का स्वल्प काममउद्घाटित करती है। पौराणिक परम्परा का अनुसार गंगा त्रिपयगा कहनाती है। तीनो लोकों में उसका प्रवाह की गति है। स्वर्ग की गंगा का नाम मदाविनी है। भूतोक की गंगा भागीरथी है उसी प्रकार पाताल में मघोताक में भी गंगा का प्रवाह है। य

तीनों लोक जीवन व ऊर्ध्व मध्यम और अधम लोका के प्रतीक हैं । तीनों हा
लाक गंगा व नित्य प्रवाह व अधिकारी हैं । यद्यपि पुराणा का स्वर्ग भूत त
विलास और भूत त वभव की कामना का मूल रूप है कि तुम्हें में मत्त्व की
प्रधानता की दृष्टि में हम उसे आत्मा के ऊर्ध्व लोक का प्रतीक मान सकते
हैं । पाताल का अधालात विहृतियों और अनौचित्यों का तामस दण है ।
भूलाक सत्व और तम स सतुलित राग का लाक है । यही मनुष्य का मुख्य
निवास है । मत्त्व व हिमालय म निमृत् हाकर कविता का भागीरथी इसी म
प्रवाहित होती है । अध्यात्म के ऊर्ध्व लोक में भी कविता का भागीरथी का
प्रवाह हुमा है । अधालोक भी इसके प्रमाण स वक्षित नहीं है । किन्तु मध्यलाक
की धारा हा मनुष्यों के कल्याण का मुख्य माग है । भूगल की भागीरथी का
उद्गम शिव क साधनामय पोठ निमात्रय स है । इसम इनकी मगला मूलकता
स्पष्ट है । इसका दिगा पूव की ओर है । पान व सूर्योत्थ के कारण पूव का
महत्त्व प्रपूव है । सूर्य जीवन और याति का स्रोत है । योग म वह आत्म का
भी प्रतीक है । पात्मा का स्वरूप प्रकाश और शक्ति है । उस सूर्य की दीप्त
रश्मिया स विगलित हाकर भी सत्व का हिमात्रय भागीरथी व स्रोत में प्रवा
हित हाता है । उसका प्रवाह की दिगा भी पूव की ओर है जा सूर्य के उग्य
की दिगा है । निरंतर प्रवाह का ध्य और मीदय ता कविता का भागा
रथी का लक्षण है ही किन्तु ममक साम साथ ज्योति और जीवन व सूर्योत्थ
की दिगा की निरंतर यजना करना भी उसकी स्वाभाविक गति है । वस्तुत
इसी यजना व द्वारा कविता का भागीरथी जीवन का उर्वल और रसमयी
मृजन परम्परा की चिरंतन प्ररणा उन सबनी है । भागीरथी की अपार
महिमा व कारण गांध गांध की बरसाती धारा का भी गंगा का नाम मिला ।
इसी प्रकार कविता की प्रवाहिनी की अपार महिमा का ताम्य पात्र अनवर
रचनायें 'काव्य प' की भागिनी बनी । किन्तु उनका स्वरूप कविता का
भागीरथी स कितना भिन्न है यह दोनों म अवगाहन करने वाले विवेकीजन ही
जान सकते हैं । जहाँ तक जल व प्रवाह का सम्बन्ध है वहाँ तक य बरसाती
धारायें भा 'परमस्विकनी का परिभाषा व अंतर्गत ही हैं । उसी प्रकार जहाँ
तक रस व प्रवाह का सम्बन्ध है कविता व नाम स प्रसिद्ध सभी रचनाया म
वह किसी न किसी परिमाण म मिलता है । प्रश्न यह है कि काव्य का
सामान्य स्वरूप क्या है और किस आधार पर काव्य व उम सामान्य म विविध
विभक्त रिय जा सकते हैं इस विभक्त का क्या अधिकार और महत्त्व है ? काव्य
की सामान्य परिभाषायें बहुत व्यापक हो जाती हैं । अन अनवर रचनायें
इसके अंतर्गत आ जाती हैं । किन्तु दूसरी ओर काव्य की किसी भी परिभाषा

का पूरण निर्वाह दुसरे है। पूणता बड़ी कठिन बात है। यत यह धर्यत दुसरे भी है। विरसी ही कृतिया में परिभाषा की पूणता का आभास मिलता। परिभाषाओं के भेद व प्रतिष्ठित उक्त निर्वाह की अनवर कोटियाँ हैं। इस प्रकार कविता व सामान्य में अनवर विषयों का समावेश हो जाता है। यही कारण है कि अनवर प्रकार से भिन्न प्रतीत होनी वाली अनवर कृतियाँ कविता व नगरीत सम्मिलित होनी रही हैं।

यदि कविता का एक सामान्य लक्षण सामय भी हो तो भी उसके निर्वाह व अनवर उपकरण और धरातल हैं। इन उपकरणों और धरातलों का सापेक्ष भेद कविता व रूपा में भेद उत्पन्न करता है। जिन एक ही सामान्य के अंतर्गत हात हुए भी लोक की प्रत्येक वस्तु विभिन्न दूसरी वस्तुओं से भिन्न हैं उसी प्रकार कविता के विभिन्न रूप भी उसके अनेक रूपों से भिन्न हैं। इस भेद का कारण ही जिस प्रकार एक ही सामान्य में समाविष्ट एक विभिन्न वस्तु को हम अपने वस्तुओं से पृथक् नहीं पहचानते हैं उसी प्रकार हम काव्य के विभिन्न रूपों को भी पृथक् पृथक् पहचानते हैं। कालिदास के एक श्लोक की सुनकर हम तत्काल पहचान जाते हैं कि वह उस श्लोक का हमने पहले न पढ़ा था। तुलसीदास पर प्रसन्न निरामा महादेवी आदि प्रत्येक की रचना में एक अपनी विशेषता है जिसके द्वारा हम उसे पहचानते हैं। इतना अवश्य है कि यह पहचान उस विशेषता के साथ हमारे परिचय पर निर्भर है। इस विशेषता को हम कवि अथवा काव्य के यत्न की विशेषता कह सकते हैं। इस दृष्टि से काव्य के उतने ही भेद होंगे जितने कवि हैं। किन्तु काव्य के उपकरणों और धरातलों के आधार पर अनेक प्रकार से काव्य के भेद दिये जा सकते हैं। काव्य के आधार पर एक वर्ग के अंतर्गत इस विभाजन में अनेक रचनाएँ आ सकती हैं। यह विभाजन काव्य के सामान्य लक्षण और अनवर विषयों के बीच में है। आलोचना ही नहीं काव्य के आस्वादन की दृष्टि से भी उसके इस त्रिविध निरूपण का महत्व है। इसलिए साहित्य के इतिहास में काव्य शास्त्रों में काव्य के सामान्य लक्षण व साथ साथ उसके भेदों का भी निरूपण किया गया है। आधुनिक अध्ययन और आलोचना की रीति प्रत्येक कवि की मौलिक विशेषता में भी है।

सामान्यतः कविता को कला का एक रूप माना जाता है। कविता भाषा के माध्यम से भाव की अभिव्यक्ति है। साधारणतः हम भाषा के मुखर रूप को ही जानते हैं। किंतु भारतीय साहित्य में गीत की ओर

भी कई कान्ठियाँ बतार्हीं हैं। चतुर्विध वाक् क अतर्गत परा ध्वनिति मध्यमा और चव्वरी चार कोटियाँ हैं। इनमें हमारी परिचित भाषा वाक् का प्रतिम और सबसे स्थूल रूप है। अथ तीन रूपा का हम सामान्यतः नहा जानते। गान्धर्व नाम गान्धर्व की ब्रह्मा माना गया है। ब्रह्म चिन्मय है। अतः गान्धर्व का मूल स्वरूप भी चतुर्विध है। मुखर गान्धर्व उसी का विवृत है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वेदात्त में जगत के पदार्थ ब्रह्म के विवृत हैं। मुखर भाषा के द्वारा कविता में जिन भाव की अभिव्यक्ति की जाती है वह भी वाक् के मानस में चिन्मय ही होता है। इस चिन्मय भाव को हम कविता का आन्तरिक रूप कह सकते हैं। मुखर भाषा में उसकी अभिव्यक्ति उसका बाह्य रूप है। भारतीय काव्य शास्त्र में हम बाह्य रूप को वाच्य पुरुष की देह माना गया है। आन्तरिक चिन्मय भाव उसका आत्मा है। जिन प्रकार चिन्मय आत्मा की शक्ति देह को अनुप्राणित और संचालित करती है उसी प्रकार भाव की विभूति गान्धर्व की देह में व्यक्त रहती है। देह और आत्मा का सामंजस्य ही अनुप्य का जीवन है। उसी प्रकार चिन्मय भाव के साथ गान्धर्व के बाह्य रूप का सामंजस्य ही कविता का जीवन है।

इसलिए भारतीय काव्य शास्त्र में काव्य की सबसे अधिक सामान्य और सम्भवतः सबसे प्राचीन परिभाषा गान्धर्व और अथ का सहितभाव (साहित्य) है। 'गान्धर्वे सहितौ काव्यम्' काव्य शास्त्र के अत्यन्त प्राचीन आचार्य भारद्वाज का प्रसिद्ध वचन है। यद्यपि भारद्वाज ब्रह्मात्मिका का वाच्य का स्वरूप मानते हैं फिर भी गान्धर्व और अथ का साहित्य के बिना वह सम्भव नहीं। भारद्वाज के अनुसार गान्धर्व का अनुयायी मुक्तक न ब्रह्मात्मिका से युक्त गान्धर्व का साहित्य की वाच्य मानकर भारद्वाज का अभिप्राय स्पष्ट कर दिया। मुक्तक की ब्रह्मात्मिका का समान अथ आचार्यों ने ध्वनि अलंकार गुण रीति रस आदि में से एक ध्येयवाची तबों से विनिर्दिष्ट गान्धर्व का साहित्य की काव्य का लक्षण माना है। गान्धर्व का साहित्य अथ सभी परिभाषाओं में समान है। तात्पर्य यह है कि गान्धर्व का साहित्य भारतीय काव्य शास्त्र के अनुसार कविता की परिभाषा का एक आवश्यक अंग है। वस्तुतः यही कला के अर्थ रूपों से काव्य का अर्थ भी है। कला का अर्थ रूपों का माध्यम साधन अथवा अथ सहित साधन नहीं। यहाँ हम गान्धर्व का प्रयोग भाषा के व्यवहार में रूप अथ युक्त साधन के अर्थ में करते हैं। यदि सामान्य नाद अथवा ध्वनि का अर्थ में हम साधन की प्रकृति करें तो संगीत भी साधन के अन्तर्गत आ जायेगा। संगीत का गान्धर्व सबसे नाद अथवा ध्वनि है। गुण संगीत में नाद अथवा अथ

का उपयोग ध्यान रखें । यह कवय की वाचस्पत्युक्त प्रथम है । गाना या हय गीत मगीत समझना है यह काव्य और संगीत का सम्मिश्रण है । यन्मगीत व निम्न साधक ध्वनि धाव यह होती तो संगीत व मूल स्वरों की स्थापना पशु गीतों व स्वरों में । वा जानी । विचरना धर्मों (रंग) के माध्यम में रूप की रचना है । भाव का अभिव्यक्ति हमारा भी धारण प्रग नहीं है ध्वन्या प्रत्यनामा (द्वितीय) व सामान भाव इन रचनाओं को विचरना में सम्मिलित नहीं किया जा सकता । नृत्यरत्ना का माध्यम मनुष्या र रंगों की गति है । उसमें भाव का अनुयोग स्वाभाविक है । धन उन भाव स प्रत्यक्ष करना कठिन है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि प्रगा की गति ही नृत्य रत्ना का मुख्य रूप है ।

अस्तु माध्यम की दृष्टि में प्रसिद्ध ग = का प्रयुक्त रूप ध्वन्य कलाओं की तुलना में काय का भेद हो सकता है । किन्तु हम मायता के निर्माण की सफलता ग = और ध्वन्य व ध्वन्य पर निर्भर है । ग = अभिव्यक्ति व मयत मात्र हैं । इनका निर्माण ध्वनियों से होता है जिन्हें वग भी कहते हैं । मन्त्र का वग यह कई ध्वनों का योग है । मूलतः वग साक्षर ध्वन्या धि = को कहते हैं जिसके गारा हम किसी व्यक्ति प्रवेश वह को पश्चात्ते है । अभी ध्वन्य में वग समाज व वगों का वाचक बना । वग रंग की भी कहते हैं । रंग और रूप विचरना के माध्यम हैं । ये विचरना की भाषा हैं । नृत्य का गति और अभिप्रायें भा अभिव्यक्ति व संकेत है । उ हे हम नृत्य की भाषा कह सकते हैं । यदि भाषा का एक व्यापक ध्वन्य में अभिव्यक्ति के प्रगा का समूह मानें तो सभी कलाओं का भाषा का रूप मानना शायद और वग हम सामान्य भाषा के चिह्न होंगे । भाषा और वग के इस व्यापक ध्वन्य से समस्त कलाओं की एक सामान्य परिभाषा हो जाती है । इस परिभाषा के अनुसार कला संकेतों के द्वारा रूप ध्वन्या भाव की अभिव्यक्ति है । यह कला के एक और वाह्य रूप की ही परिभाषा है । उसका सांस्कृतिक स्वरूप विषय अनुभूति है जिसमें हम भाव कह सकते हैं । यदि भाव में रूप की अनुभूति भी सम्मिलित है तो कला की यह सामान्य परिभाषा सभी कलाओं पर लागू हो जाती है । यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न है कि भिन्न भिन्न कलाओं का इसके अतिरिक्त कोई प्रथम विषय रूप भी है जिसके द्वारा वे एक दूसरे में पृथक् समझी जाती हैं । भाषा और वग की जो व्यापक व्याख्या उपर की गई है उसके अनुसार तो कला के माध्यमों में भी भेद करना कठिन है । भारतीय साक्षात् ने कला को काव्य का माध्यम माना है । केवल ध्वनि

प्रभिधाय ही काव्य की भाव गन्धर्व की शक्ति है। काव्य की गन्धर्व में प्रभिधाय के अतिरिक्त अधिक व्यापक भाव का व्यञ्जित करना की शक्ति होती है। इस शक्ति का नाम ही व्यञ्जना है। अतः यद्यपि इस 'ध्वनि' की शक्ति दी है। यद्यपि काव्य की आत्मा मात है। यद्यपि यद्यपि व्यञ्जना का सामान्य लक्षण है। काव्य भाव की अभिव्यक्ति है। यद्यपि अभिव्यक्ति ही शीघ्र या स्वरूप है। चित्रकला में प्रायः एक ही भाव होता है किन्तु प्रायः निम्न चित्रकला में भाव के माध्यम के रूप में ही रूप का दर्शित होता है। पितासा से प्रभावित अति प्राथमिक चित्रकला में तात्पर्य का विवृति के द्वारा भाव की अभिव्यक्ति की जाती है। चित्रकला के प्रतीकात्मक रूप में भाव की ही प्रधानता है। रागीत का गुण रूप चाह ध्वनियों का भावहीन प्रम ही है, रागीत की लय भाव की सहर बनकर ही हमारी चेतना को रसित करती है। नृत्य और मूर्तिकला में तो मनुष्य की देह के माध्यम के प्रायः भाव की अभिव्यक्ति होती है। मनुष्य के अंग विगलित उत्तरा मुक्त चिन्मय भावों की अभिव्यक्ति का सहज माध्यम है। इस प्रकार यदि कला में रूप में रूप का साधन-साधन उत्तरा भाव की अभिव्यक्ति भी माय हो तो फिर काव्य और अन्य कलाओं में माध्यम के रूप के अतिरिक्त और कोई भेद खोजना पड़ित होगा। इसी कारण पश्चिमी शीघ्र शास्त्र में कला के एक सामान्य के अन्तर्गत काव्य को भी सम्मिलित कर रहे हैं। यह कहना भी पड़ित है कि काव्य में भाव की अभिव्यक्ति की क्षमता अधिक है। चित्रकला और नृत्य की ये मुद्राओं में बहुत से भावों की ऐसी मामिक और सजीव अभिव्यक्ति होती है जसी काव्य में दुर्लभ है। अतः आवश्यक है कि सम्भवतः भाव के सभी अभिव्यक्ति विषय और नृत्य के द्वारा अभिव्यक्ति नहीं किये जा सकते। भाव की व्यञ्जना में सम्भवतः काव्य की शक्ति अधिक पापक है। इसीलिये अभिव्यक्ति के माध्यमों में सबसे अधिक समृद्धि भाषा की हुई है।

भाषा का रस के द्वारा भाव की अभिव्यक्ति का साधन है। काव्य में निहित प्रभिधाय की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त एक अनुरक्त और व्यापक भाव की अभिव्यक्ति की भी सामर्थ्य है। प्रभिधाय से भेद करने के लिए हम इस भाव 'शक्ति' कह सकते हैं। काव्य शास्त्र की परम्परा में इस 'व्यञ्जना' कहा जाता है। ध्वनि सम्प्रदाय में रस को मुख्य व्यञ्जना माना है। इसी आधार पर भाव बनकर विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा रसात्मक वाच्यम् की है। ध्वनि अथवा व्यञ्जना काव्य की शक्ति अथवा उसके द्वारा भाव की अभिव्यक्ति की शक्ति है। विभाव, अनुभाव आदि सञ्चारी कारणों के सहयोग से मनुष्य के मन में रस आदि स्थायी भावों का जो परिपाक होता है उसी में रस की

निष्पत्ति होती है। भारतीय ऋग्वेद का मूल उपनिषद्वाक्य 'सर्वं स' में
 खोजा जाता है किन्तु वाय गार्ग्य का मनोवैज्ञानिक रस उससे नितांत भिन्न
 है। यद्यपि पठितराज जगन्नाथ न 'चिन्तावरणभग' के सिद्धांत के द्वारा दोनों
 का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। किन्तु रति आदि से अवच्छिन्न रहने
 के कारण न यह चिन्तावरणभग ही पूर्ण हो सका और न इस समन्वय का
 रूप ही समीचीन बन सका। अवच्छेद भी चित् के आवरण ही हैं। चित् का
 वास्तविक स्वरूप हम अवच्छेदों को अनिक्कात करने ही उदित होता है। इस
 प्रतिक्रांति के क्रम विभाव के विदुषा के अहंकार का विस्तार और विलय
 होता है। वही विस्तार में चित् का आवरण भंग होता है और रस का उदय
 होता है। रस का यही वास्तविक स्वरूप है जिसे उपनिषद्वाक्यों ने ठीक ठीक
 समझा। इसी रस का स्वप्न भान है। बिना विदुषा का एकात्मभाव इस
 का लक्षण है। अनुभूति सहानुभूति आदि से भेद करने के लिए हमने इसे
 समानभाव की सम्भूति कहा है। मोक्ष और समाधि से लेकर हमारे साधारण
 लोक व्यवहार तक इस सम्भूति के सांस्कृतिक का क्रम सम्भव है। वस्तुतः
 सामाजिक जीवन मर्यादा और महत्त्व में वही का मूल भान है का लोभ
 है। वाय गार्ग्य में सामान्य जिम रस माना है वह ऐंद्रिक और प्राकृतिक
 सुख है प्राक्त्व भान है नदी है। वाय गार्ग्य में वाय के भान है का
 लोकोत्तर तथा ब्रह्मानन्द ही माना है। बात नहीं कि वाय का भान है
 किस अर्थ में लोकोत्तर है तथा किम अर्थ में ब्रह्मानन्द का लोकोत्तर है। उपमा
 और अनुमान का बिना ब्रह्मानन्द का प्रयोग में विषयानन्द का भी उल्लेख मिलता
 है। लोकोत्तर से अभिप्राय ऐंद्रिक सुख से अतीत भान है। वायवित्
 इसलिए का भान है का ब्रह्मानन्द का लोकोत्तर कहा है।

कहा जाहूँ कबल अभिव्यक्ति ही और उसमें अभिव्यक्ति के सौन्दर्य
 की दृष्टि से चाहे भाव तत्त्व का अधिक महत्त्व न हो, किन्तु वाय में
 अभिव्यक्ति (हृत्) और तत्त्व ज्ञान का समान महत्त्व है तथा उनके समन्वय
 से ही यह वाय की सृष्टि होता है। वायव्य संहिता का यही तात्पर्य है
 तथा वायोनास की वायव्य सम्पत्ति का यही अभिप्राय है। इस दृष्टि से यदि
 हम वाय का अनुलोचन करें तो हम अधिकतर वाय का भाव-तत्त्व लोभित
 ही प्रतीत होगी। वायव्य गार्ग्य के रसवाद का कल्पना तथा अधिकतर वायव्य
 दृष्टियाँ का उपासन लोभित सम्बन्धों और सुख ही हैं। ऐसी स्थिति में
 वायव्य के मनोवैज्ञानिक भान का आधार बन अभिव्यक्ति की कला ही हो
 सकती है। यह वाय है कि अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में अद्भुत समन्वय है।

यह साधारण को असाधारण तथा लोकिन् को अलोकिन् बना रही है। हमारा साधारण लोक व्यवहार अभिमान पर आधारित होता है। दृगृष्टि से अभिव्यक्ति की यज्ञना अलोकिन् ही है। दृगृष्टि का कोई व्यावहारिक और लोकिन् लाभ नहीं है अतः यह स्वयं अपना सत्य बनकर अलोकिन् मान द की सृष्टि करती है। काव्य शास्त्र और काव्य कृतिओं में इसका इतने व्यापक महत्व का यही कारण है। किन्तु अल्प अभिव्यक्ति का सोच बना और काव्य का सवरूप नहीं है। अभिव्यक्ति के अतिरिक्त रूप में मनो विलास की प्राप्ति होने लगती है।

मनोविलास अवश्य मन का विलास है, वह स्वरूप मा का आनन्द नहीं है। बनाम विपत्त काय में अभिव्यक्ति के रूप का साथ साथ भाव तत्व का भी समान महत्व है। यह भाव तत्त्व मूलतः जीवन का लोकिन् रूप ही है। जीवन के इस लोकिन् रूप के आनन्द के अनुरूप होने पर ही अभिव्यक्ति के सोचद्वय का उचित समन्वय हो सकता है। आनन्द का वास्तविक स्वरूप वही है जिसे उपनिषदों में रस कहा है तथा एकारम भाव इसका लक्षण है। प्राकृतिक सुख से इसका कोई विरोध नहीं है किन्तु इसमें अहित होकर ही प्राकृतिक सुख आनन्द की कोटि तक पहुँच सकता है। इस अवयव में ही जीवन और काव्य के रस तथा आनन्द का स्रोत है। छेद की बात है कि काव्य में यह अवयव दुर्लभ ही है। अभिव्यक्ति के चमत्कार के आनन्द के अतिरिक्त भाव तत्व के समन्वय के आनन्द की क्षमता बहुत कम काव्य में है। अधिकांश काव्य प्राकृतिक और लोकिन् सुख का ही साधन है इसी कारण लोक की उसमें रुचि भी है। ब्रह्मानन्द के सहोदर पद का अभिलाषी होते हुए भी अधिकांश काव्य लोक की प्राकृतिक रुचि का ही रजन करता रहा है। प्रायः इस काव्य में लोकिन् संवेदना के लक्षण को इतनी प्रबलता रही है कि अभिव्यक्ति के अलोकिन् सोचद्वय का चमत्कार भी लोकिन् सुख के प्रतिगत रूप के आकर्षण का ही साधन करता है।

काव्य के समग्र स्वरूप में रूप और तत्व दोनों का समान महत्व है। दोनों के समन्वय से ही काव्य का पूर्ण रूप निमित्त होता है। काव्य के रूप की अभिव्यक्ति अथवा व्यञ्जना कह सकते हैं। काव्य का तत्व जीवन और जगत का सत्य है। अभिव्यक्ति में अहित होकर वह एक व्यापक रूप धारण करता है। सत्य के सागर की सहरों में अभिव्यक्ति के अलोकिन् की निशानें अनन्त ज्योतिषोंकी का निर्माण करती हैं। कल्पना के बीचविलास

में इन लोका का रूप नव नव आभा से निसरता रहता है। उसकी यह निरंतर नवीनता ही सौंदर्य की इस परिभाषा को सायक बनाती है— दायें छायें यशस्वतामूपतित देव रूप रमणीयताता । प्रकृति के काय में नय-नय रूपों की रचना होती रहती है। मनुष्य के काय में भी रचना का यह क्रम अनन्त है। किन्तु मनुष्य का काय इस दृष्टि से भ्रूलोकि है कि विकीर्ण होते हुए भी उसका सौंदर्य और सौंदर्य प्रकृति के पुष्पों की भाँति विशाल नहीं होता। य का य कुसुम अपने अविच्छन्न सौन्दर्य से मानव मन में नित्य नवीन भावों की रचना करते रहते हैं। काय की भाव-योजना की सापेक्षता और समृद्धि का यह पर्याप्त उदाहरण है। यह साकूत और सापेक्ष व्यञ्जना ही विज्ञान ग्राह्य और दशन से कला तथा काय की भेदक है। काय की अभिव्यक्ति का माध्यम 'शब्द' अथ सन्निधान के कारण व्यञ्जना का साधन होने के साथ साथ तत्त्व का वाहक भा है। यह तत्त्व जीवन और जगत का सत्य है। अभिव्यक्ति के माध्यम से वह चेतना का आव तत्व बन जाता है। विज्ञान और ग्राह्य के अभिधान में भी तत्त्व का चेतना से यही सम्बन्ध है। किन्तु उसमें अथ और साकूति की समानता के कारण कोई समत्कार नहीं होता अतः उनमें अव्यक्ति का आलोक तो होता है किन्तु अभिव्यक्ति का आह्लाद नहीं होता। अभिव्यक्ति की अभिधा और साकूति की सापेक्षगीलता दोनों मिलकर काय के भावतत्त्व में सौंदर्य और आह्लाद का संचार करते हैं।

सभी कलाओं में भावतत्त्व का स्थान है और अभिव्यक्ति उनका सौंदर्य है। चित्रकला, संगीत आदि में चाहे रूप की प्रधानता हो किन्तु काय में भावतत्त्व का महत्त्व अभिव्यक्ति के समान है। भाव मध्य का विषय रूप

कारण स्याय का सन्धन मनुष्य के जीवन में बतलाता है किन्तु यह सन्धन
 के एक अनिश्चित बिन्दु के रूप में है। जीवन के सम्बन्धों में उक्त बिन्दु का
 विस्तार सदा एक व्यापक परिधि में होता रहता है। प्रकृति के स्याय में गुप्त
 है जो सम्बन्धनामय है। मनुष्य के जीवन में चेतना का जागरण होने के कारण
 प्रकृति और सम्बन्धना का स्वाध्याय गुप्त अपनी गीमाओं में सुरक्षित नहीं रह
 गया है। चेतना की व्यापकगीतना के गम्हार सहर के प्राकृतिक गुप्त प्राकृतिक
 ध्यान में प्रविष्ट हो गये हैं। उनकी प्राकृतिक भूमि में भी अध्यात्म और
 सत्कृति के समृद्ध वस्त्वत्त पुष्पित हुए हैं। प्राकृतिक गवेषना और प्राकृतिक
 चेतना के इसी सगम में सत्कृति का बीज और रस का सान है। रस-रसम में
 उपनिषदों का आध्यात्मिक रस सोच जीवन की विभूति बनता है। प्रकृति
 की भूमि में यह आत्मा का विलास है। कविता इसी रस की भागीरथी है।

भारतीय काव्यशास्त्र में रस की मनोवर्णनिक व्यक्तित्व और सवे
 दनात्मक मानकर काव्य के विवेचन को एक ऐसे माग पर डाल दिया जो
 जीवन और काव्य दोनों के वास्तविक सत्य से दूर हो गया है। किसी सीमा
 तक यह सत्य है कि जीवन और काव्य दोनों के रस का अनुभव यक्ति के
 आश्रम में होता है और इस अनुभव में महभाव का सत्व भी रहता है।
 किन्तु रस के अनुभव में इनके प्रतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण तत्व है। यही
 तत्व रस के उद्भूत का मुख्य कारण है। जो यक्ति और सम्बेदना काव्य शास्त्र
 में रस के मुख्य उपकरण माने गये हैं वे उसके निमित्त मात्र हैं। रस का
 वास्तविक स्वरूप सामाजिक समात्मभाव है जिस अनुभूति सहानुभूति
 समानुभूति आदि से वृत्त करने के लिए हम सम्भूति कह सकते हैं। क्रीडे
 और भारतीय काव्य शास्त्र दोनों ही एक प्रत्याहार के सीमित रूप में यक्ति
 की कला और काव्य के रस का आश्रय मानते हैं। ऐसे एकात्म यक्ति की
 कल्पना करना कठिन है। उपनिषदों के प्रजापति भी इस एकात्म में मान दे न
 पा सके और उन्होंने मिथुन सृष्टि की रचना की। उसमें प्रवेश करके उन्होंने
 सानन्द की प्राप्ति की। यह प्रवेश आंतरिक एकात्मभाव है। यही रस का
 मूल है। यदि एकात्म सम्भव हो तो उसमें रस का अनुभव तथा कला और
 काव्य की सृष्टि सम्भव नहीं है। एकात्म साधना और एकात्म भाव को एक
 समझना भ्रम है। बाह्य रूप में भवन होते हुए भी हम मन से अकेले नहीं
 होते। भाव प्रवण कल्पना के द्वारा अनेक वस्तुओं और यक्तियों से आत्मभाव
 स्थापित करने हम अपने एकात्म की दृश्यता को सम्पन्न बनाते हैं। यही
 सम्पन्नता सत्कृति की समृद्धि तथा कला और काव्य का स्रोत है।

कना और काव्य के अनेक सिद्धांतों में मानवीय चेतना के इस सांस्कृतिक सत्य का संकेत है किंतु बिना कारणों से काव्य परम्परा में इस मौलिक सत्य का समुचित उद्घाटन नहीं हो सका। भारतीय काव्य शास्त्र में पात्रों के साथ दशक के तादात्म्य के प्रसंग आते हैं। क्रोच की अनुभूति और कौलिंग बुद्ध की कल्पना में भी कला के विषय के साथ कलाकार की चेतना के तादात्म्य का भाव है। बोलवूट और लिप्स के द्वारा प्रतिपादित समानुभूति के सिद्धांत में भी इस तादात्म्य का बीज है। किंतु ये सभी सिद्धांत 'यत्किंच और यद्गुण' के बिंदु में ही इस तादात्म्य का संकेत करते हैं। वस्तुतः यह तादात्म्य स्वीकार नहीं विस्तार है। यह विस्तार चेतना की सहज वृत्ति है। इस विस्तार में महत्कार के बिंदु का विलय नहीं उतपन्न और सामंजस्य है। युगल भयवा अनेक जिंदगियों में युगपत् उदय होने के कारण इसे समात्मभाव कहना उचित है। यह अनुभूति नहीं सम्भूति है। पश्चिमी चेतना की वृत्ति यहिमुक्त है अतः कला के विषय में वस्तुओं का ही प्रसंग प्रमुख रहा। 'यत्किंच सम्बेदना' में सीमित रहने के कारण भारतीय काव्य शास्त्र भी इस सम्भूति की यथोचित कल्पना नहीं कर सका। सत्य यह है कि सृष्टि में विभूत अनेकता होने पर कलाकार की कल्पना मौलिक प्रेरणा से रहित होता है। बाल्पनिक अथवा वास्तविक (और कल्पना का आधार वास्तविक ही होता है) साहचर्य सहकार और सम्बंध के समात्मभाव में ही सृजनात्मक कल्पना की प्रेरणा मिलती है तथा इसी भाव की सम्भूति में सौंदर्य और रस का उदय होता है।

समात्मभाव की सम्भूति जीवन का एक साधारण सत्य है। उपम रहस्य भयवा अलोचिकता की कोई बात नहीं। हम अपने आत्मीय सम्बंधों में प्रायः इसका साक्षात्कार होता है। वस्तुतः मनुष्य के सम्बंध का यह सामान्य भाव है। मनुष्य का स्वरूप आत्मा और प्रकृति का संयोग है। यह संयोग किस प्रकार सम्पन्न हुआ यह सृष्टि शास्त्र का एक अटल पहेली है। जीवन में इन दो विषय सत्त्वों की संगति का सिद्धान्त क्या है यह दर्शन का एक दुरूह प्रश्न है। किंतु सामान्य व्यवहार और अनुभव में इन समस्याओं और प्रश्नों के कारण कोई बाधा नहीं आती। सृष्टि शास्त्र और दर्शन दोनों की कठिनाईयाँ कुछ मायताओं की तक हैं। इन मायताओं में विचार का विनियोग और कारणवाद का आग्रह मुख्य है। विनियोगात्मक ज्ञान के साथ साथ वस्तु रूपों के निश्चिन् परिणाम का निष्ठापूर्ण विचार का स्वभाव है यद्यपि हीनत ने यह दृष्टि किया था कि दूसरी ओर विचार इन परिच्छेदों का

विरोध बन जाता है सभी इस प्रकार का उग्र और अति प्रचण्ड होता है। वाच्य होने का भी यह विरोध एक सामाजिक विषमता उत्पन्न कर देता है। इस विषमता का अन्तर्निहित अन्तर्गत होती है। इसका विपरीत प्रेम और सद्भाव के सम्बन्ध में सामाजिक गति होती है। इसका एक अन्तर्निहित सामाजिक होता है।

अन्तर्गत के विपरीत के इस सामाजिक और अन्तर्निहित सामाजिक में एक व्यापक परिधि की ओर उनका विस्तार होता है। कुछ अन्तर्निहित दशक का विस्तार में अन्तर्गत के विपरीत का विस्तार मानते हैं किन्तु यह अन्तर्निहित नहीं है। वास्तविक मानवीय सम्बन्धों में इस विस्तार के बिना भी हम विस्तार का सामाजिक जानते हैं। वस्तुतः विपरीत का अन्तर्निहित और उनके विस्तार के सम्बन्ध में एकता और अनेकता भेद और अभेद आदि की समस्याओं विचार के अन्तर्निहित अन्तर्गत उत्पन्न होती है। विचार का अन्तर्निहित अन्तर्गत सभी और अनेकता अन्तर्निहित की भी जड़ वस्तुओं की भाँति पृथक् और परिच्छिन्न रूप में देखना चाहना है। किन्तु सभी और अनेकता अन्तर्निहित में प्रकृति के परिच्छिन्न की सीमाओं अन्तर्गत तथा उसके नियमों की नियमि मृदुल हो गई है। इसी मृदुलता और अन्तर्गत में अन्तर्गत के साथ सामाजिक की ओर प्रकृति का अन्तर्गत सम्भव हो सका है। मनुष्य जीवन में प्रकृति के इस अन्तर्गत के कारण प्रकृति के नियमों और विचार के सिद्धांत के अन्तर्गत जीवन के अन्तर्गत का निर्माण नहीं हो सकता। इसी अन्तर्गत से अनेकता के लिए अन्तर्गत के विपरीतों ने अनेकता को अन्तर्गत अन्तर्गत की निष्ठात्मक और अन्तर्निहित सत्ता दी। अन्तर्गत का अन्तर्गत यही है कि प्राकृतिक सत्ता और विचार प्रणाली का अन्तर्गत अन्तर्गत जीवन और अन्तर्गत के क्षेत्र में अन्तर्गत नहीं है। भेद के निष्ठा का अन्तर्गत एकत्व की स्थापना नहीं है। वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट कहा है कि अन्तर्गत का उद्देश्य भेद का निराकरण है अभेद की स्थापना न हो एकत्व प्रकृति की सत्ता का रूप और विचार का अन्तर्गत है और दूसरी ओर वह अनेकत्व के साथ है। विचार के इसी द्वन्द्व की सत्ता में जीवन और अन्तर्गत का सत्य तिरोहित हो गया। एकत्व का अन्तर्गत और स्वीकरण प्राकृति के रूप और विचार के अन्तर्गत में जीवन का अन्तर्गत समर्थ है। मानवीय सम्बन्धों के सामाजिकभाव का रूप एकत्व और अनेकत्व के नियमों से अन्तर्गत है। वस्तुतः वह दोनों का सामाजिक है। सामाजिक सम्बन्धों में हमें सामाजिक का सामाजिक होता है। कला और सस्कृति की स्थापना का अन्तर्गत यही सामाजिक है। वाच्य और अन्तर्गत अन्तर्गत के द्वारा यह सामाजिक जीवन को समृद्ध बनाता है।

प्रकृति की सत्ता और विचार व निष्कर्षों के एतत्त्व और घनेतरव तथा परिश्रम और पृथक्त्व में अतीत समात्मभाव का सामाज्य ही कला और सोच का मूल है। किंतु प्रकृति व प्रभाव और विचार के आग्रह के कारण कला और वाक्य के अनेक सिद्धांतों में इसके विपरीत स्थापनाएँ मिलती हैं। इन स्थापनाओं में प्राकृतिक पदार्थों की सत्ता और विचार के आग्रह के अनुरूप कलाकार, दशक अथवा पाठक के विविक्त यक्ति-व को ही कला अथवा वाक्य की रसानुभूति का आधार माना गया है। यन्त्र कलाकार अपनी आन्तरिक अनुभूति का ही सबसे मानकर इसी से उत्पन्न रहता है तो कला की बाह्य अभिव्यक्ति और कलाकार के अतिरिक्त वाक्य सामाजिक के द्वारा उसके रसास्वादन व प्रसंग में पदा होने वाली समाख्याएँ न उठती। कलाकार की अपनी कलानुभूति की पूराता के लिए स्वातंत्र्य सुलभ ग्राह्य अभिव्यक्ति की आकांक्षा भी होती किंतु यदि वह उसे दूसरा तब न पहुँचाने देता तो भी इस परिस्थिति में कोई अंतर न पड़ता। सत्य यह है कि अभिव्यक्ति मनुष्य की चेतना का स्वभाव है। जिस ज्ञान के अनुसंधान में या तब तक जिज्ञासा मनुष्य का प्रेरित करती है उस ज्ञान को भी वह दूसरों के प्रति प्रकट करने के लिए आह्वान ही उठता है। सोच की अनुभूति या उस अभिव्यक्ति के लिए उत्पन्न बना देती है और वह दूसरा का अपनी अनुभूति में भाग लेने के लिए आमंत्रण देता है। कलात्मक अभिव्यक्ति इसी आमंत्रण की भाषा है। अमर्य कला कृतियाँ और वाक्यों में यही आमंत्रण साकार हुआ है। यह आमंत्रण कला और वाक्य के सामाजिक स्वरूप का सूचक है। कला का यह आमंत्रण उसके स्वरूप को व्यक्तित्व अनुभूति के स्थान पर सामाजिक समात्मभाव की सम्भूति बना देता है।

यस्तुतः यही सम्भूति कला और वाक्य का मूल स्रोत है। किंतु पूर्व और पश्चिम के प्रायः सभी सिद्धांतों में कला और सोच की अनुभूति को व्यक्तिनिष्ठ माना गया है। दूसरी ओर कला की बाह्य और सामाजिक अभिव्यक्ति ने इन विचारकों और आचार्यों को यह मानने के लिए विवश कर दिया है कि दूसरे लोग भी कलाकारों की इस अनुभूति में भाग लेकर रस का अनुभव करते हैं। कलात्मक अनुभूति को व्यक्तिनिष्ठ मानने के कारण दूसरों के रसास्वादन की भी अतिरिक्तता व आधार पर ही व्याख्या करने के लिए वे विवश हुए। एक दूसरे के अनुभव में भाग लेने की स्वाभाविक क्षमता जीवन का एक गायारण सत्य होते हुए भी इन आचार्यों को कला और वाक्य के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण न जान पड़ी। अतः उन्होंने व्यक्तिनिष्ठता के आधार

भारतीय काव्य शास्त्र में अनुभूति को सीमित अर्थ में व्यतिनिष्ठ मानने के कारण अनेक समस्याएँ पैदा हुईं और इन समस्याओं के दुरुद्ध समाधान किये गये। व्यक्तित्व के सिद्धांत को मानकर एकबार अभिनेता और दर्शक के मूल पात्रों के साथ तत्पू होने की कल्पना की गई। धार्मिक कथानकों के प्रसंग में इस तद्रूप भाव में पातक की भागना प्रकट हुई। सामाजिक कथानकों के प्रसंग में भी यह पातक की गमावना हमारी दृष्टि में समानरूप से उपस्थित होती है। इसके अतिरिक्त मनोविज्ञान के एक इस तत्पूता का खंडन करते हैं। हम अभिनय को वास्तविक घटना नहों समझ सकते और न हम अपने व्यक्तित्व को भूलकर पात्रों के समान व्यवहार अपेक्षा अनुभव करने लगते हैं। अभिनेता के संबंध में भी यही सत्य है। पात्रों का अनुकरण करते हुए भी अभिनेता अपने व्यक्तित्व को भूल नहीं जाता। अपने व्यक्तित्व की धुरी में स्थिर रहकर ही वह अभिनेय पात्रों के चरित्रों व क्षितियों का विक्षेप करता है। इस विक्षेप की सफनता ही उसका कीर्ण है। इस विक्षेप के कीर्ण का मूल हमारे समात्मभाव की वही क्षमता है जिसके द्वारा हम दूसरों के अनुभवों में भाग लेते हैं। व्यक्तियों की तत्पूता की उक्त धार्मिक और मनोवैज्ञानिक आपत्तियों का समाधान करने के लिए काव्य शास्त्र में साधारणीकरण के सिद्धांत का उदय हुआ। साधारणीकरण बुद्धि का धर्म है। बुद्धि का आधार सगुण है। इसके विपरीत रागात्मकता व्यक्तित्व का विशेष लक्षण है। रजोगुण राग का आधार है। साधारणीकरण और व्यक्तिवाद के दोनों पक्ष मनुष्य के व्यक्तित्व के इन दो प्रमुख तरवों का प्रत्याहार करके एकांगी भाव से उन पर आश्रित हैं। आश्चर्य की बात है कि एकांगी व्यक्तिवाद पर आश्रित होते हुए भी भारतीय काव्य शास्त्र ने साधारणीकरण के विपरीत मत का प्रतिपादन किया है। काव्य शास्त्र की माय्यता में अंतर्निहित तथा मनोविज्ञान से सम्मत व्यक्तिवाद के आधार पर साधारणीकरण अनुभव द्वारा असिद्ध है। वस्तुतः मनुष्य के व्यक्तित्व में सर्वगुण और रजोगुण दोनों का समावय है। इसी कारण अहंकार की धुरी पर जीवन की परिक्रमा करते हुए भी व्यक्तित्व की गृध्वी साधारणीकरण के क्षितियों का भी स्पर्श करती है। तम प्रधान देह की धरती व अचल में सत्य का आलोक और रजस का राग एक अद्भूत रूप में समाहित है। इस समाधान के द्वारा ही व्यक्तित्व की गृध्वी के पंख साधारणीकरण के आकाश के क्षितियों का स्पर्श करते हैं। यही समाधान क्षितियों के पलकों का मजान और रगीन स्वप्न बनकर जीवन और काव्य में स्नेह और सौंदर्य की गृष्टि करता है।

वस्तुतः साधारणीकरण के क्षितिज की छाया हमारे समस्त प्रत्यक्षा और अनुभवों में रहती है। इसी साधारणीकरण के आधार पर साहित्य विज्ञान दान और व्यवहार में सामाजिक समिति पदा होती है। इस विना हमारा समस्त जीवन अहंभाव के बिंदुओं में सीमित रह जायगा। हमारा जगत सादृशीय के जगत की भांति वातायन विहीन चिद् बिंदुओं का जगत बन जायेगा। पूणतः सबंध रहित अनेकता इसका रूप होगी। इस अनेकता में किसी परमेश्वर द्वारा संहित सगुण का कोई आत्मिक प्रयाजन न होगा। किंतु अनेकता का यह रूप हमारे वास्तविक अनुभव और व्यवहार से असिद्ध है। चेतना प्रकृति के परिच्छेद बहिष्करण आदि नियमों का पालन करने के लिए विवश नहीं है वह इन नियमों की ताता होने के कारण ही इनसे प्रतीत है। प्रकृति की परस्पर बहिष्कारमूलक अनेकता तथा चेतना की पूण एकता के बीच में हमारे लौकिक व्यवहार और सांस्कृतिक अनुपालन का समस्त क्षेप है। प्रकृति की परस्पर बहिष्कारमूलक कृति यत्ति की चेतना का प्रह्वार के बिंदु में केन्द्रित करती है, किंतु हम बिंदु की परिधि में चेतना की व्यापकता का असमीम सागर समझता है। चेतना की छाया पाकर प्राकृतिक इन्द्रियों भी दूरगामिनी अथवा दूर ग्रहिणी बन गई हैं। मन और कल्पना की गति तो पूणतः स्वच्छंद है। बुद्धि में प्रकृति और चेतना दोनों के सदाओं का मगम है। यह एक द्वार विस्मरण के द्वारा परिच्छेदों का विधान करती है, दूसरी ओर साधारणीकरण की कृति द्वारा परिच्छेदों की अनेकल्पना में एकल्पता का मूलपात्र करती है। यह ठीक है कि यह एकता एक प्रत्याहार है। किंतु वास्तविक अनुभव और व्यवहार में बुद्धि के सहभाग से ही हम इस एकता का सजीव और सम्बन्ध रूप प्राप्त होता है। सजीव और संपन्न होने के कारण यह एकता प्रपक्ष की ओर विचार की इच्छाओं की भांति विविक्तता का एकांत नहीं है। हम इसे अनन्य चिद्बिंदुओं का समात्मभाव कह सकते हैं। यह समात्मभाव हा कला और वाच का मूल है। इसी के द्वारा हम दूसरों के अनुभव में भाग लत हैं। प्रेम और सींद्य के अनुभव तथा कला और वाच की मृष्टि इसी पर आश्रित है। यह समात्मभाव न प्राकृतिक यत्तिवा है और न बौद्धिक साधारणीकरण जिसमें व्यक्ति का विषय हो जाना है। प्रेम और शृंगार तथा अथ आत्मीय गवधा में हमें सजीव और साक्षात् अनुभव होता है।

प्राप्त्य की बात है कि भारतीय वाचशास्त्र के आचार्यों ने एक द्वार मनोवैज्ञानिक यत्तिवा की अपने रस सिद्धांत का आधार बनाया और दूसरी

और साधारणीकरण के पूणत बौद्धिक और विपरीत सिद्धांत का प्रतिपान्न किया। व्यक्तिवाद के ध्रुव से एजन्स मूलकर के सामा यता के दूसरे ध्रुव पर पहुँच गये। इस छद्मांग के कारण के जीवन और वाक्य व वास्तविक अनुभव और व्यवहार की भूमि का अनुभव नहीं कर सके। जीवन और वाक्य का वास्तविक सत्य वाक्य साम्य की इस गति व बिन्दु पर विपरीत है। उमम व्यक्तित्व की भूमिका में बौद्धिक साधारणीकरण नहीं होता वरन् साधारणीकरण की सामान्य और अनगिनत भूमिका में विनोदीकरण होता है। किन्तु यह विनोदीकरण प्रत्यक्ष और बुद्धि के प्रत्याहार की भाँति वस्तुवा अथवा यक्तिया का परस्पर प्रवक्तरण अथवा बहिष्कार नहीं है वरन् उनकी परस्पर सागति और उनका आंतरिक समात्मभाव है। इस भाव को स्पष्ट करने के लिए डाक्टर आनन्द के द्वारा दिया हुआ समुद्र के द्वीपों का उदाहरण सबसे उपयुक्त और उत्तम है। वे पृथक् हाकर भी आंतरिक सम्बन्ध से एक होते हैं। द्वीपों के जड़ उदाहरण का सहीव रूप हम मानवीय सम्बन्धों की आंतरिक एकात्मता से मिलता है।

भारतीय वाक्य शास्त्र की भाँति पश्चिमी सौ दश शास्त्र के कुछ प्रमुख सिद्धांतों में भी व्यक्तिवाद का ही आधार रहा है। प्राय सभी आचार्य यही मानते हैं कि सौ दश के सृजन में कलाकार अपने विषय से एकाकार हो जाता है। यन् स नयता ही कलात्मक अनुभूति का मूल स्वरूप है। लिप्प ने इस समानुभूति का नाम दिया है। क्रोच ने इसे सामान्यत अनुभूति कहा है। दोनों ही कलाकार अनुभूति के साथ पूर्ण एकता स्थापित करते हैं। एकात्मभाव को मानते हुए भी दोनों मायतामा का आधार व्यक्तिवाद है। उसकी अनुभूति वना त के ब्रह्म की भाँति अपनी निरपेक्ष सत्ता के आध्यात्मिक तत्त्व से रूपों का सृजन करती है। इस सृजन को क्राचे ने अभिव्यक्ति की संज्ञा दी है। अनुभूति और अभिव्यक्ति को उन्होंने एकाकार माना है। उनके अनुयायी कर्टि ने इस एकीकरण पर आपत्ति की है। किन्तु कला के प्राबुनिक क्षेत्र में क्राचे का मत बड़ा ही प्रभावशाली रहा है। ज्ञात नहीं कि ऐसी गूढ़ अनुभूति की व्यक्तिनिष्ठता कैसे माय हो सकी। अनुभूति के जिस स्वरूप को क्राचे सत्य और सुंदर मानते हैं उसमें व्यक्तिमूलकता का कोई नकार गप नहीं रह जाता। वह वेदांत के ब्रह्म के समान ही निर्विनाश सामान्य और अनंत है। यह अभि व्यक्ति पूणत आंतरिक है और उस अभिव्यक्ति के रूप आध्यात्मिक तथा अनुभूति की आत्मगत सृष्टि है। क्रोच व अनुसार वास्तव जगत और कला की बाह्य अभिव्यक्ति दोनों का महत्व गौण है। व उपचार

मात्र हैं उनका स्थान वेदांत की माया व समान है। ऐसी अवस्था में कविता और काव्य की बाह्य मृष्टि का महत्व बहुत कम रह जाता है। वह वास्तविक सो दय का वास्तविक और उच्चुक्त माध्यम नहीं है। यक्ति की अनुभूति में केन्द्रित होने के कारण सौन्दर्य की भावना के सर्वहन का कोई भाग नहीं है। सो दय एवांत अनुभूति है। वह सामाजिक मयात्मभाव की विभूति नहीं।

कीर्तिगुप्त भी क्रीच के अनुयायी हैं। उनके कला मिष्टांत की दार्शनिक भूमिका में क्रीचे व समान हीगल का अन्त्यात्मवाद है। उन्होंने क्रीच की अनुभूति के लिए 'कल्पना' पद का प्रयोग किया है किन्तु प्रत्येक स्थान पर कला क्रीडा कल्पना सो दय धारि का समानाधिकरण के रूप में प्रयोग धारि उत्पन्न कर देता है। कीर्तिगुप्त की कल्पना का रूप बहुत कुछ क्रीच की अनुभूति व समान ही प्रतीत होता है। कल्पना में चेतना की सक्रियता और रचनात्मकता की भावना अधिक स्पष्ट है। किन्तु मिष्टांतत क्रीचे की अनुभूति भी सक्रिय और रचनात्मक है। अतः अनुभूति और कल्पना में कोई मौलिक भेद नहीं है। अनुभूति चेतना की मौलिक अवस्था है जिसमें वह स्वयं अपने विषयों का सृजन करती है। इस प्रकार क्रीचे ने कलात्मक अनुभूति में मौलिक रूप की स्थापना की है। कीर्तिगुप्त की कल्पना चेतना का वह व्यापार है जिसके द्वारा वह बाह्य विषयों का अनुभावन करती है। किन्तु इस अनुभावन में सौन्दर्य का उन्मत्त ही होना है जब कल्पना के द्वारा चेतना विषयों का आत्ममृष्टि के रूप में अनुभावन करती है। अतः यह क्रीचे की अनुभूति की ही अवस्था है। बाह्य विषयों के सम्बन्ध का प्रसाध होने के कारण व्यवहार में हम सौन्दर्यानुभूति की कल्पना का फल मान सकते हैं किन्तु सत्यतः कीर्तिगुप्त की कल्पना क्रीच की अनुभूति ही है। उसका रचनात्मक व्यापार भी अतः एक आंतरिक अभिव्यक्ति ही है। केवल चेतना अंतर है कि कल्पना के अनुभावन धर्म व द्वारा कीर्तिगुप्त उदात्त और समुत्तर की व्याख्या अधिक सफलता पूर्वक कर सके हैं। उनके अनुसार उदात्त और समुत्तर का सौन्दर्य के माध्यम से जातिगन भेद नहीं है। व सौन्दर्य की वे कोटियाँ हैं जिनमें कल्पना के अनुभावन का व्यापार पूरा नहीं हो पाता। अतः भेद और विषमता के कारण वे उदात्त और समुत्तर प्रतीत होते हैं। कल्पना का अनुभावन पूरा होने पर वे ही सुंदर बन जाते हैं। अतः व कला के प्रमाण हैं। कला का पूरा रूप समुत्तरम् है जो कल्पना की पूरता में उद्भिन्न होता है। कीर्तिगुप्त ने कल्पना के आश्रय और स्वयं की यक्ति

निष्ठता घणवा सामान्यता को स्पष्ट नहीं किया है। किंतु ब्राह्म के समान कलाकार के व्यक्ति को कलाविवेचन का केन्द्र माना के कारण उसकी धारणा का आधार भी क्लेश के समाप्त ही व्यक्तिगत है। ब्राह्म के समाप्त उनके मत में भी व्यक्तित्व के विशेषण न स्पष्ट हैं और न सम्भव हैं। य हीगन के अध्यत्मवात् पर आधित सौंदर्य शास्त्र की स्वाभाविक कठिनाइयाँ हैं। अनुभूति घणवा कल्पना की वैनीयता में तमय रहने के कारण क्लेश और बोलिगबुद्ध दोनों के मत में सौन्दर्यानुभूति के विभाजन सम्बद्धान और समारम्भ भाव के आनन्द के लिए अवकाश नहीं है।

सिन्धु का सहानुभूति का सिद्धांत स्पष्ट रूप से मनोविज्ञानिक और व्यक्तिवादी है। उनमें किसी अध्यत्मवाद का आधार घणवा आग्रह नहीं है। किसी सीमा तक यह सहानुभूति हमारे सामान्य व्यवहार का एक साधारण तथ्य है। किसी वस्तु अथवा व्यक्ति में हमारी रुचि तीव्र होती है जो हम प्रायः उनके साथ अपने को तद्रूप कर देते हैं तथा उसी के समान अनुभव और व्यवहार करने लगते हैं। मनोविज्ञान में इसके अनेक उदाहरण दिए जाते हैं। बूढ़वय ने अपने प्रथम में खेल का उदाहरण और चित्र दिया है। खेल में खिलाड़ियों के साथ दर्शकों की ऐसी सम्पत्ता जाती है कि वे भी उनके साथ खेल में भाग लेने लगते हैं। भाव और क्रिया की तद्रूपता का प्रमाण यह है कि दर्शक भी खिलाड़ियों के समान उत्साह तथा आवेग का अनुभव करते हैं तथा व्यवहारिक रूप में खिलाड़ियों के अनुरूप क्रियाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी मानसिक और भाविक अवस्था खिलाड़ियों के समान होती है। रस्सा कूची में दूर खड़े हुए दर्शक भी सचमुच जोर लगाते हैं। गाँव में जो छप्पर उठाया जाता है तो उसमें दूर खड़े हुए दर्शक भी अपने शरीर और मन का जोर लगाते हैं। जीवन का यह साधारण सत्य सहानुभूति और अनुकरण के तुल्य है। सहानुभूति और अनुकरण दोनों की ऐसी क्रियाएँ हैं जो भ्रमूलक हैं तथा मूल क्रिया के बाह्य होती हैं। मूल क्रिया वास्तविक पात्र का काम है उसके साथ कोई दुःखद घटना होती है तो हम उसके बाद उसके साथ सहानुभूति प्रकट करते हैं। अधिक से अधिक हम घटनाकाल में साथ ही सहानुभूति प्रकट कर सकते हैं। घटना के पूर्व सहानुभूति का प्रश्न ही असंगत है। दूसरे हम सहानुभूति में दूसरे व्यक्ति के साथ तद्रूप नहीं हो जाते और न उसके समान व्यवहार करते हैं। हम रोने वाले के साथ स्वयं नहीं रोते बल्कि उसे समझा बुझाकर सात्वना देते हैं। सहानुभूति की इस क्रिया में हम अपने को दूसरे

स भिन्न मानकर ही प्रवृत्त होत हैं। उसी प्रकार अनुकरण भी समान काल में और तत्परा भाव से नहीं होता। अनुकरण तो स्पष्ट मूल क्रिया व वातावरण होने वाली क्रिया है। मूल कृता से हम अपने को भिन्न मानकर उत्तरकाल में उसकी क्रिया का अनुकरण करते हैं। यदि सहानुभूति समानकाल में सम्भव है तो अनुकरण बाद में होता है और दोनों में मूल कृता और उपकृता में भेद है। उसके विपरीत समानुभूति में तत्परा का भाव होता है तथा वह मूल क्रिया के पूर्व ही सम्पन्न हो जाती है। अनुकरण स भेद करने के लिए बुद्धि ने समानुभूति की पूर्ववर्तिता पर जोर दिया है। किन्तु सम्भवतः कला के रसास्वादन में इसका प्रतिपादन करने वाले तत्परा के तत्त्व का मूल मानते हैं।

कला काय और साहित्य के रसास्वादन में कला सीमा तक यह समानुभूति का सिद्धांत सत्य है। उदाहरणार्थ तथा नाट्य में प्रायः पाठकों उनके नायकों के साथ तत्परा के भाव से ही उन कृतियों में रुचि लेते हैं। भारतीय काय शास्त्र में भी नाट्य के अन्तर्गत रसास्वादन के सम्बन्ध में इसी प्रकार के मत की स्थापना की गई थी। यद्यपि उसमें कुछ आपत्तियाँ उपस्थित होने के कारण साधारणीकरण आदि के समाधान पर ध्यान देना पड़ा। यह सहानुभूति कला के द्वारा होती है। 'व्यक्ति' और महानुभूति की वास्तविक तत्परा सम्भव है। किन्तु कला की शक्ति अपार है। सृजनात्मक होने के कारण वह वास्तविक के प्रतिरिक्त अथवा अनन्त भावों का सृजन कर सकती है। तत्परा उनमें से ही एक भाव है। किसी अर्थ में यह साहित्य के रसास्वादन का ही नहीं जीवन का एक साधारण सत्य है। किन्तु सम्भवतः हम तत्परा में पूर्ण एकता नहीं होती। हम अपने 'व्यक्ति' का भूत नहीं जाते। यदि यह तत्परा पूर्ण होगी तो इसका रूप एक शक्ति भ्रम होगा जो गीत ही नष्ट हो जावेगा। ऐसा शक्ति भ्रम साहित्य के स्थायी मूल्य और उसमें हमारी स्थायी रुचि का आधार नहीं हो सकता। समानुभूति की तत्परा से अधिक व्यापक और स्थायी हमारी चेतना का एक दूसरा भाव है जिसे हम समात्मभाव कह सकते हैं। समात्मभाव में सामान्यतः अपने व्यक्तित्व में भिन्न रहते हुए भी दूसरों के अनुभव में भाग लेते हैं। अस्तु यही समात्मभाव कला और वाक्य के सौन्दर्य तथा रस का मूल है। यदि हम समानुभूति के सिद्धांत को सत्य भी मानें तो भाव केवल समानुभूति के आधार पर कला और वाक्य के नौ द्य की समुचित व्याख्या नहीं हो सकती। समानुभूति व्यक्तियों की तत्परा है। न अपने मूल रूप में और न अपनी

तद्रूपता में बसत व्यक्तिस्त जला के सी दण का आधार है। व्यक्तित्वा के समात्मभाव में ही जला का सौम्य उदय जाना है। समानुभूति की तद्रूपता की अवस्था में भी सामान्य जीवा की भाँति हमारा व्यवहार तथा त नहीं होता। हम दूसरे व्यक्तित्वा के साथ समात्मभाव से एक दूसरे के अनुभव में भाग लेते हैं। नाटक उपन्यास आदि में नायक के साथ तद्रूपता के द्वारा हम इसी समात्मभाव का लाभ करते हैं। किन्तु यह भावपूर्ण नहीं है और जला एक वायु के रसास्वादन की सभी परिस्थितियों में चरिताय नहीं होता। इस तद्रूपता के बिना अपने व्यक्तित्व के द्वारा भी हम इसकी प्राप्ति कर सकते हैं।

केवल व्यक्ति के सीमा में प्राकृतिक क्रियाओं और अनुभवों का कुछ सी सम्भव है किन्तु साहित्यिक रस और सांस्कृतिक मान्यता की याह्रा व्यक्तित्व की सीमा में नहीं हो सकती। समात्मभाव के द्वारा एक दूसरे के अनुभव के भागी बनकर ही हम साहित्य और सस्कृति के अनुरागी बनते हैं। सीमित अर्थ में व्यक्ति के मानव जीवन के प्राकृतिक धर्म के अतिरिक्त और कुछ नेप नहीं रह जाता। एक खोजनक सत्य यह है कि साहित्य में भी प्राकृतिक धर्मों का आधार बहुत है। इसीलिए समानुभूति से सूचित व्यक्तित्व की तद्रूपता के द्वारा हम अधिकांश साहित्य का रसास्वादन करते हैं। नाटक अथवा उपन्यास के नायक बनकर हम समानुभूति के रूप में अनेक साहसपूर्ण कृत्य करते हैं तथा प्रेम प्रशंसा सफलता आदि के गौरव प्राप्त करते हैं। किन्तु प्राकृतिक धर्मों की गति प्रियमुखी है। प्रकृति में जो अप्रिय है उसकी ओर हम स्वभावतः विमुख होते हैं। यह कहा जा सकता है कि यह विमुखता भी काल्पनिक तद्रूपता के द्वारा ही होती है। किन्तु वस्तुतः यह दूसरे व्यक्तित्व के साथ तद्रूपता नहीं है वरन् यह अपने ही पूर्व व्यक्तित्व के साथ तद्रूपता है। इसका आधार अपने ही पूर्व अनुभव की स्मृति है। इस अनुभव की सीमा के बाहर हमारे प्राकृतिक व्यवहार की विमुखता साम्य अथवा अनुमान के द्वारा होती है। वस्तुतः जिसे समानुभूति कहा जाता है वह प्रायः पूर्वानुभूति है। उत्सुकता और उत्साह में हम दूसरों के अनुकरण के लिए व्यवहार के एक आदर्श का रूप प्रस्तुत करते हैं अथवा उन्हें अपने भाव और क्रिया का सहयोग देते हैं। खेल की समानुभूति में तो यह अधिक सत्य प्रतीत होता है। खेल के अतिरिक्त जीवन अथवा साहित्य में अनेक सभी क्षेत्रों में समानुभूति की सिद्ध करना कठिन है। नीचे कुछ घाततायियों के व्यवहार के साथ हमारी सामान्य समानुभूति गाय नहीं है। भाषा और अतिचार की अनेक

ऐसी स्थिति या है जिनमें समानुभूति की अपेक्षा हम अपने को अलग समझने में अधिक गौरव मानते हैं। खेल में जिस वर्ग के साथ हमारी सहानुभूति है उससे साथ समानुभूति भी हो सकती है किन्तु दूसरे वर्ग के कौशल का रसास्वादन हम किस प्रकार करते हैं। साहित्य के रसानुराग तथा सामाजिक व्यवहार के प्रेम और सत्भाव में तनूयता की अपेक्षा समात्मभाव अधिक रहता है। यह समात्मभाव में व्यक्तित्व की तनूयता का तो कोई प्रदन ही नहीं है अनुभूति की एकरूपता भी आवश्यक नहीं है। समात्मभाव का अभिप्राय केवल दूसरों की अनुभूति में भाग लेना है। उसे अपनी अनुभूति बनाने का प्रयत्न तनूयता नहीं है। वह समात्मभाव व्यक्तित्व के सामाजिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध तथा आनन्द का मूल है। प्रकृति विज्ञान गणित और तकनीक नियमों की साक्षीभावता का आग्रह छोड़कर ही हम मानवीय चेतना और संस्कृति में इस सारभूत सिद्धांत का मर्म समझ सकते हैं।

यही समात्मभाव कला और काव्य के रस और सौन्दर्य का मूल है। यही हमारे सामाजिक व्यवहार में स्नेह, सद्भाव और आनन्द का सूत्र है। अभिव्यक्ति और कल्पना के अतिरिक्त व्यवहारिक जीवन और कला में कोई विरोध अन्तर नहीं है। यह अभिव्यक्ति और कल्पना भी सामान्य जीवन में पर्याप्त मात्रा में मिलती है। कलाकार और कवि में इसका विशेष उत्थप होता है। यही उनकी विशेषता है। कल्पना इस समात्मभाव के विस्तार और तीव्रता की मानसिक शक्ति है। अभिव्यक्ति उसके संप्रेषण का माध्यम है। यदि क्रोध की भावना के अनुस्यूत बनना और अभिव्यक्ति एक नहीं है तो भी वे एक दूसरे की पूरक और सहयोगी अवश्य हैं। कला और काव्य की उत्कृष्टता इन दोनों की समगति पर निर्भर होती है। जो समात्मभाव कल्पना में सिद्ध होता है वह अभिव्यक्ति में साधक होता है। जीवन में कला और काव्य की समप्रवाहिनी कल्पना और अभिव्यक्ति के दो मूलों में बहती है। समप्रवाह की दृष्टि से दोनों मूल उसका आंतरिक अंग हैं। वस्तुतः अन्त नहीं वे उसके स्वरूप की मर्यादा के संक्षेप हैं। सामान्यतः सभी कलाओं में रस का सर्वव्यापकत्व है। सांसारिक भाषा में रस ही ब्रह्म है। संस्कृति की भाषा में रस ही जीवन है और कला की भाषा में रस ही सौन्दर्य है। रस मध्यात्म का मध्य व्यवहार का गीतम् और कला का सुन्दरम् है। रस ही मध्यात्म जीवन संस्कृति और कला की एकता का सूत्र है। कला के अनेक रूपों में यह रस अनेक आकारों में मिलता है। चित्रकला की कृतियाँ रंग के गुदर सरोवर हैं। संगीत के राग उससे मनोहर उत्स हैं। रस के प्रवाह की धारा काव्य में

घोर विरोध का प्रबन्ध काव्य में मिलती है। मुग्ध तथा नीचकाव्य रस के उगम प्रपञ्चों में भी है। उच्च जीवन की गति और प्राणों का गीत है विष्णु प्रवाह की प्रपाता नहीं है। जीवन में उच्चता का सौन्दर्य और उच्चता महत्ता है विष्णु जीवा के विनाश दोष को पवित्र और पवित्र करने वाली कविता की रस भागीरथी गंगा का समान ही जीवा और सम्भूति की माता है।

कविता की यह रस भागीरथी सत्य का उदभव और साधना के हिमालय के अस्तित्व और दुग्ध गह्वरों से निजमकर सोन जीवन की भाव भूमि में प्रवाहित होती है। जीवन की उन्मास सत्य का द्रव्य ही इसका उद्गम है। जीवन के स्वास्व्य और नरेश्वर के तीर्थ इसी तट पर बस हुए हैं। जीवन की गति के समान इसका वेग निरन्तर है। जीवन की सम्भूति इसके अन्तर की गरिमा का रहस्य है। काल की गति के समान ही इसका प्रवाह अनन्त है। मनुष्यों के समात्मभाव की सम्भूति में काव्य के रस का उद्भव होता है। कविता का केवल विषय और उपयोग ही सामाजिक नहीं है उसका स्वरूप भी सामाजिक है। कलाकार को एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में लेकर जिन्होंने कला अथवा काव्य के स्वरूप की उसकी कल्पना अथवा चेतना की आन्तरिक सृष्टि माना है वे उसके इस सामाजिक स्वरूप की उपेक्षा करते हैं। कविता का समस्त विषय सामाजिक है। इस सामाजिकता में सत्य समात्मभाव न होने पर भी इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता कि यह समात्मभाव ही कला और काव्य का स्रोत है। समात्मभाव की रक्षायक अनुभूति का हृदय देने के लिए हा मानव मनुष्य ने अभिव्यक्ति का भाषाओं का निर्माण किया। इस अभिव्यक्ति का मूल स्वरूप आन्तरिक ही है और इस दृष्टि से वह अनुभूति के साथ एकाकार है। कला के इस मम का उद्घाटन करके क्रीचे ने सौन्दर्य शास्त्र का जो उपकार किया उसके लिए मनुष्य जाति सदा उसकी ऋणी रहेगा। किन्तु यह आन्तरिक अभिव्यक्ति भी कलाकार को केवल व्यक्तिगत अनुभूति नहीं है। यत्तित्व के अहंभाव और उसकी इकाई की परिधि इस अनुभूति की अन्तिम सीमा नहीं है। केवल आत्मानुभूति अथवा समानुभूति न होकर समात्मभाव इस कलात्मक अनुभूति की अन्ततम भूमिका है। जिस प्रकार क्रीचे के उद्घाटन के पूर्व शुद्ध अनुभूति के मम को कला और काव्य के क्षेत्र में स्पष्ट न समझा गया था उसी प्रकार क्रीचे के ध्यान भी इस शुद्ध अनुभूति के पीछे उसके आधारभूत सत्य के रूप में निहित समात्मभाव को स्पष्ट नहीं समझा गया। यह समात्मभाव सम्प्रेषण नहीं है बल्कि उसका आधार तथा

उसकी सम्भावना एवं प्रेरणा है। किंतु यह सम्प्रेषण समात्मभाव की सम्भूति का उपचार मात्र नहीं है जिस प्रकार कला की बाह्य अभिव्यक्ति क्लेश की कलानुभूति का केवल उपचार है। काव्य की अनुभूति और बाह्य अभिव्यक्ति में स्वरूपगत विपरीतता है। अनुभूति निर्विकल्प समाधि के समान अवस्था में स्वस्वरूपगत विपरीतता है। अनुभूति निर्विकल्प समाधि के समान तत्त्वभाव है। बाह्य अभिव्यक्ति व्यवहार की अनन्त विपरीतताओं से भ्रष्ट है, किंतु समात्मभाव की आंतरिक अनुभूति और सामाजिक सम्प्रेषण में स्वरूपगत साम्य है। वस्तुतः समात्मभाव ही सम्प्रेषण का अन्ततम भाव है। समात्मभाव और सम्प्रेषण की यह स्वरूपगत संगति कला और काव्य की बाह्य अभिव्यक्तियों की साधकता और उनके महत्व को प्रकाशित करती है।

इस संगति का रहस्य गान्धेय के स्वरूप और उसकी गति में निहित है। कुछ विद्वानों ने क्लेश पर कला और भाषा गान्धेय की एक बनाने का आरोप लगाया है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हीगल पर तत्त्व गान्धेय और तत्त्व गान्धेय के एकीकरण का आरोप लगाया जाता है। यह आरोप सत्य भी है तो भी गान्धेय का एकीकरण इतना स्पष्ट और स्पष्ट नहीं है। हीगल का सावधानीपूर्वक अध्ययन तत्त्व में खोये हुए व्यक्तित्व का उद्धार क्लेश का एक महान् कृत्य था। हीगल का अध्ययन गान्धेय में आस्था रखते हुए भी क्लेश ने व्यक्तित्व की रक्षा का प्रयत्न किया। इस रक्षा के लिए ही गान्धेय ने अनुभूति का अभिव्यक्ति से एकाकार माना। गूढ़ अनुभूति हीगल का सामान्य आध्यात्मिक तत्त्व से भिन्न नहीं है। दोनों चेतना की निर्विघ्न आस्थाएँ हैं। स्पिनोज़ा और प्लेटो के ग्रन्थों के समान समस्त विचार उसमें विलीन हो जाते हैं। अतः क्लेश ने व्यक्तित्व की विशेषता की रक्षा अभिव्यक्ति में की। आंतरिक हात हुए भी इस अभिव्यक्ति का रूप व्यक्तिगत है। क्लेश ने यह भी सफल किया है कि इस अभिव्यक्ति का रूप भाषा है। यह स्पष्ट है कि आंतरिक अभिव्यक्ति का रूप भाषा का बाह्य और मुखर रूप नहीं हो सकता। अतः भाषा का यह रूप भारतीय भाषा दान की मध्यमा अवस्था पर्यन्त बाह्य के समान होगा। आश्रय की बात है कि अनुभूति का अभिव्यक्ति से तथा अभिव्यक्ति को भाषा के आंतरिक रूप से एकाकार मानकर भी क्लेश कलात्मक अनुभूति का समात्मभाव तथा बाह्य अभिव्यक्ति का साथ उसकी संगति का मूल का उद्घाटन नहीं कर सके। भारतीय काव्य गान्धेय का आश्रय भाषा और गान्धेय की अनौपचारिक गतिविधि से प्रभावित था। गान्धेय की कल्पना में अनुभूति और अभिव्यक्ति की एकात्मकता का मूल आधार उपलब्ध है। किंतु काव्य गान्धेय का रसवाच्य में

घोर विरोध का प्रत्यक्ष साम्य म मिलती है। मनुष्य तथा मीनका रस के उतम अथवा निम्न हैं। उनमें जीवन की गति घोर प्राणों का गतीत है किन्तु प्रवाह की प्रयाता रही है। जीवन में उतका तोन्य घोर उनका महार है किन्तु जीवन के विनाम रोन का पवित्र घोर गोपित वरन वामी वविता की रस भागीरथी मगा व समा रही जीवन घोर मन्त्रि की माता है।

वविता की यह रस भागीरथी तार के उरध घोर साधना के विमास्य के पसदय घोर दुग्म गह्वर से निजसकर सोव जीवन की भाव भूमि में प्रवाहित होती है। जीवन की ऊम्मा से सत्य का द्रवण ही इसका उद्गम है। जीवन के स्वास्थ्य घोर मस्कार के तीथ इसी तट पर बस हुग हैं। जीवन की गति के समान इसका वग निरतर है। जीवन की मम्मीरता इसके अन्तर की गरिमा का रहस्य है। काल की गति के समान ही इसका प्रवाह अनन्त है। मनुष्यों के समात्मभाव की सम्भूति म काय के रस का उदय होता है। वविता का केवल विषय घोर उपयोग ही सामाजिक नहीं है उसका स्वरूप भी सामाजिक है। कलाकार को एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में लेकर जिन्होंने कला अथवा काय के स्वरूप की उसकी वस्पना अथवा चेतना की आन्तरिक सृष्टि माना है वे उसके इस सामाजिक स्वरूप की उपेक्षा करते हैं। वविता का समस्त विषय सामाजिक है। इस सामाजिकता म सबत्र समात्मभाव न होने पर भी इस स्थिति म कोई अन्तर नहीं पडता कि यह समात्मभाव ही कला और काय का स्रोत है। समात्मभाव की रस्यात्मक अनुभूति का रूप देने के लिए ही मानव मनुष्य ने अभि यक्ति की भाषाओं का निर्माण किया। इन अभि यक्ति का मूल स्वरूप आन्तरिक ही है और इस दृष्टि में वह अनुभूति के साथ एकाकार है। कला के मम का उद्घाटन करके क्रीचे ने सौन्दर्य शास्त्र का ओ उपकार किया उनके लिए मनुष्य जाति सदा उसकी गृणी रहेगा। किन्तु यह आन्तरिक अभिव्यक्ति भी कलाकार की केवल व्यक्तित्व अनुभूति नहीं है। यत्तित्व के अहभाव और उसकी इकाई की परिधि इस अनुभूति की अन्तिम सीमा नहीं है। केवल आत्मानुभूति अथवा समानुभूति न होकर समात्मभाव इस कलात्मक अनुभूति की अन्ततम भूमिका है। जिस प्रकार क्रीचे के उद्घाटन के पूर्व शुद्ध अनुभूति के मम को कला और काय के क्षेत्र में स्पष्ट न समझा गया था उसी प्रकार क्रीचे के बाद भी इस शुद्ध अनुभूति के पीछे उसके आधारभूत सत्य के रूप में निहित समात्मभाव को स्पष्ट नहीं समझा गया। यह समात्मभाव सम्प्रेषण नहीं है वरन् उसका आधार तथा

उसकी सम्भावना एवं प्रेरणा है। किंतु यह सम्प्रेषण, समात्मभाव की सम्भूति का उपचार मात्र नहीं है जिस प्रकार कला की बाह्य अभिव्यक्ति क्रीचे की कलानुभूति का केवल उपचार है। कला की अनुभूति और बाह्य अभिव्यक्ति में स्वरूपगत विषमता है। अनुभूति निर्विकल्प समाधि के समान भयवा सवि-
कण्य समाधि की प्रतिम अवस्था के समान त मयभाव है। बाह्य अभिव्यक्ति व्यवहार की अनन्य विषमताभा स आक्रांत है, किंतु समात्मभाव की आंतरिक अनुभूति और सामाजिक सम्प्रेषण में स्वरूपगत साम्य है। वस्तुतः समात्म-
भाव ही सम्प्रेषण का अन्ततम भाव है। समात्मभाव और सम्प्रेषण की यह स्वरूपगत मंगति कला और वा य की बाह्य अभिव्यक्तियों की सायकता और उनके महत्व को प्रकाशित करती है।

यम सगति का रहस्य गान व स्वरूप और उसकी गति में निहित है। कुछ विद्वानों ने क्रीचे पर कला और भाषा शास्त्र को एक बनाने का आरोप लगाया है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हीगल पर तत्व शास्त्र और तत्त्व शास्त्र व एकीकरण का आरोप लगाया जाता है। यह आरोप सत्य भी हो तो भी क्रीचे का एकीकरण इतना स्फुट और स्पष्ट नहीं है। हीगल व सावर्भौम धर्मशास्त्र तत्त्व में लीज हुए व्यक्ति का उद्धार क्रीचे का एक महान कृत्य था। हीगल व धर्मशास्त्रवादी में आस्था रखते हुए भी क्रीचे ने व्यक्ति की रक्षा का प्रयत्न किया। इस रक्षा के लिए ही उन ने अनुभूति का अभिव्यक्ति स एकाकार माना। कुछ अनुभूति हीगल व सामान्य धार्मिक तत्त्व स भिन्न नहीं हैं। दोनों धर्मना की निर्विघ्न आस्थाएँ हैं। स्पिनोजा और महत्त्व के अन्त के समान समस्त विषय उनमें विलीन हो जाते हैं। अतः क्रीचे ने व्यक्ति की विरोधता की रक्षा अभिव्यक्ति में की। आंतरिक होते हुए भी इस अभिव्यक्ति का रूप व्यक्तिगत है। क्रीचे ने यह भी सकल किया है कि इस अभिव्यक्ति का रूप भाषा है। यह स्पष्ट है कि आंतरिक अभिव्यक्ति का रूप भाषा का बाह्य और मुखर रूप नहीं हो सकता। अतः भाषा का यह रूप भारतीय धर्म शास्त्र की मध्यमा भयवा पश्यती वाली के समान होगा। आश्रय की बात है कि अनुभूति का अभिव्यक्ति स तथा अभिव्यक्ति को भाषा के आ-
ंतरिक रूप स एकाकार मानकर भी क्रीचे कलात्मक अनुभूति व समात्मभाव तथा बाह्य अभिव्यक्ति व साय उसकी सगति के मूल का उद्घाटन नहीं कर सके, भारतीय वाक्य शास्त्र व आश्रय भाषा और गान की अभिव्यक्ति गतिधर्मों स प्रकाशित थे। यह अन्त की कल्पना य अनुभूति और अभिव्यक्ति की एका-
त्मकता का मूल आधार उपलब्ध है। किंतु वाक्य शास्त्र व रसवाद में

व्यक्तित्व का अनुभूति का आधार' वाच्य की प्रेरणीयता और उक्त मम में प्रतिनिहित समात्मभाव के अन्वय में बाध रहता है। इन प्रेरणीयता को न मानना समस्त समा और साहित्य की कृतियों को निरर्थक बना देता है। इन कृतियों में प्रेरणीयता को मानने वाली कृतियों भी सम्मिता हैं। 'नन मन में जो समात्मात्मा समा विरोध है यह न कृतियों के कर्त्तव्य का स्पष्ट नहीं है। सीमित अर्थ में व्यक्तित्व का आधार यस्तु उक्त (व्यक्तित्व का) रहस्य है। व्यक्तित्व का किसी से भी उक्त समझने या मानने की भावना करना असंगत है। यस्तु सम्प्रमाण हमारे समस्त व्यवहार के समा और साहित्य की साधारण भावना है। समात्मभाव की सम्भूति इसका आन्तरिक आधार है।

हमारे व्यक्तित्व की आधारभूति चेतना का स्वल्प ही समात्मभाव का आधार है। 'न' की अपूर्व शक्ति ही समात्मभाव की अन्तर्भावना से अनुप्राणित होकर सम्प्रमाण की सम्पूर्ण सम्भावना बन गई है। इस अर्थ की सम्पूर्ण विभूति की प्राप्त करके ही कविता कलाओं की छूटागति है। भारतीय 'न' दान में नद को ब्रह्म माना है। अथ चि मय है। गुरुह हात हुए भी यह सिद्धांत बाणी के साथ चेतना की एकात्मता तथा इस एकात्मता के आधार पर अभि व्यक्तियों के स्तरो की सम्भावना का सकल करता है। जो 'न' के इन दानिक रहस्य को समझने अथवा मानने में असमर्थ हैं वे भी 'न' के मुखर रूप में भी उसकी अद्भुत शक्ति का परिचय पा सकते हैं। मुखर शब्द का क्रम एक दानगत परम्परा है। काट ने दान को आन्तरिक प्रत्यक्ष का रूप माना है। इसमें अनुभूति के साथ केन की गहन सगति का सकल है। अभि-यक्ति में यह सगति और स्पष्ट हो जाती है। यदि कला अभि-यक्ति है तो काल उसका रूप है। गवदगन में के एक लक्ष समान वृत्तों से कला और काल दोनों की 'युक्ति' है। अभि-यक्ति ही सौ दय है अतः कल का अर्थ सुन्दर भी है। गति और सूर्यान्त के अर्थ में भी केन का प्रयोग होता है। गति क्रिया का लक्षण है। अभि-यक्ति भी चेतना की क्रिया है। सूर्यान्त रूपी का विशेषीकरण है। यह अभि-यक्ति का बाह्य रूप है। यह बाह्य अभि-यक्ति भी गिव शक्ति अथवा ब्रह्म की ही विभूति है। इस अभि-यक्ति का रूप होने के कारण ही भीता में भगवान ने काल की अपनी विभूति कहा है (काल कलयतामहम्)।

चित्रकला में दिक्गत रूप की प्रधानता है। यह भी सूर्यान्त का रूप है अतः इस रूप में भी मौलिक कला शक्ति की ही अनुभूति है। किन्तु नद

का कार्यक्रम रूप हमारी आंतरिक सम्बेदना और जीवन की गति के प्रति निरूप है। जीवन और चेतना से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होने का कारण ही गान में समात्मभाव की अभिव्यक्ति और उसके सम्प्रपण की मद्भुत गति है। यह गति ही कला में कविता की प्रगति का रहस्य है। प्रथम से प्रवित होकर गान की यह शक्ति का प्रसार साहित्य की सम्पन्न मृष्टि का आधार बन गई है। अथ चिन्मय भाव है। गान का ग्रह स्वयं गान और प्रथम की एकात्मकता का मन्त्र करता है। रघुवीर का मंगलाचरण की भाँति समस्त साहित्य परम्परा गान और प्रथम की अभिन्न मानती है। दोनों का सहितभाव का प्रसार और साहित्य का नयन है। प्रथमान् गान की सामर्थ्य और गति प्रसार है। प्रथम से रचित केवल नामय शब्द में कितनी गति है इसका प्रमाण सगीत है। सगीत का स्वर भी हमारे मन को स्पष्ट कर हमारे मन का आन्तेलिष्ठ कर देता है। भाव से रचित होने पर भी उसमें भाव से विचार कर देने की गति है। प्रथम प्रथम भाव से युक्त होने पर सगीत की गति और भी बढ़ जाती है फिर भी सगीत में स्वर की प्रधानता रहती है। कविता में भाव की प्रचुरता होने के कारण भी सगीत का सम्बन्ध है। स्वर और गान का माध्यम से चेतना की भाव सम्पत्ति प्रेषणीय बनती है। कविता की आत्मा का मुखर सगीत कहना उपयुक्त ही है। मुखर गान मुखर है तथा उसका उत्पन्न और ग्रहण सम्बन्ध पर आश्रित है। कविता में चिन्मय भाव की प्रचुरता उसे प्रवाह की परम्परा का स्थायित्व देती है। साथ ही उसमें सगीत का स्वर नृत्य की गति और चित्रकला के रूप का सम्बन्ध है। इसी सम्पन्नता का कारण कविता कला की श्रद्धाप्रति है।



अध्याय ३

काव्य का स्वरूप

काव्य शास्त्रों में रस की विवेचना केवल काव्य को लेकर की गई है। जिन अनेक ग्रंथों और रूपा में रस का प्रयोग भाषा के व्यवहार में होता है उनका विचार इन विवेचन में आवश्यक नहीं माना गया है। किंतु भाषा के प्रयोग में रस के अर्थ की व्यापकता अस्वीकार नहीं है। रस के कुछ ऐसे सामान्य वर्णन हैं जो रस के सभी रूपों में पाये जाते हैं। अनेक रूप और ग्रंथों में प्रयुक्त रस के इन सामान्य लक्षणों के सूत्र से रस के स्वरूप का अनुमान अधिक सफलतापूर्वक किया जा सकता है। इसी प्रकार काव्य को भी एक व्यापक भूमिका में रखकर उसके स्वरूप और उसमें रस की स्थिति का निर्धारण अधिक सतोपजनक रूप से किया जा सकता है। काव्य शास्त्रों में काव्य के केवल बाह्य मय रूप को लेकर काव्य के रूप और रस का विवेचन किया गया है। काव्य का यही प्रसिद्ध रूप भी है। किंतु रस की भांति काव्य में काव्य का प्रयोग भी प्रायः एक व्यापक अर्थ में किया जाता है। यदि साहित्य में कवि का प्रयोग विधाता के लिये भी हुआ है और सृष्टि की विधाता का काव्य कहा गया है। इस व्यापक अर्थ में काव्य केवल बाह्य मय सृष्टि नहीं बरन् सौंदर्य की अर्थ अनेक रूप सृष्टि का वाचक है। अनेक रूप सौंदर्य से युक्त विवरण भी एक दिव्य काव्य है। सृष्टि में सौंदर्य देखने वाले उस विवरण काव्य को अधिक महत्व देते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रकृति के ऐसे ही अनुरागियों में से थे। उन्होंने "काव्य" से भी अधिक महत्व इस दिव्य काव्य का दिया है (रस मीमांसा पृष्ठ-८)। यह दिव्य काव्य भी सौंदर्य की सृष्टि और अभिव्यक्ति है। यदि हम दूसरे के रचे हुए काव्य का रसास्वादन कर सकते हैं तो विधाता के उस दिव्य काव्य का आनंद भी ले सकते हैं। काव्य के इस व्यापक रूप की भूमिका में काव्य के इस स्वरूप का निर्धारण उसी प्रकार अधिक सतोपजनक हो सकता है जिस प्रकार रस में व्यापक प्रयोग की भूमिका में रस के रहस्य का अनुमान अधिक सफलता पूर्वक किया जा सकता है।

इसी प्रयाजन से हमने वाय के स्वरूप के निर्धारण के लिए काव्य को भी एक 'वायव्य' भूमिका में रखा है। यह भूमिका आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भूमिका से कुछ भिन्न है। शुक्ल जी ने काव्य और रस के प्रसंग में विश्व वाय की ध्वनि की है। उनका यह मत बहुत सगत है कि वाय का रसा स्वादन प्रवृत्ति और समाज के साथ हमारे साक्षात्कृत भाव का विस्तार है। शुक्ल जी के इस मत में रस के रहस्य का एक सुन्दर सूत्र है यद्यपि वे इस सूत्र की अधिक व्याख्या नहीं कर पाये। साथ ही वाय के रूप की वे कोई ऐसी परिभाषा नहीं दे सके जो विश्व काव्य और रस दोनों पर चरिताय होती। हृदय की जिस मुक्त दशा को उन्होंने भाव योग कहा है और जिसे उन्होंने वाय का मम माना है उसमें वे अहंकार तथा स्वाय का प्रतिक्रमण मानते हैं (रस मीमांसा पृष्ठ ६ १८)। किन्तु एक और उनके भावयोग का रूप अव्यात्म के निकट पहुँचता है और दूसरी ओर समस्त प्राचीन काव्य परंपरा के अनुकूल वे भी यक्ति की ही रस का आश्रय मानते हैं। वस्तुतः काव्य गाल्प में आश्रय विभाव की स्पष्ट स्थापना का श्रेय आचार्य शुक्ल की ही है। किन्तु प्राचीन परंपरा से अधिक प्रभावित रहने के कारण वे काव्य और रस के स्वरूप का यथोचित निर्धारण नहीं कर सके। आचार्य शुक्ल ने समन्वय का संकेत भी दिया है। किन्तु यह समन्वय भी उनकी दृष्टि में आश्रयभूत यक्ति का दोष मृष्टि व साध समन्वय है। व्यक्तियों के जिस उत्तार और गभीर साम्य को हमने समात्मभाव कहा है और जिसे हमने रस का मम माना है उसकी कल्पना शुक्लजी अथवा उनके पूर्ववर्ती आचार्य नहीं कर सके। पूर्व और पश्चिम के सभी आचार्य व्यक्तित्व की इकाई को ही कला अथवा वाय का आश्रय मानते हैं। इसके विपरीत हमारा मत है कि व्यक्तित्व की इकाई एक अत्यंत दीन सत्ता है। वह कला और वाय में प्रवृत्त होने वाली सौंदर्य एवं मानव की अभिवृद्धि का आश्रय नहीं हो सकती। अपनी इकाई व एकांत में कर्त्तव्य रहते हुए व्यक्तित्व विश्व की समस्त विभूति को समेट कर भी अधिक सम्पन्न नहीं हो सकता। इतना धन्य है कि हम विभूति के साथ यह व्यक्तित्व जितना समन्वय प्राप्त कर सकता है उतना ही वह सौंदर्य के ध्वन्याह्वन के योग्य बन जाता है। किन्तु इस समन्वय में सौंदर्य का स्रोत आश्रय की व्यक्ति निष्ठाना नहीं बल्कि इसके विपरीत आश्रय का वह भाव है जिसमें समन्वय आश्रयनिष्ठ नहीं बल्कि वास्तविक है। इसी भाव को हमने समात्मभाव कहा है। हमारे मत में यह समात्मभाव ही कला और वाय के रस का रहस्य है। वाय के रूप और गीत का रहस्य भी इसी समात्मभाव में निहित है। यह समात्मभाव व्यक्तित्व की इकाई के आत्म

विस्तार और व्यापार के बसने दोनों से भिन्न है। यह एक व्यक्ति का रूप मृष्टि के साथ सामंजस्य नहीं करता, एकाधिकार व्यक्तियों का परस्पर साम्य है।

यही समात्मभाव की वाक्य का रूप और रस का मूल स्रोत है। वाक्य की यह भूमिका सुख जी की भूमिका से भिन्न है। वाक्य के रूप और सौन्दर्य के सम्बन्ध के लिये विश्व वाक्य की भूमिका में भी वाक्य की चर्चा प्रयोजित है। किन्तु विश्व वाक्य मनुष्य की कृति नहीं है। यह विधाता की कृति है। उसमें हमें जो सौन्दर्य दिखाई देता है, उसके रूप और रहस्य का अनुसंधान वाक्य के रूप को समझने के लिये भी आवश्यक है किन्तु दूसरी ओर सौन्दर्य का मनुष्य कृत रूप वाक्य से अधिक व्यापक है। वाक्य से अतिरिक्त मनुष्य की यह व्यापक सौन्दर्य-मृष्टि कला कहलाती है। पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र में कला की व्यापक भूमिका में वाक्य के स्वरूप का विवेचन बहुत हुआ है। किन्तु पूर्व और पश्चिम दोनों में कला की धारणा भी वाक्य के समान ही शक्ति निष्ठ रही है। कला और वाक्य के स्वयं एक आस्वादन की पूर्व और पश्चिम के सभी भाषाय एक व्यक्तिगत काम प्रयत्न धर्म मानते रहें हैं यद्यपि कुछ भाषाओं ने सुख जी की भाँति इस शक्तित्व में स्वायत्त के अतिक्रमण और सामात्मक भाव के विस्तार का सौन्दर्य के स्वयं व आस्वादन के लिये आवश्यक माना है। किन्तु उन सबकी दृष्टि में इस विस्तार और भाव प्रसार का आश्रय अपनी इकाई में स्थित व्यक्ति ही है।

हमारे मत में इस उदार शक्तित्व में नही बरन् एकाधिक शक्तियों के समात्मभाव में कला और वाक्य का सौन्दर्य उदित होता है। कलाकार कवि प्रयत्न रसिक की शक्तिनिष्ठ स्थिति में यह समात्मभाव कल्पना की भावना के द्वारा सम्पन्न होता है। कल्पना अप्रत्यक्ष की भी सजीव और साक्षात् रूप में प्रस्तुत कर सकती है किन्तु जिसका जीवन में साक्षात्कार नहीं है उसे प्रस्तुत करने में कल्पना भी समर्थ नहीं है। जीव की साक्षात् विभूति का विस्तार और उपस्थापन ही कल्पना कर सकती है। समात्मभाव की जीवत्त विभूति सबसे अधिक सम्पन्न रूप में हम लोक सृष्टि की परम्परा में मिलती है। लोक वाक्य और लोक कला भी लोक सृष्टि के अंतर्गत है। सृष्टि के सम्बन्ध में भी हमारी धारणा विद्वानों के सामान्य मत से भिन्न है। प्रायः सभी विद्वान् धर्म दान कला, साहित्य आदि की समष्टि को ही सृष्टि मानते हैं। सृष्टि के इतिहास में इन्हीं का विवरण मिलता है। सृष्टि

का कोई पृथक् रूप अथवा अस्तित्व नहीं है। प्रायः कला और सम्पत्ति को एक ही माना जाता है। आजकल समारोहों पर होने वाला नृत्य मान आदि इसी भ्रम के आधार पर सांस्कृतिक काय क्रम बट जाते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि जिन घम दान कला साहित्य आदि की समष्टि को सम्पत्ति कहा जाता है वे प्रायः व्यक्ति की शर्काई के आश्रय में ही प्रभूत होते हैं। सस्कृति की उक्त धारणा एक आपत्ति और है कि घम दर्शन कला आदि के समान कि वास विचार और सौन्दर्य जन्म विराधी आधारों पर आधारित रचनाएँ सम्पत्ति के एक सामान्य प्रत्यय के अन्तर्गत कैसे समाहित हो सकती हैं। इस मत का मानन वाला का कथन है कि ये सब समान रूप से मनुष्य की इतिया हैं यही सस्कृति का सामान्य भाव है। यह सस्कृति की प्रधानता पर इसी धारणा है क्योंकि इससे भिन्न सस्कृति का कोई सम्पन्न रूप पश्चिम के अल्प इतिहास में उपलब्ध नहीं है। पूर्व में इसमें भिन्न और इसमें अधिक मौलिक एक प्राचीन सस्कृति का सम्पन्न रूप विद्यमान है फिर भी खेद की बात है कि पूर्वोक्त विचारों ने इस पश्चिमी मत का उही प्रकार अपना लिया है जिस प्रकार हम सम्पत्ता के अर्थ पश्चिमी लोगों को अपना रहे हैं।

सम्पत्ति का यह रूप कला काय आदि की अतिरिक्त रचनाएँ नहीं बल्कि वे स्वतन्त्र और सांस्कृतिक रचनाएँ हैं जिनमें समात्मभाव का साक्षात् और सम्पन्न रूप मिलता है। लोकनृत्य, लोक गीत लोक पर्व आदि इस सस्कृति की परम्परा के जीवन उत्साहरण हैं। भारतीय परम्परा में सस्कृति के ये रूप सबसे अधिक सम्पन्न रूप में मिलते हैं और इतिहास के आधार पर यह भी आज तक जीवित है। लोक नृत्य और लोक गीत की परम्परा तो नागरिक समाज में कुछ कम हो रही है (प्राचीन समाज में यह अब भी विद्यमान है)। किन्तु हमारी पब सस्कृति समस्त भारतीय समाज के जीवन में आज भी प्रतिनिधि तथा सौन्दर्य भर रही है। सस्कृति का यह रूप 'व्यक्ति' का शर्काई के आश्रय में सम्पन्न नहीं होता बल्कि अनेक व्यक्तियों के उच्च समात्मभाव में सम्पन्न होता है जिस हमने का ये और कला का सात माना है। सम्पत्ति की परम्परा में यह समात्मभाव साक्षात् और सजीव रूप में दिवता है। सम्पत्ता के विकास में व्यक्तिवाद के बढ़ने पर मनुष्य की कर्मना एवं समात्मभाव का परित्याग रूप में विस्तार और सन्निधान करती है। यही से उच्च मजिजात की सस्कृति और कला का जन्म होता है जो व्यक्ति के आश्रय में उदित होती है और जिसे सभी विद्वान् सस्कृति और कला का सर्वस्व मानने हैं।

यद्यपि सांस्कृतिक का मूल धीरे-धीरे प्राचीनतम रूप का है जो हम सांस्कृतिक मोर कला मोर काव्य आदि के रूप में मिलता है और जो सांस्कृतिक समाजभाव की स्थिति में सम्पन्न होता है। हम सांस्कृतिक समाजभाव की स्थिति में सम्पन्न होने वाले मानवीय रचना के सभी रूपों को हम सांस्कृतिक कह सकते हैं और इन सब में एक एक भाव का समाज सदाएँ सोज सकते हैं (जो अभिजात सांस्कृतिक के समस्त रूपों में सम्पन्न नहीं है)। सांस्कृतिक का यह मोरिज धीरे-धीरे व्यापक रूप ही मनुष्य की सर्वोत्तम विभूति है। कला और काव्य इसी व्यापक सांस्कृतिक के अंग हैं। भारतीय काव्यशास्त्र से भिन्न कला की व्यापक भूमिका में काव्य का रूप खोजने का जो प्रयत्न पश्चिमी आचार्यों ने किया है वह निस्संदेह काव्य के कुछ रहस्या को प्रकाशित करने में सफल हुआ है। किन्तु कला और काव्य के पतिनिष्ठ दृष्टिकोण की सीमा इस प्रयत्न की विफलता का कारण रही। सांस्कृतिक समाजभाव की स्थिति में सम्पन्न होने वाली जीवित और व्यापक सांस्कृतिक की भूमिका में कला और काव्य का स्वरूप का अनुमान सम्भवतः अधिक सम्पन्न हो सकता है। कला और काव्य सांस्कृतिक के अंग ही नहीं वे सांस्कृतिक के रूप भी हैं। सांस्कृतिक के सामान्य ज्ञान उनमें प्राप्त हैं। सांस्कृतिक की इस व्यापक भूमिका में काव्य के स्वरूप का अनुसंधान हमारा उत्प्रेक्ष्य है।

एक अनुसंधान के प्रसंग में हमें कला और सांस्कृतिक को साथ साथ मान में रखना होगा, क्योंकि जहाँ एक ओर कला सांस्कृतिक का एक रूप है वहाँ दूसरी ओर कला भी एक ऐसा सामान्य लक्षण है जो सांस्कृतिक में भी प्राप्त है।

आजकल कलात्मक प्रदर्शनों को सांस्कृतिक कार्यक्रम कहा जाता है। यह भन्ने ही अर्थ हो कि तु कला और सांस्कृतिक में एक निश्चित और घनिष्ठ सम्बन्ध है। कला ही कला का सृजन है। सृजनात्मकता कला का मूल लक्षण है। इसीलिये जब तक हमें ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति को कला कहते हैं। जिस के मस्तक की चन्द्रकला इसी शक्ति का प्रतीक है। जिस जीवित सांस्कृतिक का सन्त हमने ऊपर किया है वह भी सृजनात्मक है और इस अर्थ में कलात्मक है। लोक पद्य लोक नृत्य लोक काव्य के रूपों में सामाजिक समाजभाव की स्थिति में सम्पन्न होने पर यह कला सांस्कृतिक के सामान्य बन जाती है। इस स्थिति में सांस्कृतिक और कला अभिन्न दिखाई देती है। यत्किन्तु रचना के रूप में प्रकट होने पर ही कला का सांस्कृतिक से भेद स्पष्ट होता

है। यह अभिजात कला-यक्तियों के द्वारा नव नव रूपों का सृजन है। इन रूपों के प्रतिगम में ही कला का सौन्दर्य निहित है। रूप का प्रतिगम ही हमारे मत में सौन्दर्य की सबसे अधिक-यापक और सबसे अधिक सतोपजनक परिभाषा है। कला इस रूप के प्रतिगम का सृजन है। अपरोक्ष अथवा परोक्ष किसी प्रकार के समात्मभाव के बिना कला का यह सौन्दर्य प्रकाशित नहीं होता। जीवत सत्कृति में भी रूप के प्रतिगम का सौन्दर्य अभिव्यक्त होता है। सत्कृति में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति साक्षात् समात्मभाव की स्थिति में होती है। समात्मभाव रस का साधन है। वह आनन्द का मूल उत्पन्न है। रूप के प्रतिगम से युक्त होने के कारण सत्कृति में कला का भी अतर्भाव है किन्तु संस्कृति में समात्मभाव जनित आनन्द की ही प्रधानता है। सीलिये इस जीवत सत्कृति के रूपों में कलात्मक सौन्दर्य नव नव रूपों का इतना सूक्ष्म विकास नहीं मिलता जितना कि अभिजात कलाओं में मिलता है। यदि भेद करने के लिये हम कला की सौन्दर्य प्रधान और सत्कृति को आनन्द प्रधान मानें तो अनुचित न होगा। इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि कला और संस्कृति का यह भेद सौन्दर्य और आनन्द की प्रधानता की दृष्टि से ही सगत है अथवा दोनों में ही किसी न किसी रूप और परिमाण में रूप के प्रतिगम सौन्दर्य और समात्मभाव का आनन्द कला और सत्कृति दोनों का आवश्यक तत्व है। जीवत सत्कृति और साव कला में तो बहुत अधिक साम्य है। अभिजात कला में समात्मभाव का अनिवार्य अल्प और अप्रत्यक्ष होने के कारण नव-नव रूपों के प्रतिगम का विस्तार अधिक होता है। इसके विपरीत जीवत सत्कृति में साक्षात् समात्मभाव की विभूति अपरिमित होने के कारण रूप के प्रतिगम के परिमित रूप ही पर्याप्त होते हैं। अभिव्यक्ति की प्रेरणा समात्मभाव का आनन्द अधिक स्पृहणीय होने के कारण जीवत संस्कृति की परम्परा में नवीन रूपों के सृजन की प्रेरणा चिरन्तन रूपों की आराधना अधिक रही है। रूपों की चिरन्तनता इस साक्षात् समात्मभाव का और अधिक विस्तार करती है जो जीवत सत्कृति के आनन्द का ध्येय है। समात्मभाव का यह विस्तार आनन्द की अभिवृद्धि करता है।

कला और काव्य के अभिजात एवं व्यक्तित्व रूप इस जीवत सत्कृति के अलग नहीं हैं। महाभारत रामायण आदि की भाँति कुछ ही रचनाएँ एक व्यापक समात्मभाव के द्वारा जीवत सत्कृति में समाहित हो गयी हैं। किन्तु लोक-कला और लोक-साहित्य जीवत सत्कृति के प्रवाह की ही तरंग हैं। ये अभिजात कला और अभिजात काव्य से अधिक प्राचीन हैं।

घट बना घोर वाक्य के सामान्य रूप का निर्धारण इसकी भूमिका में घटित करित होगा। वसा घोर वाक्य की सामान्य संज्ञाया का प्रयोग सामान्य रूप के आधार पर ही हो सकता है। हम के प्रयोग रूप में भी कुछ सामान्य सगण मिलते हैं। मोक्ष बना एक मोक्ष वाक्य तथा बना एक वाक्य की व्यक्तिगत कृतियों में भी कुछ सामान्य सगण घटित मिल सकते हैं। घटना की सृजनात्मक प्रवृत्ति का प्रकाश इन सगणों में सर्वप्रथम है। रूप का घटित वसा का सामान्य लक्षण है। रूप का घटित ही सौन्दर्य है जिस की गृष्टि घोर अभिव्यक्ति की बना कहा जाता है। वाक्य वसा का वाक्य रूप है। जिसे पुनः जी न विश्व वाक्य कहा है वह वाक्य में न होने के कारण का में की अपेक्षा वसा के अधिक निकट है। वस्तुतः सृष्टि का वाक्य कहा पर वाक्य बना का प्रभाव बन जाता है। बिना रूप से जिस हम वाक्य कहते हैं वह वसा का न सम्य रूप है। इसीलिये भारतीय वाक्य शास्त्र में वाक्य और अर्थ का साहित्य को का यह कहा गया है (वाक्यार्थो संहिता वाक्यम्)। वाक्य का विशेष स्वरूप का निर्धारण हम वाक्य के वाक्य रूप के आधार पर ही करना होगा यद्यपि बना सत्त्व की वाक्य भूमिका में यह निर्धारण अधिक सगण और अधिक मतोपजनक हो सकेगा।

जीवन और जगत की निसर्ग से प्राप्त व्यवस्था को हम प्रकृति कह सकते हैं। यह प्रकृति मनुष्य की कृति नहीं है। भावीय विचार में कृति का अनुरोध होने के कारण प्रायः इस ईश्वर की कृति मानते हैं।

ईश्वर की कृति होने पर ही मनुष्य को वह निसर्ग प्राप्त होती है। उसकी मौलिक सत्ता और मूल व्यवस्था में मनुष्य का कोई अधिकार नहीं है। उसके विपरीत सम्यता सत्कृति बना का यह आदि को हम मनुष्य की कृति कह सकते हैं। इन सब के लिये सामान्य रूप से अविवेक पूर्वक सम्यता एवं सत्कृति पदों का प्रयोग किया गया है। मनुष्य का कृतित्व इन सबका सामान्य लक्षण है। इन सब का उदय और विकास मनुष्य का इच्छा में उसके अध्यवसाय से हुआ है। मनुष्य के इस समग्र कृतित्व को सामान्यतः सम्यता कहा जा सकता है। बर प्रकृतिक व्यवस्था से आगे बढ़कर मनुष्य ने जो कुछ किया है वह सब सम्यता ही है। सम्यता और सत्कृति के भेद के लिये हम मनुष्य के उस कृतित्व की सम्यता कह सकते हैं जिसमें प्रकृति की प्रणाली अधिक है जिसका सम्बन्ध प्रधानतः जीवन के माध्याम से है और जिसका दृष्टिकोण मुख्यतः उपमायितावादी है। सत्कृति के अतः इस कृतित्व का उन रूपों को

ही सम्मिलित करना अधिक उचित है जो मनुष्य के स्वतन्त्र आकल्प से प्रसूत है, जिसका सब-य जीवन के साध्या स है और जो प्राकृतिक अथ म उपयोगी नहीं है। कला, काय प्राप्ति इस दृष्टिकोण से सस्कृति के अतगत है। सस्कृति और कला म भेद करना कठिन है क्योंकि दोनों का बड़ा धनिष्ठ सम्बाध है और प्राय दोनों मिल जुले रहते हैं। रूप के प्रतिशय के अथ म सोदय का सन्निवेश दोनों म रहता है। इस सोदय को यदि हम कला का विशेषाधिकार मानें तो सस्कृति में कला की आवश्यक तत्व मानना होगा। फिर भाव का प्रतिशय ही एक ऐसी वस्तु है जो, सस्कृति को कला-स मित कर सकती है।

जिस प्रकार रूप क प्रतिशय के अथ म सोदयमयी कला सस्कृति का प्राण है उसी प्रकार कला म भी प्राय भाव क प्रतिशय का सन्निधान होता है। किन्तु भाव का वह प्रतिशय कला में खदा नहा पाया जाता। विषय कला की अपनार्ये नृत्य की भविमार्ये और सुद सगीत के स्वरविधान ऐस हः सवते हैं जिनमें कोई भाव का प्रतिशय सन्निहित न हो। अत भाव का प्रतिशय कला का सामा य लक्षण नही यद्यपि इस प्रतिशय का सन्निधान कला को सम्पन्न बनाता है और प्राय कलाभा में मिलता है। इस विपरीत भाव का प्रतिशय सस्कृति का आवश्यक तत्व है। मूलत सस्कृति रचना का कोई विषय २५ नही है वरन् जीवन का ही कलात्मक रूप है। जीवन के जिन रूपा में कला सस्कृति का अलकार बनती है उनमें भाव का प्रतिशय जीवत रूप में वतमान रहता है। कला क सोदयमय रूप उस भाव क प्रतिशय के निमित्त भर होते हैं। कला के रूपा में तत्व रूप में सन्निहित हाने पर भी भाव का प्रतिशय जीवत रूप में सप रह जाता है। यह उस प्रतिशय का भी प्रतिरेक है। अतएव जहाँ कला जीवन का एक अग और रचना का एक रूप है वहाँ सस्कृति जीवन की साक्षात् परम्परा है। सस्कृति का यह परम्परा समात्म भाव की भूमि पर सम्पन्न होती है सस्कृति के विभिन्न रूपा में विशेष रूपा में उपलभ्य होने वाल भावों के प्रतिशय इस समात्मभाव के सागर में उठने वाली तरंगें हैं। सस्कृति की त्रिवेणी में सामा य समात्मभाव, विषय भावों के प्रतिशय और रूपा के प्रतिशय का सगम होता है। कला का विशेष सगल तो रूप का प्रतिशय ही है जो सस्कृति में भी सन्निहित रहता है। रूप के इस प्रतिशय में सोदय की धमियाक्ति होती है। किन्तु कला का यह विषय रूप विचार का एक प्रत्याहार है जो सम्पत्ता

के बिनास और सृष्टि के ह्रास में उलट-टुलना है किन्तु सत्सुत रूप का प्रतिगम का सौन्दर्य भी कला में समात्मभाव की भूमिका में ही सम्पादित होता है। लोक-कला में यह समात्मभाव साक्षात् रूप में व्यक्तमान रहता है। अभिजात कला में यह अप्रत्यक्ष होता है और कला के द्वारा समाप्ति होना है किन्तु समात्मभाव के बिना व्यक्ति के प्राकृतिक एगोतन की स्थिति में रूप का प्रतिगम का सौन्दर्य अभिव्यक्ति नहीं होता। इस दृष्टि से समात्मभाव कला और सृष्टि दोनों का समान आधार है। रूप का प्रतिगम का सौन्दर्य भी दोनों में समान रूप से व्यक्तमान रहता है। यदि भाव का सृष्टि की विषय सम्पत्ति मानें तो कला को सृष्टि का अतगत भाग कहने में। रूप के सामान्य की दृष्टि से सृष्टि को भी कलात्मक कह सकते हैं। सृष्टि और कला दोनों में मानवीय चेतना की मृजनात्मक गति का स्पष्टरण होता है। जब तन्त्रों में इस मृजनात्मक गति को कला कहते हैं। इस दृष्टि से कला के पर सामान्य के अतगत सृष्टि को एक अपर सामान्य मान सकते हैं। मनुष्य के इस कृतित्व को यदि हम सृष्टि कहना चाहें तो कला को सृष्टि के पर सामान्य के अतगत एक अपर सामान्य मानना होगा।

अस्तु कला और सृष्टि का भेद दोनों पर। एक सामान्य और विषय अर्थों का ऊपर निम्न है। यदि हम दोनों पदों का भिन्न प्रयोग अभीष्ट है तो कला पद का विविध और विवक्षित अर्थ में ही ग्रहण करना होगा। जब तन्त्रों के अनुरूप सामान्य मृजनात्मक गति का अर्थ में कला का प्रयोग अधिक प्रचलित और विदित नहीं है। अतः सृष्टि को ही मनुष्य का सामान्य कृतित्व का वाचक मानना अधिक उचित है। सृष्टि में समाज की एक सामान्य परम्परा रहती है और उसका रूप भी सामान्य होता है। एक ही समाज में उसके अनेक रूप इतने स्पष्ट नहीं होते जितने कि कलाओं के रूप रहते हैं। कला के अनेक रूपों के प्रचलन के कारण कला के अर्थ में सामान्य की अपेक्षा विषय का भार ही अधिक है। अतएव हम सृष्टि को मनुष्य के स्वतन्त्र और निरूपणाधीन कृतित्व का सामान्य वाचक मानकर उसमें कला और काव्य की स्थिति पर विचार करेंगे। साक्षात् अथवा अप्रत्यक्ष रूप में समात्मभाव मनुष्य के इस सम्पूर्ण कृतित्व का सामान्य आधार है। इस समात्मभाव का आधार में भाव और रूप दोनों के प्रतिगम का सन्निधान विषय अर्थ में सृष्टि है। रूप का प्रतिगम का सौन्दर्य विषय अर्थ में कला का जन्म देता है। उसमें भाव का प्रतिगम आवश्यक नहीं है। भाव का प्रतिगम से युक्त होने के कारण लोक कला सृष्टि का अभिन्न अंग बन जाती है। लोक सृष्टि और लोक

कला में समात्मभाव के अतिरिक्त विंगप भाव का अतिगम साक्षात् स्थिति और रूप व अतिगम के अतम तत्व इन दोनों रूपों में वर्तमान रहता है। कला के सामान्य रूप में इन दोनों रूपों में ही भाव व अतिगम का सन्निधान आवश्यक नहीं है। प्रधानत रूप का अतिगम ही कला व सौन्दर्य का विशेष लक्षण है। कला के जिन रूपों में भाव का अतिगम भी सन्निहित रहता है उनमें भी रूप ही प्रधानता रहती है। सृष्टि व गम से प्रसूत होने के कारण कलाओं में भाव व अतिगम का महत्व भी प्रायः रहता है। रूप और भाव दोनों के साम्य से कला का सौन्दर्य अधिक सम्पन्न होता है। भाव व प्रति मनुष्य का सहज अनुराग भी है। इसीलिए कलाओं में भाव का सन्निधान भी रहता है। किन्तु वस्तुतः भाव का अतिगम सृष्टि का ही विंगप लक्षण है। सृष्टि में रूप का अतिगम एक निमित्त मात्र है। अतः इसमें भाव की ही धाराधना अधिक रहती है। इसी कारण सृष्टि की परम्परा में रूप का विकास अधिक नहीं होता वरन् प्राचीन रूपों की धाराधना रुक जाती है। सृष्टि की परम्परा में पुरातन रूपों के आधार पर जीवन के सनातन भावों की पुनः पुनः अभिव्यक्ति होती है। इनके विपरीत कला के क्षेत्र में नये-नये रूपों का विकास होता है। इस दृष्टि से सृष्टि और कला का इतिहास एक दूसरे से बहुत भिन्न है। सृष्टि पुरातन की धाराधना है। कला नवीन रूपों की रचना है। केवल मनुष्य के सामान्य कृतित्व के अर्थ में सृष्टि का प्रयोग करने पर ही कला सृष्टि का एक अंग है। सृष्टि का विंगप रूप उस सामान्य के अतमत एक विंगप है जो कला व विंगप से भिन्न है। रूप और भाव की प्रधानता कला और सृष्टि के विंगप रूपों व विंगप लक्षण हैं।

रूप अभिव्यक्ति का बाह्य माकार है। भाव अभिव्यक्ति का आन्तरिक मम है। उम्र केतना का रूप कह सकते हैं। किन्तु केतना में रूप और भाव की आन्तरिक अभिव्यक्ति की दिशा आनन्द के सामान्य की ओर होती है। अतः भावों में इतनी अधिक और स्पष्ट भिन्नता नहीं होती। प्रायः भावों की भिन्नता बाह्य रूपों सम्बन्धों और अनुपमों व आधार पर ही जाती है। उनके स्वगत स्वरूप के अर्थ अधिक स्पष्ट नहीं होते। इनके विपरीत रूप की बाह्य अभिव्यक्ति में अनेक रूपों अधिक स्पष्ट होती है। परम्परा की कला शक्ति के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति भी मृष्टि के अनेक रूपों में हुई है। ये रूप एक दूसरे से स्पष्ट भिन्न हैं। ये रूप अनेक और अतम हैं। रूपों की अनेकता के आधार पर ही कलाओं के अनेक रूप निमित्त हुए हैं। भावों का ग्रहण एक ही केतना के द्वारा होता है। इसीलिए उनमें समानता अधिक होती है

घोर उनकी गति एवता की घोर होती है। रूपों का प्रहृष्ट इन्द्रियों के द्वारा होता है। अतः उनकी घनेता स्वाभाविक घोर गिद्ध है। रूप के ये घनेता भेद ब्रह्मा के घनेता रूपों को जन्म देते हैं। यद्ये तो रूप सृष्टि और प्रकृति का सामान्य रूप है किन्तु प्रकृति में रूप का प्रतिगम नहीं होता। उपयोग के प्रति रिक्त रूप को प्रतिगम कहत है। प्रकृति का रूप प्राकृतिक प्रप में उपयोगी है। अथन दृष्टिकोण के अनुसार जब हम प्रकृति के रूपों को निरूप योगी प्रतिगम के रूप में देखते हैं तभी हम प्रकृति के रूपों में सौन्द्य दिखाई देता है। कदाचित् उपयोगिता में रूप की महिमा और मनुष्य की स्वतन्त्रता कम हो जाती है। सम्भवत निरूपयोगिता में रूप की महिमा और मनुष्य की स्वतन्त्रता के कारण ही सौन्द्य प्रकट होता है। रूप के प्रतिगम में निरूप योगिता और स्वतन्त्रता दोनों ही प्रसरता एक प्रचुरता से रहत हैं। इसीलिए रूप के प्रतिगम में सौन्द्य साकार होता है। रूप के घनेता प्रकार इस प्रतिगम के द्वारा घनेता कलाओं को जन्म देते हैं। चित्रकारी नृत्य सङ्गीत काव्य आदि इन कलाओं के प्रसिद्ध प्रकार हैं। हरय रूप की रचना चित्रकला है। स्वर के सुन्दर रूपों का विधान सङ्गीत है। अर्थों की भगिमाओं का सौन्दर्य नृत्य है। शब्दों की कला का नाम काव्य है।

इन कलाओं में रूपों का सम्मिश्रण भी होता है। नृत्य में रूप स्वर और गति तीनों का समवाय है। रचित भूषां नूपुर ध्वनि और प्रग भगिमा से रहित नृत्य की कल्पना कठिन है। यह सम्मिश्रण कला के सौन्द्य को अधिक सम्पन्न बनाता है। इन विविध कलाओं में प्राय भावों का भी सन्निधान होता है यद्यपि यह आवश्यक नहीं है और कला का विशेष कौशल भाव में नहीं बरन् रूप की ही विगमता में रहता है। सङ्गीत के मलाप और तान इसके उदाहरण हैं। भाव के प्रति मनुष्य का सहज अनुराग है। संस्कृति के भावमय गम से उत्पन्न होने के कारण सभी कलाओं में भाव का सन्निधान होता रहा है यद्यपि कलावित् कला का विशेष सौन्द्य रूप के प्रपच में ही मानते रहते हैं। इन कलाओं में काव्य की स्थिति विनम्र है। अथ कलाओं में समात्मभाव के अतिरिक्त इन विगम भावों का सन्निधान आवश्यक नहीं है। किन्तु इन विगम भावों के बिना काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से काव्य का अथ कलाओं की अपेक्षा संस्कृति के अधिक निकट माना जा सकता है यद्यपि सामान्य धारणा में अथ कलाओं संस्कृति के अधिक निकट समझी जाती हैं। इन दोनों ही धारणाओं के कारण इन कलाओं के विशेष साधकों में खोज जा सकते हैं। काव्य की साधक काव्य है। अथ कला

सायक ध्वनि है । अथ रहित शब्द समीत का स्वर बन सकता है । सायक शब्द भाषा और काव्य की सम्पत्ति है । भाषा के शब्द और प्रयोजन की और परस्पर के समान अभिन्न हैं जिनकी वन्दना कालिदास ने 'रघुवंश' के मंगलाचरण में की है । मामह के काल से काव्य शास्त्र में चली आने वाली काव्य की यह परिभाषा मूलतः ठीक है जिसके अनुसार 'शब्द और प्रयोजन' का साहित्य ही काव्य का लक्षण है यद्यपि इस साहित्य के स्वरूप की सतोप जनक व्याख्या हमारे काव्य शास्त्र में नहीं हो सकी । 'शब्द' के प्रयोजन को हम भाव भी कह सकते हैं यद्यपि विशेष प्रयोजन में भविष्य के अनेक प्रकारों में से केवल एक है । 'शब्द' के समग्र अभिप्रेत की भी हम भाव कह सकते हैं । मानवीय सम्बन्धों के सागरमय रस से युक्त भाव सामान्य प्रयोजन में प्रयोज्य भाव का एक विशेष रूप है । भाव के इस विशेष रूप को समाहित और प्रकट करने की शक्ति 'शब्द' का एक अद्भुत समकार है । मूलतः यह जन्मदायक आत्मा प्रयोज्य चेतना का लक्षण है । इसीलिये शब्द दर्शन में शब्द की ग्राह्यता माना गया है । जीवित सत्सृष्टि के पक्षों में भाव के ये विशेष रूप साक्षात् रूप में अभिव्यक्त होते हैं । काव्य शब्द की अद्भुत शक्ति के द्वारा उसे समाहित प्रकृत और अभिव्यक्त करता है । इस दृष्टि से काव्य जीवन का प्रतिबिम्ब प्रयोज्य चित्रण है जो 'शब्द' के समग्र माध्यम के द्वारा सम्भव होता है । इसके अतिरिक्त सामान्य और साधन प्रयोजन में भी भाव का सन्निधान काव्य में होता है । दोनों ही प्रकार के भाव को काव्य का तत्त्व कह सकते हैं, जो शब्द के रूप में अभिव्यक्त और साकार होता है । विशेष रूप में भाव सम्पत्ति का समाहित करने के कारण काव्य सत्सृष्टि के निरूपक है । यद्यपि दोनों में अन्तर है कि सत्सृष्टि में यह भाव जीवन की साक्षात् स्थिति में अभिव्यक्त होता है और काव्य में यह शब्द के अन्तर्निहित तत्त्व के रूप में समाहित होता है । शब्द में मुरझात भाव इतना सजीव नहीं होता और साक्षात् जीवन के स्पर्श के द्वारा ही इसमें प्राणों का स्पन्दन प्रकट होता है । काव्य के भाव की यह स्पर्श रचना में कवि की प्रतिभा और आस्वादन में सहृदय की भावना से प्राप्त होता है ।

अथ कलाओं में भाव का सन्निधान यद्यपि आवश्यक नहीं है किन्तु प्रायः होता है । यहाँ तक सत्सृष्टि के प्रकट में काव्य और अन्य कलाओं का सामान्य स्थान है । किन्तु कृत्रिम कलाओं के रूप में ऐसी विशेषता है जिससे कारण के काव्य की प्रयोज्य सत्सृष्टि के अतिरिक्त निरूपक प्राप्त होती है । यह विशेषता मुख्य रूप से उन कलाओं में सज्जन और प्रश्रयन की अभिन्नता है ।

यह विषयता नृत्य और संगीत में सबसे अधिक पाई जाती है। इसी कारण सस्कृति में इस कलाप्रकार की अधिक महिमा है। काव्यगुणाङ्ग रस्यम् का रहस्य भी इसी विषयता में निहित है। प्रयोग रचना की सामाजिक अभिव्यक्ति है। उसमें समासभाव की धारणा और संभावना रहता है। नृत्य और संगीत की रचना रसिकों के समक्ष साक्षात् रूप में होता है। इस प्रयोग कहा जाता है। किन्तु वस्तुतः यह सज्जन का ही सामाजिक रूप है। सस्कृति में सामान्य समासभाव और विंग्रह भाव दाना में यह साक्षात् मज्जात्मकता ही सौन्दर्य एवं आनन्द की सृष्टि करती है। इस साक्षात् सज्जनात्मकता के कारण ही नृत्य और संगीत सस्कृति में सबसे अधिक आनन्द पाते रहे हैं। काव्य में केवल नाटक का अभिनय इस गौरव का अधिकारी है। काव्य के अन्य रूप चित्रकला मूर्तिकला आदि का भाँति इस साक्षात् सज्जनात्मकता के अभाव के कारण इस सस्कृति में कम महत्वपूर्ण रहे हैं। साक्षात् में समाहित होकर ही लोक काव्य सस्कृति में समाहित रहा है। दूसरी ओर कला के जिन रूपों में सज्जन और प्रयोग की अभिव्यक्ति का अभाव है उनके माध्यम अधिक स्थायी हैं। अतः यदि सस्कृति की परम्परा में वे अधिक महत्त्व नहीं तो अधिक सुरक्षित अवस्थित रहे हैं। नृत्य संगीत आदि के साथ सज्जन और उसमें अभिन्न प्रयोग की क्षमता इनकी महिमा की रक्षा करती रही है। इस क्षमता के कारण इनके नक्षत्र माध्यम में अभिव्यक्ति सौन्दर्य भी अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक स्थायी रहा है। भारतीय परम्परा में कथा परायण तथा उल्लेख द्वारा काव्य भी संगीत के समान साक्षात् सजीवता को अपने स्थायित्व में सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता रहा है।

अस्तु कि यह और अर्थ का साहित्य काव्य का सबसे अधिक व्यापक और सामान्य लक्षण है। कला की दृष्टि से काव्य का माध्यम से अभिव्यक्ति सौन्दर्य ही है। किन्तु इस स्वर भविष्य भाँति की भाँति भाव रक्षित रूप नहीं है। अतः काव्य में रूप और भाव की स्थिति में उनके परस्पर सम्बन्ध समझने पर ही काव्य का सही रूप समझा जा सकता है। सस्कृति कला और काव्य की परम्परा का दृष्टि से काव्य एक सांस्कृतिक और कलात्मक रचना है। वह मनुष्य की उन रचनाओं में अभिन्न है जो प्रकृति की उपयोगिता और विवशता से प्रेरित होती है। काव्य मनुष्य के स्वतन्त्र सार्वभौमिक सृष्टि है। ऐसी रचना को ही सस्कृति तथा कला कहते हैं। विंग्रह अर्थ में सस्कृति में भाव की प्रधानता और कला में रूप की प्रधानता होती है। काव्य में क्रमशः दोनों का प्राधान्य तथा दोनों का साम्य भी सम्भव है। अतः काव्य की गणना

संस्कृति तथा कला के सामान्य और विशेष दोनों रूपों के अंतर्गत हो सकती है। अन्य कलाओं से काव्य का इतना ही भेद है कि नृत्य और संगीत की भाँति केवल रूप का सौंदर्य काव्य में सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि काव्य का माध्यम शब्द है और काव्य में उसका प्रयोग सदा साधक होता है। शब्द और अर्थ का साहित्य काव्य का अनिवार्य रूप है किंतु सामान्यतः शब्द और अर्थ का यह साहित्य समस्त वाङ्मय का लक्षण है। 'साहित्य' पद के अर्थ का इतना अधिक विस्तार हुआ कि काव्य से लेकर व्यापारिक विज्ञापन तक की भाषागत रचनाएँ उसमें सम्मिलित की जाती हैं। भाषा के माध्यम से रचित जो भी कुछ है वह सभी कुछ साहित्य है क्योंकि उसमें शब्द और अर्थ दोनों साथ साथ पाए जाते हैं। किंतु यह समस्त साहित्य एक प्रकार का नहीं है। कलात्मक तथा अन्य साहित्य में अंतर है। कलात्मक साहित्य रूप के प्रतिपाद से युक्त होता है।

रूप का प्रतिपाद ही कलात्मक सौंदर्य का लक्षण है। वाङ्मय साहित्य का रूप शब्द है। अर्थ अथवा भाव उसका तत्त्व है। रूप का प्रतिपाद का अभिप्राय शब्दों की बहुलता नहीं है। बहुलता एक परिमाणवाची शब्द है। परिमाण का सम्बन्ध तत्त्व से ही सकता है किंतु रूप से नहीं। रूप रचना की प्रणाली विधि अथवा गली है। वह तत्त्व की व्यवस्था है। इस व्यवस्था में ही तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। अतः रूप अभिव्यक्ति की गली है। रूप का प्रतिपाद का अर्थ तत्त्व की व्यवस्था की समृद्धि है। तात्पर्य यह है कि उपयोगिता की दृष्टि से जो यूनतम व्यवस्था सम्भव है उस ग्रहण न कर रूप का जो विस्तार किया जाता है वही रूप का प्रतिपाद है। समाज के स्वर मन्त्रान में इस प्रतिपाद का स्पष्ट उदाहरण मिलता है। साहित्य अथवा काव्य में यह स्वर का सन्तान अथवा शब्दों की बहुलता नहीं बरन् शब्दों का प्रतिरेख है।

रूप का यह प्रतिपाद कलात्मक साहित्य की अन्य साहित्य से भिन्न करना है। अन्य साहित्य में रूप का प्रतिपाद अभीष्ट नहीं होना। कलात्मक साहित्य ही काव्य है। इस दृष्टि से काव्य की परिभाषा अत्यन्त व्यापक हो जाती है। रूप का प्रतिपाद से युक्त समस्त वाङ्मय का समन्तार उसमें हो सकता है। पद्य भी काव्य है क्योंकि छन्द विधान रूप का प्रतिपाद है। व्याकरण ज्योतिष दान धर्मज्ञान आयुर्वेद आदि के छन्दोबद्ध ग्रन्थ भी काव्य का अन्तर्गत हैं। उनके छन्दविधान में रूप का प्रतिपाद है जो उनकी

रचना में जो शब्द का प्रतिपादन करता है। इन तीनों शब्दों के आधार पर कला की पक्षों में उनका भी रखा है जो सामान्य नहीं। भाव के प्रतिपादन को प्रथम महत्त्व देने वाले कवि का कलात्मक रचनाओं को जिनमें भाव का प्रतिपादन नहीं है। काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत कर रहे हैं। किन्तु इन रचनाओं के साथ इनमें काव्य के समान ही दृष्टि देने वाले हैं। इसी कारण पाठकों को इसमें उन सामान्य शब्दों से अधिक ध्यान रहा जिनमें रूप का प्रतिपादन नहीं है। चित्र-काव्य तथा अन्य प्रकार के चमत्कारों से पूर्ण काव्य भी इसी कोटि के अन्तर्गत हैं चाहे उन्हें अथवा काव्य की कोटि में ही रखा जाये। काव्य की ऐसी और श्रुति का प्रश्न काव्य के सामान्य रूप से पृथक् है। काव्य की सामान्य परिभाषा यही हो सकेगी जो अपनी परिधि में काव्य के समस्त रूपों का समाहार कर सके और वाङ्मय के उन रूपों में उनका विवेक कर सके जिन्हें काव्य नहीं कहा जा सकता। यदि काव्य एक कला है और रूप का प्रतिपादन कला के सौन्दर्य का सङ्ग है तो भाषागत अभिव्यक्ति के रूप में किसी प्रकार के प्रतिपक्ष से युक्त रचना का काव्य कहना होगा।

अस्तु समस्त वाङ्मय का विभाजन दो भागों में किया जा सकता है। एक जिसमें रूप का प्रतिपादन नहीं है तथा दूसरा जो रूप के प्रतिपादन में युक्त है। पहले को हम विज्ञान अथवा शास्त्र कह सकते हैं जिसमें रूप के प्रतिपादन के लिये कोई स्थान नहीं है। अथ अथवा भाव ही उसका मुख्य लक्ष्य है। रूप उसका साधन मात्र है। अथ विवरण के लिये उसका विस्तार कितना ही किया जाये किन्तु इसका प्रतिपादन इसमें अभीष्ट नहीं होता। रूप के प्रति शास्त्रों और विज्ञानों का दृष्टिकोण उपयोगितावादी होता है। वाङ्मय के दूसरे विभाग में रूप का प्रतिपादन अभीष्ट ही नहीं होता बल्कि साध्य बन जाता है। रूप के प्रतिपादन युक्त वाङ्मय को काव्य कह सकते हैं। दोनों ही प्रकार के वाङ्मय में शब्द और अर्थ का साहित्य होता है क्योंकि एक प्रकार से यह साहित्य भाषा का सामान्य लक्षण है। किन्तु उक्त दोनों प्रकार के काव्यों में इस साहित्य का रूप एक सा नहीं रहता। शब्द का सदा अर्थ के सहित होना साहित्य का सामान्य रूप है। यह तो वाङ्मय के सभी रूपों में सदा विद्यमान रहता है। किन्तु जब किसी विषय शब्द (रूप) और अर्थ (भाव) का सम्बन्ध अनिवार्य बन जाता है तो उसे साहित्य का विशेष रूप कहना होगा। काव्य में साहित्य का यही विशेष रूप मिलता है। इसमें मुख्य विशेषण दो और अर्थों अथवा

रूपा और भावों का सम्बन्ध इतना घनिष्ट हो जाता है कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। इस घनिष्टता का अभिप्राय यह है कि इस साहित्य में सम्बद्ध शब्दों को दूसरे शब्दों से और भावों को दूसरे भावों से बदला नहीं जा सकता। शब्द और भाव का साहित्य की यह घनिष्टता स्त्री पुरुष के उस अनन्य प्रेम के समान है जिसके अनेक उदाहरण मनुष्य समाज में मिलते हैं। रघुवश के मङ्गलाचरण में कालिदास ने पार्वती और परमेश्वर के अनन्य भाव की उपमा शब्द और अर्थ की इसी सम्पृक्ति से दी है। निम्न श्लोक के लिये उन्होंने पुल्लिङ्ग शब्द के स्थान पर स्त्रीलिङ्ग वाक का प्रयोग किया है तथा अनन्य भाव की अभिव्यक्ति के लिये दृढ़ समास का उपयोग किया है।

कालिदास ने वाग्व्य सम्पृक्ति का जो उदात्त रूप हमारे सामने रखा है वह केवल काव्य का ही नहीं बल्कि उत्तम काव्य का उदाहरण है। इसमें शब्द शक्ति व शक्ति शिव साम्य के समस्त गम्भीर रहस्य अन्तर्निहित हैं जो जीवन सृष्टि और साहित्य के सर्वोत्तम रूपों को प्रकाशित करते हैं। इन रहस्यों का पूर्ण अवगाहन और विवरण बठिन है। किन्तु सामान्यतम रूप में शब्द और अर्थ की अनन्यता सभी काव्यों का सामान्य लक्षण है। पद्यबद्ध वाक्यों और विधानों में भी वह अनन्य भाव विद्यमान रहता है। इसीलिये काव्य की वाङ्मय में उनकी भी सम्मिलित करना उचित है। इस अनन्य भाव की कसौटी क्या है? परिवर्तन की सम्भावना तथा बाधनीयता ही इसकी कसौटी हो सकती है। सम्भावना का सम्बन्ध शब्द की समता से है। अनिवचनीय भावों के प्रसंग में आकर इस सम्भावना की सीमा हो जाती है। जहाँ शब्द ऐसे अनिवचनीय भावों का व्यक्त करते हैं अथवा उनकी अभिव्यक्ति के निमित्त बनते हैं वहाँ परिवर्तन की सम्भावना नहीं रहती। बाधनीयता का प्रश्न काव्य के सौन्दर्य और आनन्द से सम्बन्धित है। सौन्दर्य और आनन्द का अपघातक होने पर यह परिवर्तन संभव होने पर भी बाधनीय नहीं होता। यह स्पष्ट है कि परिवर्तन की यह सम्भावना निवचनीय विषयों के क्षेत्र में ही हो सकती है। किन्तु इन क्षेत्रों में भी यह परिवर्तन सौन्दर्य का अपघातक होता है अतः यह बाधनीय नहीं। उदाहरण के लिये कुछ काव्य के श्लोकों को ले सकते हैं। पाठ्य पुस्तकों में काव्य के छन्दों का अर्थ गद्य में दिया जाता है। मूल छन्द और उसके रूपान्तर में भाव का कोई अन्तर नहीं रहता। रूपान्तरकार का लक्ष्य भाव की बदलना नहीं बल्कि स्यावन् रचना होता है। शब्दों में भी बहुत कम अन्तर होता है। मुख्य अन्तर समस्त वाग्व्य

अथवा रस के समग्र रूप की तुलना में ही विनिर्दिष्ट होता है। भाव की समानता और शब्दों के सूक्ष्म परिवर्तन के होने हुए भी शब्दों के रंग रंगांतर में काव्य का सौन्दर्य प्रकट नहीं बना रहता। उगम सौन्दर्य की हानि हानती है। इसीलिये समग्र भाव होने पर भी रस रंगांतर की वाक्य नहीं माना जाता। शास्त्र और विज्ञान की पद्धत रचनाओं में भी इस प्रकार के रंगांतर का सौन्दर्य की हानि होती है। इसीलिये ये भी काव्य के अन्तर्गत हैं उनमें भी रस और अर्थ का साहित्य प्रियमान है। इस रंगांतर में रस का वह प्रतिगम नष्ट हो जाता है जिस पर काव्य-सौन्दर्य निर्भर है और इस रस के प्रतिगम का भाव से अभिन्न सम्बन्ध है।

अस्तु ! साहित्य का वह विशेष रूप जिसमें विनयन और भाव प्रत्यय रूप से सम्पृक्त रहते हैं वाङ्मय साहित्य की वाक्य का पर्याय बनाता है। इस प्रत्यय भाव के अर्थ सूक्ष्म और गम्भीर लक्षण काव्य में श्रेष्ठता की श्रद्धा का विधान करते हैं। विज्ञान और शास्त्र में इस विशेष अर्थ में रस और अर्थ का साहित्य नहीं होता। न - अथवा रूप को अन्तर्गत में उसमें प्रयोजन की हानि नहीं होती यह प्रयोजन सौन्दर्य की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि अर्थ का अभिधान होता है। अर्थ के इस अभिधान में सहायक होने पर रूप का परिवर्तन शास्त्र और विज्ञान में वाङ्मयीय होता है किन्तु काव्य में वह तभी वाङ्मयीय होता है जब कि वह सौन्दर्य की अभिवृद्धि करता है। मन्त्रमूर्ति के अविदितगतयामा रात्रि रेवत्यर सीत् में एव के स्थान पर एव का परिवर्तन इसका उदाहरण है। किन्तु तब काव्य का परिवर्तित रूप ही श्रेष्ठतर रूप होगा और उसमें फिर परिवर्तन सम्भव न होने पर वही प्रत्ययता का भाव सिद्ध होगा जिसे हमने काव्य का लक्षण माना है।

रस और अर्थ के इस साहित्य में रस काव्य का रूप है और अर्थ अथवा भाव काव्य का तत्त्व है। काव्य में रस और अर्थ का प्रत्यय भाव से साहित्य होता है। ऐसा विज्ञान और शास्त्र में नहीं किन्तु साथ ही यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि काव्य एक कला है और रूप का प्रतिगम ही सौन्दर्य का सामान्य लक्षण है। अतः काव्य में केवल रसमय रूप के साथ नहीं (जो सर्वत्र पाया जाता है) बल्कि रूप प्रतिगम के साथ भाव अथवा अर्थ का साहित्य होता है। यह रूप का प्रतिगम क्या है? उपयोगिता से अधिक रूप का अन्तर्गत प्रतिगम कहा जा सकता है। उपयोगिता का सर्वत्र रूप की अपेक्षा तत्त्व से अधिक है। निश्चयीय तथा अभिधेय अर्थ तक ही

उपयोगिता का क्षेत्र है। जिसका निश्चित निर्धारण और निवचन नहीं हो सकता उसकी उपयोगिता का प्रमण ही असंगत है। अतः उपयोगिता से अधिक रूप का चमत्कार अतिगम्य है। रूप का यह अतिगम्य सीमित तथा विस्तृत तथा निवचनीय और अनिवचनीय दोनों ही प्रकार के भावों से सम्बद्ध हो सकता है। अभिहित के अतिगम्य न होने पर अभिषेय (जिसका अभिधान सम्भव है) भाव तत्त्व की भाव का अतिगम्य कहा जा सकता है। भाव के अतिगम्य के ये दो प्रमाण रूप हैं। इन दोनों ही रूपों में भाव का अतिगम्य होने पर काव्य का सोदय समृद्ध होता है। विज्ञान और गान्धर्व के पद्यबद्ध ग्रंथों में भाव का अतिगम्य नहीं होता। भाव की यथायथा और उनका अभिधान इन ग्रंथों का मुख्य साम्य है। रूप के अतिगम्य का अभिधान उसमें सोदय के द्वारा इस लक्ष्य को सुगम बनाने के लिये किया जाता है। अतः यह काव्य की 'यापक परिभाषा' की परिधि में आ जाते हैं। किन्तु भाव का अतिगम्य हममें नहीं होता। इसीलिये प्रायः इन्हें काव्य की कोटि में नहीं गिना जाता। किन्तु हम दर्शन आध्यात्म भक्ति, उन्नत आदि के पद्यबद्ध ग्रंथों में दोनों ही रूपों में भाव का अतिगम्य रहता है इसीलिये वह काव्य के अतिगम्य सम्मिलित करना उचित है।

भाव का अतिगम्य होने पर काव्य में रूप और भाव दोनों के अतिगम्य का अधिक साम्य हो जाता है। अतिगम्य के इस साम्य में समृद्धि की अनिवार्य बढ़ती है और दोनों की अनिवार्यता का भाव अधिक बढ़ जाता है। यह समृद्ध साम्य काव्यगत साहित्य को सुदृढ़ और यथार्थ बनाता है। इस साम्य के आधार पर साहित्य अथवा काव्य के दो भेद किये जा सकते हैं। काव्य का एक प्रकार यह है जिसमें रूप का अतिगम्य होता है किन्तु भाव का अतिगम्य नहीं होता। गान्धर्व और विज्ञान के पद्यबद्ध ग्रंथ का यही इसी श्रेणी में है। काव्य के इस प्रकार में रूप का परिवर्तन सम्भव तो होता है किन्तु वांछनीय नहीं होता। काव्य का दूसरा प्रकार यह है जिसमें भाव और रूप दोनों का अतिगम्य का अनिवार्य भाव से साहित्य होता है। काव्य के इस प्रकार में रूप का परिवर्तन न सम्भव होता है और न वांछनीय। अभिषेय भाव के अनभिहित हान पर यह परिवर्तन कुछ सम्भव भी हो सकता है किन्तु यह वांछनीय नहीं होता क्योंकि उससे काव्य का सौन्दर्य का अपमान होता है। रूप और भाव के साम्य का अर्थ उनकी परिमाणगुण समानता नहीं बल्कि उनका सम्बन्ध गत सामञ्जस्य है। यह सामञ्जस्य गान्धर्व और विज्ञान के ग्रंथों में भी बहुत जगह होता है। किन्तु उनमें रूप और भाव का अति

काव्य नहीं होगा। इन दोनों में घट ही मध्य होता है और रस का प्रयोजन घट को निमित्त और निमित्तित करना होता है। इसका विरहीत जिस काव्य में रस और भाव दोनों का प्रतिपाद होता है उनमें दोनों एक दूसरे की अनिमित्त सीमाओं में अभिव्यक्ति करता है। शास्त्र और विज्ञान में भी रस और भाव एक दूसरे के उपकारण होते हैं किन्तु वे एक दूसरे के अभिव्यक्त नहीं होते। काव्य में वे एक दूसरे के अभिव्यक्त बन जाते हैं। अतः उनका साहित्य अधिक सम्पन्न एवं हृद हो जाता है।

काव्य में रस और भाव के प्रतिपाद को हम शक्ति अलंकार रस रीति आदि काव्य शास्त्र के परिचित घटों के प्रसंग में रस कहते हैं। इस प्रकार काव्य के स्वभाव का यह अभिनव विवेचन काव्यशास्त्र की परम्परा से सम्बद्ध भी हो सकेगा और साथ ही काव्यशास्त्र के परिचित सिद्धान्तों के प्रकाश में काव्य के स्वरूप का यह विवेचन अधिक विगद और प्रामाणिक बन सकेगा। काव्य शास्त्र की परम्परा में रस रीति अलंकार वक्रोक्ति छानि आदि को काव्य के लक्षणों में विशिष्ट स्थान दिया गया है। अधिकांश आचार्य रस को काव्य की आत्मा मानते हैं। काव्यशास्त्र के आचार्य विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा वाक्य रसात्मक काव्यम् की है। अन्य आचार्य काव्य के उपकरणों में अलंकार रीति आदि तत्वों को आवश्यक मानते हुए भी काव्य के स्वरूप में रस को ही परम महत्व देते हैं। काव्यशास्त्र के इतिहास में रस का सिद्धान्त ही अधिक प्रचलित हुआ है विभानुभावसत्त्वारिसंयोगात् रस निष्पत्ति। इस भारत के रस सम्बन्धी आदि सूत्र की वाक्या अनेक प्रकार से हुई है। अन्त में अभिनव गुप्त के अभिव्यक्तिवाद में इस सिद्धान्त की परिणति हुई। अलंकार को महत्व देने वाले अग्निपुराण, दण्डी आदि भी रस को ही काव्य का परमत्व मानते हैं। वाग्बट्टयप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।

—अग्निपुराण ३३७।३३

‘नाम सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थं निषिञ्चति

काव्यादयः—१।६२

अभिनव गुप्त के बाद विभाव आदि के सहयोग से स्थायी भावों की अभिव्यक्ति के रूप में रसवाद ही काव्यशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त बन गया। हिंदी के मध्यकालीन और आधुनिक आचार्य भी रसवाद की परम्परा को ही

मानते रहे हैं। रससिद्धांत के अतिरिक्त एक आनन्दवदन का ध्वनिसिद्धांत भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। रस की अपेक्षा ध्वनि अधिक प्रापक है। रस ध्वनि के अतिरिक्त दो अन्य रूप आनन्दवदन ने स्वीकृत किये हैं यद्यपि रस ध्वनि को ही उन्होंने काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप माना है। अलंकार रीति वक्रोक्ति, भोचित्य आदि को काव्य का सर्वस्व किसी न नहीं माना है। अलंकार के सम्बन्ध में तो केवल एक ही प्रश्न मुख्य रहा है कि अलंकार का क्या मुख्य धर्म है अथवा नहीं। भट्टभास्कर के अनन्वयति पुनः क्वापि से यह विचार प्रारम्भ हुआ कि अपवाद रूप से भी अलंकार रहित काव्य सम्भव हो सकता है अथवा नहीं। भट्टभास्कर ने अपनी व्याख्या में स्पष्ट किया है कि उनका अभिप्राय अनन्वयति रहित काव्य से नहीं बल्कि अलंकार से है। फिर भी जयदेव ने इस प्रसंग में यह तीक्ष्ण दृष्टि किया है जो काव्य शास्त्र में प्रसिद्ध है।

अङ्गीकरोति यः काव्यं क्षान्तिर्वाचनलङ्घनी ।

असौ न भवति कस्मादनुपपन्नमनलङ्घनी ॥

—चंद्रालोक १।८

चण्डी का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार उष्णता ध्वनि का प्रायः दायक धर्म है उसी प्रकार अलंकार काव्य के आवश्यक धर्म हैं। काव्य में अलंकार की इस प्रायश्चित्तता को सभी प्राचार्य मानते हैं और अलंकारवादी भी यह मानते हैं कि अलंकार ही काव्य का सर्वस्व नहीं है। उसके अनुसार भी अलंकार रस के सहयोगी हैं। रीति वक्रोक्ति और भोचित्य के प्रवर्तकों ने अपने सिद्धांतों को अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है और अपने सिद्धांतों में रस ध्वनि आदि को भी समेटने की चेष्टा की है। रीतिकार वासन, रीति को ही अपने काव्य की आत्मा मानते हैं। कृतक और दोषेद ने क्रमशः वक्रोक्ति और भोचित्य को काव्य का प्राण (जीवित) माना है। काव्य शास्त्रों के इन प्राचार्यों के कुछ आग्रह और अतिचार अवश्य है किंतु साथ ही इन मतों में काव्य के अत्यंत महत्वपूर्ण रहस्य प्रकाशित हुए हैं। इन रहस्यों का चालोक में काव्य के स्वरूप का निर्धारण अधिक समुचित और समीचीन हो सकेगा।

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में यह धारणा प्रारम्भ से ही स्पष्ट रही है कि काव्य और अर्थ में साहित्य से काव्य रचना होती है। काव्य और

अथ व इम साहित्य का विस्मय हम अभी ऊपर कर चुके हैं। हमारे मन में इस साहित्य का अथ वर्य और अथ का समवाय सम्बन्ध है। काव्य में यह समवाय समागत रूप के अतिशय के साथ होता है और प्रायः भाव के साथ होता है। साहित्य के इस समवाय में शब्दों में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। शब्दों के बदलने पर काव्य का सौन्दर्य अनुप्राण नहीं रह सकता। भाव अथवा भाव के अतिशय व साथ सम्बन्धित रूप के अतिशय का समवाय ही काव्यगत साहित्य का मर्म है।

साहित्य का यह समवाय अभिव्यक्ति की एक विशेष भूमिका के द्वारा होता है जिस ध्वनि वक्राति रीति अलंकार आदि व रूप में निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। रीति सम्प्रदाय में इस अभिव्यक्ति को केवल गान्धर्व मानकर तथा रीति को गुणात्मक मानकर इस अभिव्यक्ति को कुछ सीमित कर दिया गया है। अज माधुय आदि गुण केवल गान्धर्व ही नहीं होते बल्कि भावगत भी होते हैं। गुणों को भावगत मानकर रीति को अष्ट काव्य का (जिसमें भाव का अतिशय रहता है) व्यापक लक्षण बनाया जा सकता है। गुणों व भावात्मक रूप को समाहित कर रीति उस अभिव्यक्ति का पर्याय बन सकती है, जो काव्य में शब्द और अर्थों के साहित्य को संपन्न करती है। काव्य की वक्रात्मक अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ की भूमिका पर पृथक् पृथक् निर्भर नहीं है बल्कि दोनों की भूमिका के साम्य में निहित है। शक्ति और शिव के साम्य के समान अभिव्यक्ति के दोनों पक्षों का साम्य उत्तम काव्य का रहस्य है। इसीनिये का पञ्चाङ्ग में रीति के अनिरिक्त अर्थ सभी सम्प्रदायों में शब्द और अर्थ दोनों पक्षों का ग्रहण किया गया है। वक्रोक्ति में कुछ रीति के समान ही शब्द भूमिका की प्रधानता है। किन्तु जिस प्रकार माधुय आदि गुणों को भाव में आत मानकर उसे काव्य का व्यापक लक्षण बताया जा सकता है उसी प्रकार वक्रोक्ति की भी भूमिका में भाव की भूमिका को समाहित कर उस भी काव्य का व्यापक लक्षण बनाया जा सकता है।

रस सिद्धांत में कुछ भाव की प्रधानता दिखाई देती है यद्यपि अधिकांश आचार्य अलंकार रीति ध्वनि आदि को रस का उपकारक मानते फिर भी रस के स्वरूप में अनुभूति पूर्ण भाव ही की प्रधानता है। रस की इस धारणा का आधार यह है कि सभी आचार्य जीवन के अनुभव के अनुरूप रस की कल्पना करते रहे हैं। जीवन की अनुभूति व रूप में भी रस की

जो कल्पना आचार्यों ने की है उसमें भी प्राकृतिक रसों की ही प्रधानता है। वात्सल्य भक्ति आदि रसों को काव्य गान्धर्व में पीछे स्थान मिला है। सात रस की रसात्मकता सदिग्ध है। अथ सात रस प्रधानतः प्राकृत भावा पर ही आधारित हैं। आध्यात्मिक रस की कल्पना आचार्यों की मूल नही बरन् चन्द्रिका आचार्यों की देन है। काव्य गान्धर्व के आचार्य एक ओर उपनिषदा व आध्यात्मिक रस का स्मरण करते रहें और दूसरी ओर उनका रस सिद्धांत प्राकृतिक रस में ही सीमित रहा। आत्मा और प्रकृति के मिलाप सदाओं का विवचन न होने के कारण काव्य गान्धर्व के रस सिद्धांत की प्रगति कभी प्रकट न हो सकी। प्राकृतिक और आध्यात्मिक रसों से भिन्न किन्तु उनके सामञ्जस्य से पूर्ण सांस्कृतिक रस की कल्पना पूर्वी अथवा पश्चिमी काव्यगान्धर्व में सम्भवतः कोई भी आचार्य न कर सका।

कला और काव्य का यह सांस्कृतिक रस प्राकृतिक और आध्यात्मिक रसों से ही भिन्न नही बरन् जीवन में प्राप्त होने वाले सांस्कृतिक रस के साक्षात् अनुभव से ही भिन्न है। सांस्कृतिक रस के साक्षात् अनुभव में भाव की प्रधानता होती है रूप की प्रधानता नही होती। प्रायः वह आत्माओं के मीन और प्रसन्नित सम्बन्ध का अनिवार्य रस बना रहता है। आंतरिक अभिव्यक्ति तो इस रस की अनुभूति से अभिन्न है किन्तु उसकी बाह्य अभिव्यक्ति सदा अपेक्षित तथा सम्भव नहीं होती। काव्य में वह सांस्कृतिक रस अभिव्यक्ति का विषय बनता है। काव्य में यह अभिव्यक्ति बाह्य होती है। गान्धर्व की भगिमा उस रस की अभिव्यक्ति की गीत है। कला की दृष्टि से काव्यगत सौन्दर्य का रस इस अभिव्यक्ति में ही निहित रहता है। यह काव्यगत सौन्दर्य का रस है जो प्राकृतिक आध्यात्मिक और सांस्कृतिक तीनों रसों का भावगत रूप से भिन्न है। काव्यगत रस के इस विनय रूप की कल्पना न कर सकने के कारण काव्यगान्धर्व का आचार्य प्राकृतिक और आध्यात्मिक रसों के साक्षात् अनुभव रूप रस के विवचन में उलझे रहें। काव्य जीवन का एक अंग अवश्य है किन्तु जिन हम काव्य का रूप में जानते मानते हैं वह काव्य जीवन का पर्याय नहीं बरन् जीवन का विनय अथवा अंग है। जीवन उस काव्य का विषय अवश्य बनता है किन्तु काव्य साक्षात् जीवन नहीं है। जहाँ गान्धर्व अभिव्यक्ति न बनकर काव्य का सौन्दर्य साक्षात् जीवन में समाहित रहता है वहाँ निस्संदेह काव्य जीवन से अभिन्न बन जाता है। भारतीय पदों के अतिरिक्त काव्य का यह जीवन रूप अथवा विनय बहिन है। रसिकजनों के व्यवहार में इस

बाह्य व बाह्यविषय धामाग मिल गये हैं। सामा यत्त सम्पत्ता के विभाग में समान जीवन में बाह्य का सम्बन्ध कम होगा गया है और बाह्य पर स्वतंत्र बना जाता गया है।

पाद मय अभिव्यक्ति का मोन्य इस बाह्य का मम है। इस अभिव्यक्ति का मोन्य ही बाह्य का रस है। भाव का प्रतिन्य इस मोन्य को सम्पन्न बनाता है। यह भाव बाह्य का तरंग प्रयत्न विषय उगमें गमाहित होता है। भाव का यह प्रतिनय प्राकृतिक प्राप्तिपरिणत सांस्कृतिक प्राप्ति विनी भी रस व रूप में बाह्य का तरंग बना रहता है। यदिबाह्य बाह्य में प्राकृतिक रस की प्रचुरता रही है मद्यपि सांस्कृतिक रस के अनन्त स्थान बाह्यों में मिल सकते हैं। बाह्य के रूपगत सौन्दर्य के रस को भाव प्रयत्न तरंगगत रसों में प्रयत्न करने ही बाह्य के स्वरूप का मम सम्पन्न जा सकता है। रस की इस नवीन धारणा में बाह्य के रूप और भाव दोनों का सम्बन्ध प्रवेक्षित होगा। इस सम्बन्ध का रूप यही होगा जिसका संकेत हम अभी रीति और अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में ऊपर कर चुके हैं। इस प्रकार रस और रीति एक दूसरे के परस्पर निबट जा जाते हैं।

मलकार ध्वनि वक्रोक्ति आदि में बाह्य और प्रयत्न दोनों पक्षों का प्रहण दिखाई देता है। बाह्य और प्रयत्न के साहित्य का सूत्र इन सम्प्रदायों में अधिक प्रयुक्त रहता है। मलकारवादियों ने बाह्य मलकार और मलकारका भेद करने इस सूत्र को छिन करने का प्रयत्न किया है। वक्रोक्ति मत में भी बाह्य भागमा की प्रधानता प्रतीत होती है। ध्वनि में बाह्य और प्रयत्न का सामञ्जस्य अधिक है। अतः ध्वनि का सिद्धांत काव्य के वास्तविक लक्षण सबसे अधिक निकट पहुँचता है। मलकारों को सभी काय का आवश्यक उपकरण मानते हैं। दण्डी ने अपने यग में यह शब्द कहा है कि मलकार उसी प्रकार काय का सहज गुण है जिस प्रकार उद्युताग्नि का सहज धम है। किंतु दण्डी ने भी अपने काय के लक्षण में मलकार को काय का एक अंग ही माना है। वे काय के स्वरूप और स्वभाव के रूप में मलकार की याख्या नहीं कर सके हैं। मलकार को काय का सौन्दर्य कहा जाता है (सौन्दर्यमलकार)। सौन्दर्य रूप के प्रतिनय एवं भाव प्रयत्न भाव के प्रतिनय के साथ उसके सामञ्जस्य में निहित रहना है। बाह्यमलकारों में रूप का प्रतिनय ही प्रधान है। किंतु मलकार में रूप और भाव का प्रतिनय अभिन्न रहता है। भाव का प्रतिनय अभीष्ट होते हुए

भी वह रूप के प्रतिपक्ष के साथ समन्वित रहता है। रूप और भाव के प्रतिपक्ष का समन्वय ही काव्य का समीचीन लक्षण है। इस रूप में अर्थालंकार की व्याख्या करने पर वह काव्य का व्यापक लक्षण बन जाता है। इस रूप में अर्थालंकार काय में सबत्र मिलेगा चाहे उसे कोई विशेष नाम न दिया जा सक। अर्थालंकार के इस सामान्य स्वरूप का निरूपण न करके काव्य का अर्थ के आभाव उसके विपक्ष स्था की गणना में अधिक संलग्न रहे। इसीलिये वे काव्य के सामान्य लक्षण के रूप में अलंकार का प्रवगाहन नहीं कर सकें और उस काव्य का एक प्रतिरिक्त उपकरण मात्र मानते रह। अर्थालंकार भी केवल अनुप्रास यमक और श्लेष तक ही सीमित नहीं है। किसी भी रूप में "अ" की भविष्य का प्रतिपक्ष काय का अलंकार है। यमक और श्लेष का स्था करते हैं। भाव का प्रतिपक्ष न होने पर भी रूप का प्रतिपक्ष काव्य की मृष्टि करता है चाहे वह उत्तम काय न हो।

इस प्रकार अलंकार काय का व्यापक लक्षण बन जाता है। यह अलंकार स्त्री के आभूषणों की भांति काव्य के सौन्दर्य की सजा का प्रतिरिक्त उपकरण नहीं बरन् स्त्री के यौवन और उसके अंगविषास की भांति उसके सौन्दर्य का समवेत स्वरूप है। कालिदास ने यौवन को स्त्रिया का सहज अलंकार माना है (कुमार सभवं)। प्रतिरिक्त आभूषणों के सम्बन्ध में कालिदास ने अपना मत शकुन्तल के किम्वद्वि मधुराणाम् मदन नाट्योनाम् में व्यक्त किया है। काव्य शास्त्र के आचार्य कविता कामिनी के प्रतिरिक्त आभूषणों के रूप में ही अलंकारों की गणना करते रहे। किन्तु स्त्री के यौवन और विषास की भांति अलंकार वस्तुतः काव्य का व्यापक और सामान्य लक्षण है। जीवन और काय के प्रमत्त कालिदास के उक्त मत और उनके समस्त काव्य में इस धारणा का समर्थन मिलता है।

रस कायों की भांति वक्रोक्ति-कार भी शब्द की भविष्य पर ही अधिक जोर देते रहे। रस की वक्रता की ही वे काव्य में प्रधान मानते रहे। रस की वक्रता काय के रूप का प्रतिपक्ष है। इस वक्रोक्ति में कुन्तक पादि भविष्य की प्रसाधारण विविधता ही देखते रहे। किन्तु वस्तुतः रूप के समस्त प्रतिपक्ष में सामान्य उपयोक्तृत्वानी अभिधान से भिन्न एक भविष्य होती है। अभिव्यक्ति की इस भविष्य में समस्त अलंकारों तथा रस के प्रतिरिक्त काव्य के समस्त लक्षणों का समाहार किया जा सकता है। यह समाहार वक्रोक्ति के आचार्यों के प्रयत्न की भांति बलात् न होना, बरन् सहज और स्वभाव

होगा। यत्रोक्ति के आभाव परति का विरोध करो रहे हैं। कुतब ने यत्रोक्ति को विविध अंगिष्ठा (विविधव्यभिच्चा यत्रोक्ति) कहा है। किंतु यत्रोक्ति प्रसिद्ध व्यभिच्चा से भिन्न है। वक्रोक्ति प्रसिद्धाभियान व्यतिरेकिणी विविध व्यभिच्चा। ऐसी स्थिति में यत्रोक्ति व्यञ्जना के अत्यंत निरुद्ध आजागी है और रूप व अतिगम्य व साध साध उसमें भाव व अतिगम्य का भी समाहार हो जाता है। तथा वह रीति एव अत्यंत की भाँति काव्य का व्यापक लक्षण बन जाती है। पर वक्रोक्ति से सत्तर वाक्य और प्रबध यत्रोक्ति का विस्तार करने पर यत्रोक्ति का सिद्धांत काव्य अथवा साहित्य में रूप व अतिगम्य व दूरतम क्षितिजों को अपनी दृष्टि में समाहित कर लेता है।

ध्वनि का सिद्धांत वक्रोक्ति से भिन्न प्रतीत होता है। वक्रोक्ति के प्रसिद्ध रूप में उक्ति की विविधता ही प्रधान है। ध्वनि के सिद्धांत में अर्थ की महिमा अधिक है। किंतु ध्वनित अर्थ अभिव्यक्त नहीं होता बरन व्यञ्जना के द्वारा अतिवृत्त होता है। व्यञ्जना अभिव्यक्ति की वह भूमिमा है जो अनभिव्यक्त अर्थवा अनभिव्यक्त अर्थ को भी अपनी अनुभूत शक्ति के द्वारा अपनी म अतिवृत्त कर देती है। व्यञ्जना इस अभिव्यक्ति का व्यापार है। ध्वनि का प्रयोग व्यञ्जित व्यापार और अर्थ दोनों के लिये होता है। अथवा ध्वनि और व्यञ्जना में भेद करना कठिन है। उक्ति की आधारभूत विविधता के स्थान पर यदि अभिव्यक्ति की भूमिमा के रूप में वक्रोक्ति की व्याख्या की जाय तो वक्रोक्ति और ध्वनि एक दूसरे के बहुत निकट आजाते हैं। ध्वनि का आधार व्याकरण का स्कोट सिद्धांत है। स्कोट के अनुरूप यदि वाक्य ध्वनि और प्रबध ध्वनि की कल्पना की जाय तो ध्वनि की अभिव्यक्ति का विस्तार वक्रोक्ति के समान ही साहित्य के दूरतम क्षितिजों तक संभव है। यद्यपि ध्वनि में अर्थ की प्रधानता है किंतु अर्थ की व्यञ्जना अभिव्यक्ति से अभिन्न है। अभिव्यक्ति में जहाँ एक ओर अर्थ का अतिगम्य है वहाँ दूसरी ओर वाक्य व्यापार की भूमिमा उसका प्रकट रूप है। इस ध्वनि के सिद्धांत की व्याख्या भी रूप और भाव के अतिगम्य के उस साम्य के अनुरूप की जा सकती है जिस हम निरंतर काव्य का व्यापक और सा तोषजनक लक्षण मानते रहे हैं। ध्वनिवादियों ने अर्थ रूपों में ध्वनि के विस्तृत क्षितिज भी उनकी दृष्टि में रहे हैं। वस्तुतः ध्वनि को यदि भाव ध्वनि कहा जाय तो ध्वनि के समस्त रूपों का समाहार उसमें हो सकता है। इस व सम्बन्ध में इतना आवश्यक है कि भाव के समान रूप का समाधान ध्वनि की व्यञ्जना में तत्त्वरूप में नहीं हो सकता। व्यञ्जना में समाहित भाव तत्त्वों की असह्य प्रेरणा व द्वारा उस पाठकों के हृदय में

अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार रस की ध्वनि की भी ध्वनि कह सकते हैं। अभिनव गुप्त के ध्वनिलोक की 'लोचन' नामक याख्या में अपने अभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा कर ध्वनिवाद के रस सिद्धांत को पूर्ण किया है। किंतु अभिनव गुप्त की रसविषयक धारणा भरत के आदि सूत्र और उसकी परम्परागत याख्याओं से सीमित है। काव्यशास्त्र की रसमीमांसा में अनेक अतिरिक्त है।

श्रीचित्त का सिद्धांत काव्यशास्त्र में अत्यंत मौलिक एवं महत्वपूर्ण है। श्रीचित्त का समाहार रूप के अतिरिक्त म नही किया जा सकता। वह रूप से अतिरिक्त है। हम उसे रूप के अतिरिक्त की मर्यादा कह सकते हैं। वस्तुतः श्रीचित्त काव्य की मर्यादा का ही सिद्धांत है। अभिव्यक्ति की जिस भूमि में काव्य के रूप और भाव के अतिरिक्त का साम्य होता है। उसकी कोई मर्यादा न होने पर वह सौंदर्य के स्थान पर असुंदरता की सृष्टि कर सकता है। कालदास के द्वारा सलूक से राम की उपमा देना इसका एक उदाहरण है। काव्य की इस मर्यादा के अनेक रूप हैं। रूप के विनाश और अभिव्यक्ति के साम्य के अतिरिक्त जीवन का ध्येय भी इस मर्यादा के अंतर्गत है। श्रीचित्त का सिद्धांत काव्य में सौंदर्य और श्रेय का सम्बन्ध करता है। श्रीचित्त की व्यापकता को ध्यान में रखते हुए दोमट्ट ने अपने श्रीचित्त विचार में श्रीचित्त के अनेक भेद बताये हैं और अलग-अलग रीति रस ध्वनि आदि सभी सिद्धांतों को उनमें समाहित करने का प्रयत्न किया है। किंतु वस्तुतः श्रीचित्त के अंतर्गत इन सबका समाहार नहीं किया जा सकता। इन सिद्धांतों का सम्बन्ध रूप और भाव के अतिरिक्त से है जो काव्य को सौंदर्य का विधान करते हैं श्रीचित्त उस सौंदर्य की मर्यादा है। अतएव वह एक अतिरिक्त तत्व है।

वस्तुतः काव्यशास्त्र के इतिहास में काव्य के सम्बन्ध में जो भिन्न भिन्न सिद्धांत और उन पर आधारित सम्प्रदाय मिलते हैं वे सभी काव्य में किसी मौलिक तत्व का संकेत कर रहे हैं। किंतु यह तत्व ही काव्य का सारस्व नहीं है। प्रत्येक सम्प्रदाय ने काव्य को एक मौलिक तत्व को हृदय से गृहण किया है। इस दृष्टि से प्रत्येक सम्प्रदाय आंगिक रूप में काव्य के सत्य का प्रतिनिधि है। किंतु इन सम्प्रदायों के प्रवक्तव्य और समय में अपने सिद्धांत और उनकी सीमा न समझ कर आंगिक सत्य को पूर्ण सत्य और काव्य के एक तत्व को काव्य का सारस्व मानने का आग्रह करते रहे। इसीलिये प्रत्येक

साधारण के दूसरे के सिद्धांतों का गणना किया है तथा अन्य सिद्धांतों को अपने सिद्धांत की परिधि में समेटने का प्रयत्न किया है। सभी सिद्धांतों के एक परीच होने के कारण साधारणों के य प्रयत्न असफल रहे। वाच्य के स्वयम् के निर्धारण की सही दिशा आधुनिक सिद्धांत का आग्रह नहीं है। हमन कुछ उदार दृष्टिकोण अपना कर वाच्य शास्त्र के सभी सिद्धांतों में वाच्य का सामान्यतया सोझने का प्रयत्न किया है। हमारे मत में वाच्य का यह सामान्य स्वरूप का प्रतिशय है जो वाच्य में भाव अथवा भाव के प्रतिशय के साथ समरूप रहता है। सभी वस्तुओं में रूप का यह प्रतिशय अभिव्यक्ति के माध्यम की भूमिका है। वाच्य का माध्यम शास्त्र है। अतः काव्य में यह रूप का प्रतिशय शब्द वाच्य एवं प्रत्यय के विन्यास की भूमिका के रूप में रहता है। अथ अथवा भाव शब्द से अभिन्न है। अतः भाव अथवा भाव का प्रतिशय रूप के इस प्रतिशय से समवेत रहता है। अभिव्यक्ति की भूमिका में रूप और भाव का साम्य अभीष्ट है। रूप के प्रतिशय में अनतिशयित अथ अथवा यथाय का प्रतिशय होने पर काव्य का जो रूप बनता है उसे प्रायः पद्य कहा जाता है और उसकी गणना काव्य में नहीं की जाती। किंतु गद्य में सूत्रों की लय में जो रूप का प्रतिशय रहता है वह निःसंदेह वार्तमान सौंदर्य का स्वरूप है और उसे पद्य नहीं कहा जा सकता। अतएव किसी भी प्रकार के रूप के प्रतिशय से युक्त शब्द रचना को यापक अथ में काय कहना उचित है। भाव का प्रतिशय न होने पर भी इस काव्य में रूप का सौंदर्य रहता है। रूप और भाव का बहुत कुछ साम्य भी इन रचनाओं में मिलता है। भाव के प्रतिशय से युक्त काव्य को सभी काव्य के रूप में स्वीकार करते हैं यद्यपि इसका स्वरूप का सतोपजनक निर्धारण वाच्य शास्त्र के इतिहास में नहीं हो सका है।

हमारे मत में रूप और भाव के प्रतिशय का साम्य इस काव्य का सबसे अधिक सतोपजनक लक्षण है। काव्य शास्त्र के रीति वक्रोक्ति और अलंकार में रूप की प्रधानता है। सादृश्याकार ध्वनि रस आदि के सिद्धांतों में भाव की प्रधानता है। किंतु वस्तुतः काव्य में रूप और भाव के प्रतिशय का साम्य ही सौंदर्य का विधान करता है। अभिव्यक्ति की जिस भूमिका के द्वारा रूप और भाव के प्रतिशय का यह साम्य सम्पन्न होता है वह वक्रोक्ति एवं ध्वनि से बहुत निकट है। स्पष्ट रूप में वह लोक प्रसिद्ध अभिधान से भिन्न है। लक्षणा का समाहार संभवतः ध्वनि की योजना में हो सकता है। लक्षणा निःसंदेह अथ के प्रतिशय का समवेत करती है। अतः रूप और भाव

के प्रतिपाद्य तथा उनके साम्य की वह मर्यादा है जो सौंदर्य को सन्तुलित एवं जीवन से मगन बनाती है। वह काव्य में सौंदर्य और श्रम का समन्वय करता है। इस प्रकार रूप और भाव के प्रतिपाद्य के रूप में काव्य गाल्ज के विभिन्न सिद्धांतों की देखने पर उनका सामंजस्य संभव दिखाई देता है। रस रीति प्रत्यक्ष प्रतीति के सिद्धांतों के विग्रह रूप काव्यगत रूप और भाव के साम्य के कुछ विशेष पक्षों की विवृति में सहायक हो सकते हैं। काव्य के इन विभिन्न सिद्धांतों का यह सामंजस्य सम्मट जयदेव आदि उन उगार प्राचायों के प्रयत्न से भिन्न है जिसमें काव्य के विभिन्न सिद्धांतों को पृथक् पृथक् मानते हुए भी काव्य की परिभाषा में उन सिद्धांतों से लक्षित विभिन्न तत्वों का एकत्र भावजन किया गया है। काव्य इन विभिन्न सिद्धांतों से लक्षित अनेक तत्वों का समग्र मात्र नहीं है। काव्य में इन तत्वों का बल स्याम नहीं बल्कि समन्वय रहता है। इस समन्वय का सामान्य आधार रूप का प्रतिपाद्य और भाव के साथ उसका साम्य है। वस्तुतः काव्य का यह सामान्य आधार काव्य गाल्ज के विभिन्न सिद्धांतों का अभिप्राय नहीं है इसीनिये ये सिद्धांत पृथक् पृथक् रहें और इनके परस्पर विरोध ने काव्यशास्त्र का भ्रान्तिपूर्ण इतिहास बनाया। कोई भी आधार काव्य के इस सामान्य लक्षण को स्पष्ट रूप से हमारे सामने न रख सके। काव्य प्रेमियों के समग्र काव्य के इस सामान्य और सर्वाधिक सत्तापजनक सिद्धांत को सामने प्रस्तुत करने में हम तब नहीं कि तु प्रसन्नता भवन्त्य है। एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि काव्य की श्रुति एवं हीनता अथवा काव्य की कठिणियों एवं प्रकारों का प्रश्न काव्य के सामान्य स्वरूप के प्रश्न से नितांत भिन्न है। काव्य का सामान्य स्वरूप वाङ्मय के अर्थ रूपों से काव्य का भेद करता है। श्रुति और हीन तथा अर्थ सभी प्रकार के काव्य इस सामान्य काव्य के अंतर्गत हैं। रूप का प्रतिपाद्य और भाव अथवा भाव के प्रतिपाद्य के साथ उसका साम्य ही काव्य का ऐसा आधार लक्षण है जो काव्य के समस्त प्रकारों को अपनी परिधि में समाहित कर सकता है। काव्य का कठिणों और प्रकारों का भेद काव्य के अंतर्गत भेदों का प्रश्न है। इन भेदों का निर्धारण काव्य के सामान्य लक्षण के अतिरिक्त अन्य सिद्धांतों के आधार पर संभव हो सकता है।

संस्कृति, कला और काव्य

सामान्यतः काव्य का प्रयोग सादृश्य भाषा के माध्यम से व्यक्त होने वाली रचना के एक विशेष रूप के लिये होता है। सादृश्य रचना के अर्थ रूप भी हैं जिनसे काव्य का भेद करना आवश्यक है। अर्थ माध्यमों के द्वारा भी रचना के अर्थ अनेक रूप हैं। अतः भी काव्य का विवेक अपेक्षित है। मानवीय रचना को हम सामान्यतः संस्कृति कह सकते हैं किन्तु समस्त रचनाओं को सांस्कृतिक न मानने पर रचना का केवल कृति का पर्याय मान कर संस्कृति उसका विवेक करना होगा। इस विवेक के सूत्र से काव्य का मनुष्य की सांस्कृतिक रचना के अंतर्गत स्थान मिलेगा। संस्कृति रचना के रूप भेदों का विचार करने पर काव्य का अंतर्भाव कला के सामान्य रूप में होगा।

संस्कृति मानवीय रचना का एक साम्य संगत रूप है वह ईश्वरीय प्रकृति और मानवीय विकृति से भिन्न है मनुष्य की सांस्कृतिक रचना का रूप सत्य गिव और सुन्दर से अचित होता है। कला इस सांस्कृतिक रचना का वह रूप है जिसमें सौंदर्य की प्रधानता होती है। कला सौंदर्य की साकार साधना है। सौंदर्य रूप की रचना है। अथवा व्यापक अर्थ में वह रूप का पर्याय है। माध्यमों के भेद से कला के अनेक भेद हो जाते हैं। काव्य कला का वह रूप है जिसमें सादृश्य भाषा के माध्यम से सौंदर्य की अभिव्यक्ति होती है।

इस प्रकार काव्य कला का ही एक उपभेद है तथा कला संस्कृति का एक अंग है। इस दृष्टि से काव्य का समुचित विवेचन संस्कृति और कला के प्रसंग में ही हो सकता है। संस्कृति की भूमिका में कला का रूप निश्चरता है और कला की भूमिका में काव्य के स्वरूप का निर्धारण अधिक संगत होता है। इस व्यापक प्रसंग और पीठिका में काव्य का विवेचन बहुत कम हुआ है। कदाचित् इसी कारण काव्य के अनेक सिद्धांतों के सम्बन्ध में अनावश्यक भ्रम

और मतभेद उत्पन्न हुए हैं। भारतीय काव्य गाल्ब म काव्य का विवेचन स्वतंत्र रूप में ही अधिक हुआ है। संस्कृति और कला की भूमिका में काव्य का विवरण भारतीय परम्परा में बहुत कम मिलता है। संस्कृति के साक्षात् और जीवन्त रूप की विचार और विवेचन से अधिक समिति नहीं है। कला चित् इसी कारण किसी भी देश की प्राचीन परम्परा में संस्कृति का विवेचन नहीं मिलता यद्यपि संस्कृति की साक्षात् परम्परा सभी देशों में मिलती है। कला के सम्बन्ध में भी अधिक सीमा तक यही सत्य है। फिर भी पश्चिम की मध्यकालीन परम्परा में कला का भारतीय परम्परा की अपेक्षा अधिक मिलता है। पश्चिम में इस कला विवेचन के सूत्र प्राचीन चिन्तन में भी मिलते हैं। इस कला विवेचन की भूमिका में काव्य की भीमासा भी पश्चिम के मध्य कालीन और प्रदीचीन चिन्तन में मिलनी है। कला के इस व्यापक विवेचन के अर्थ में सौंदर्य गाल्ब पश्चिमी चिन्तन की एक महत्वपूर्ण विपत्ति है। पश्चिम का जसा व्यवस्थित सौन्दर्य गाल्ब भारतीय परम्परा में दुर्लभ है। प्राचीन भारतीय चिन्तन में भी संस्कृति और कला के स्वरूप और सिद्धांतों का विवेचन भी बहुत कम मिलता है। भारतीय परम्परा की प्रगति में इतना अवश्य बढ़ना होगा कि स्वतंत्र रूप से काव्य का जसा सागोपाग एवं गम्भीर विवेचन भारतीय परम्परा में मिलता कला पश्चिमी परम्परा में दुर्लभ है। काव्य के स्वरूप प्रयोजन प्रेरणा भेद आदि का जसा विपुल विवेचन तथा शब्द शक्ति रस रीति गुण छन्द मलकार आदि का जसा समग्र का जसा विस्तृत आलोचन भारतीय परम्परा में मिलता है। कला में यत्र मिलना कठिन है।

फिर भी जिस भारतीय परम्परा में कवि की सरस्वती का साधक तथा काव्य की कवि की भारती (सरस्वती) माना गया है तथा बीणा पाली के रूप में सरस्वती की रूपरेखा की गई है उसमें कला की भूमिका में काव्य का विवेचन न होना निःसन्देह आश्चर्य की बात है। सरस्वती के हाथ में वेणु भी है किन्तु आकार के कारण बीणा ही प्रमुख है। सुगीत का एक घण्ट वाद्य होने के नाते बीणा कला की एक सुन्दर प्रतीक है। सरस्वती के

● निमित्तवृत्तनियमरहितां ह्यनन्वयमनीयदरनं याम् ।

नवरमङ्गिरां निमित्तमाप्तिभारती कवेज्जमति ॥ १ ॥

काव्य प्रकाश उत्तम १ द्वाका १

स्वभाव म कला की ही प्रधानता है फिर भी भारतीय परम्परा म कला की सामान्य भूमिका म काव्य का विवेचन नहीं हुआ । साम्प्रदायी कला के रूप म काव्य का स्वतन्त्र विवेचन ही भारतीय परम्परा में विपुलता म मिलता है । किन्तु कला की व्यापक भूमिका म होने के कारण प्रागुक्त होना हुआ भी काव्य के इस विवेचन म कला के सामान्य स्वभावमय सन्तुष्टि का गुण सन्निहित है । भारतीय काव्य शास्त्र म प्राप्त होने वाली काव्य की अनन्त परिभाषाओं म यह सूत्र मिलता है। इतना अवश्य है कि इन सूत्र का अस्तित्व करके भारतीय भाषाओं ने कला और काव्य के सम्बन्ध का विवेचन नहीं किया है । कला के व्यापक विवरणों म नहीं कलाओं के अन्तर्गत काव्य की गणना मिलती है वहाँ भी हम प्रसंग का विस्तार नहीं है । प्राचीन भारतीय साहित्य के प्रारम्भ म ही काव्य कलाओं की तुलना म साम्प्रदायी कला का अधिक उत्कर्ष होने के कारण काव्य कलाओं के साथ कला का सामान्य विवेचन अधिक सम्भव न हो सका किन्तु संगीत और काव्य की साम्प्रदायी कलाओं की मोमांसा यत्र स्थित और विस्तृत रूप में हुई है । अर्थात् मन्त्र महिमाओं म संगीत और काव्य की आत्मिक कलाओं का समन्वित रूप मिलता है । इन मन्त्र संहिताओं में इस समन्वय का उत्कर्ष और श्रद्धा के साथ हुआ है । प्राग्वत उत्तर भारतीय परम्परा म संगीत और काव्य का विकास एक विवेचन अधिक स्वतन्त्र रूप म हुआ है यद्यपि इस समन्वय के कल्पना पर गीत गोविन्द सूर सागर रामचरितमानस आदि जैसे सुन्दर सुमन निरन्तर खिलते रहे हैं । सांस्कृतिक और हिन्दी के काव्य काय म भी गेयता का गुण कदाचित् पश्चिमी भाषाओं के साहित्यिक काव्य की अपेक्षा नहीं अधिक है । अर्वाचीन भारत की दिव्य विभूति रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य में इस समन्वय की एक श्रेष्ठ परिणति मिलती है । सूर और तुलसी के अतिरिक्ति सामान्य और काव्य का ऐसा समन्वय अत्यन्त दुर्लभ है । समय स्वामी रामानुज सत्त ज्ञानेश्वर सत्त तुकाराम आदि के मराठी अभग्न इस कोटि म आ सकते हैं किन्तु इनमें काव्य की अपेक्षा अध्यात्म की प्रधानता है । सूर तुलसी और रवीन्द्र के जसा संगीत और काव्य का समन्वय कदाचित् ही वही मिल सके । आधुनिक हिन्दी काव्य के गीतों में इसी समन्वय की परम्परा का प्रसार तथा इसी की प्रतिध्वनि है । सांस्कृतिक और हिन्दी के (तथा कदाचित् काव्य भारतीय भाषाओं के भी) काव्य काय म भी संगीत की आत्मा प्रतिगुञ्जित होती है । भारतीय काव्य की इस संगीतात्मकता तथा भारतीय साहित्य की जीवन्त परम्परा म संगीत की प्रधानता का कारण कला के क्षेत्र म काव्य का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व है । काव्य के इसी महत्त्व के कारण एक ओर संगीत और काव्य का

सम्बन्ध अधिक मिलता है तथा दूसरी ओर स्वतंत्र रूप में काव्य का विवेचन मिलता है ।

विकासवादी के अनुसार मनुष्य के भस्तिष्क में वाणी के केन्द्र सबसे पीछे विकसित हुए हैं । प्राचीन भारतीय संस्कृति में संगीत और काव्य दोनों ही रूपों में वाणी की विपुल महिमा का सम्बन्ध उक्त वैज्ञानिक तथ्य के साथ सागत है । प्राचीन भारतवासियों में अर्थ जातियों की अपेक्षा भस्तिष्क और उसके साथ साथ वाणी का विकास सम्भवतः अधिक हुआ था इसी कारण वे प्राचीन काल में इतने विपुल साहित्य और इतनी समृद्ध संस्कृति का निर्माण कर सके । ऐसी स्थिति में मध्य एशिया के यायावर चरवाहों के इस विनाश साहित्य और संस्कृति के निर्माताओं के पूज्य होने की कल्पना पूरतः असंगत है । केवल भाषा विज्ञान के कुछ तथ्य इस सम्बन्ध की प्रमाणित नहीं कर सकते । इन तथ्यों की व्याख्या विपरीत रूप से भी हो सकती है । भाषा विज्ञान के इन तथ्यों का मूल का पूर्व से पश्चिम की ओर प्रसार अतः अधिक समीचीन सिद्ध होगा । भारतवर्ष में वास्तविक राष्ट्रीय गौरव के समुचित उत्थान और पश्चिमी देशों की साम्राज्यवादी धारणा के शिथिल होने पर ही प्राचीन भारत के निवासियों की जाति भाषा साहित्य संस्कृति आदि सम्बन्धी मौलिकता की प्रमाणित और प्रशोधित होने का अवसर मिल सकेगा ।

यन्तु अर्थ जातियों की अपेक्षा भस्तिष्क और उसके साथ-साथ बुद्धि एवं वाणी का अर्थ जातियों की अपेक्षा अधिक विकास होने के कारण ही प्राचीन भारतवासियों ने सम्यक्ता और संस्कृति तथा उसके साथ संगीत एवं काव्य का इतने श्रेष्ठ रूप और विपुल परिमाण में विकास हुआ । भस्तिष्क के विकास से वाणी के विकास का अनिवार्य सम्बन्ध होने के कारण संस्कृति की इस परम्परा में अर्थ कलाओं की अपेक्षा संगीत और काव्य की समृद्धि अधिक हुई है । उस प्राचीन काल में लिपी के द्वारा वाणी की सुरक्षित न रखने के साधन होते हुए भी तथा मूर्तिकला चित्रकला आदि की रचनाओं की सुरक्षित रखने के साधन सुलभ होने हुए भी उस प्राचीन सभ्य भारतीय संस्कृति के संगीत और काव्य के रूप में जितने विपुल उदाहरण उपलब्ध होते हैं उनकी तुलना में अल्पपरिमाण में भी उस प्राचीन काल की मूर्तिकला चित्रकला आदि की रचनाओं की सुरक्षित रखने के साधन सुलभ होने हुए भी उस प्राचीनतम भारतीय संस्कृति के

संगीत और काव्य के रूप में जिनके विपुल उद्हरण उपलब्ध हैं। उनका तुलना में अन्य परिमाण में भी उग प्राचीन काल के मूर्तिकला चित्रकला आदि के उद्हरण नहीं मिलते। यदि देवनागरी की मूर्तियों की प्रथा के संकेत यहाँ मिलें, तो निमित्त। मिस्र की प्राचीनतम मूर्तियाँ तथा गिब परंपरा में मूर्ति की मूर्तिमा यामिन परंपरा में ऐतिहासिक दृष्टि से मूर्ति की प्राचीनता का संकेत प्रकट करती है। किन्तु बागी के मस्तिष्कगत कला के चित्रित विकास के यथार्थ मत की दृष्टि से संगीत और काव्य की गम्भीरता कलाओं की श्रृष्टि का निमित्त सिद्ध होती है। संगीत और काव्य की श्रृष्टि में श्रृष्टि में इनकी परिवर्तता का संकेत भी मिलता है। गिब परंपरा में जिस प्रकार का संगीत के प्रति प्रवृत्ति के रूप में ध्यान देकर गिब की कल्पना की गई है। उससे भी गिब परंपरा में संगीत और काव्य की श्रृष्टि का अनुप्राणित प्रमाणित होता है। भारतीय संस्कृति की परंपरा में जिस रूप में सरस्वती की कल्पना की गई है उसमें भी काव्य और गीत के द्वारा काव्य की महिमा ही विदित होती है। उनके बागी चार आदि नाम भी काव्य की मूर्तिमा का संकेत करते हैं। यद्यपि उनका वैयक्तिक वाहन मयूर चित्रकला का संकेत करता है फिर भी सामान्य रूप से वे हंसवाहिनी के ही रूप में प्रसिद्ध हैं। हंसविवेक का प्रतीक है। जो बुद्धि का लक्षण है। बुद्धि प्रथम की प्रकाशित करती है। काव्य में काव्य और अर्थ का संगम होता है। इसीलिए आचार्यों ने उसका साहित्य नाम दिया है। तथा काव्य और अर्थ के साहित्य के रूप में काव्य की परिभाषा की है। संगीत में अर्थ का महत्व नहीं है। शुद्ध संगीत केवल ध्वनी की लय है। कला के रूप की अटलता की दृष्टि से संगीत भी बहुत श्रद्धा है। एक प्रकार से संगीत कला का शुद्धतम रूप है किन्तु मानसिक विकास की दृष्टि से अप्रपूर्ण संगीत की कला का सर्वोत्तम रूप कहना उचित होगा। इस दृष्टि से वेदों के मंत्र कला के सर्वश्रेष्ठ रूप हैं। सूर तुलसी और रवीन्द्र का काव्य भी इसी श्रृष्टि की परंपरा में है।

मनुष्य के विकास में बागी की श्रृष्टि तथा काव्य में काव्य और अर्थ के संगम के कारण काव्य कला का श्रेष्ठतम रूप है। काव्य और अर्थ का संगम मानवीय सृष्टि की एक अपूर्व विशेषता है। इसी विशेषता के कारण भारतीय काव्य शास्त्र की परंपरा में काव्य का विवेचन कला के प्रसंग में न होकर स्वतंत्र रूप में अधिक हुआ है। संगीतमय काव्य और नृत्य कला का कुछ विकास पशुओं में भी मिलता है। किन्तु पशुओं के इस काव्य में अर्थ का स्पर्श नहीं हो सका है। इसके लिये मस्तिष्क का जो विकास अपेक्षित है वह मनुष्य

का ही सीमाव्य है वह पशुप्रा को प्राप्त नहीं। वाणी के साथ विनसित होकर प्रय का अनुग्रह मनुष्य की प्रय कलाओं को भी प्राप्त हुआ है किन्तु प्रय कलाओं के साथ गूढ़ का ऐसा आवश्यक साहित्य नहीं है जसा कि काव्य के साथ है। प्रय कलाओं का गूढ़ रूप प्रय से रहित भी हो सकता है। किन्तु प्रय के बिना काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः प्रय की विशेष महिमा के कारण प्रय कलाओं से पृथक् काव्य का स्वतन्त्र विवेचन पूरित समीचीन है। अत्यन्त प्राचीन काल में विनसित मस्तिष्क के कारण सबसे पहिले ये मन्त्रा व रूप में संगीतमय काव्य का विकास करने वाली जाति के लिये तो यह और भी अधिक स्वाभाविक है।

फिर भी दूसरी दृष्टि से संस्कृति और कला की यापक भूमिका में भी काव्य का विवेचन उचित और आवश्यक है। अतः काव्य मनुष्य की एक रचनात्मक कला है वह कला का एक उपभेद है और कला संस्कृति का एक अंग है। अतः संस्कृति और कला की यापक भूमिका में प्रस्तुत करने पर काव्य के स्वरूप में अधिक समृद्धि अधिक गंभीरता और अधिक विद्युत्ता के साथ प्रकाशित होगी ऐसी सम्भावना की जा सकती है। इसी दृष्टिकोण से एक मधीन परम्परा को ग्रहण कर इस से व्यापक भूमिका में काव्य का विवेचन हमारा अभीष्ट है। इस यापक दृष्टिकोण रखने पर विदित होता है कि काव्य कला का एक रूप है और कला संस्कृति का एक अंग है। संस्कृति और कला के साथ काव्य के सम्बन्ध का विषय रूप में निर्धारण करने के लिये कला और संस्कृति के स्वरूप का विवेचन अपेक्षित है। संस्कृति मनुष्य जीवन की एक विद्युत् विभूति है। मनुष्यों में ही संस्कृति का विकास हुआ है। पशुओं का जीवन प्राकृतिक है। उनके जीवन में जो कुछ भी होता है वह सब प्रकृति का मसीविष घम है। उनके जीवन में जो कुछ भी सौन्दर्य और मसीत दियाई देता है वह भी प्रकृति का सहज रूप और घम है। वह वह प्रकृति से मनाया प्राप्त हुआ है। उस उन पशुओं ने उपाजित नहीं किया। अतएव उसमें पशुओं का कोई वतृत्व नहीं है। यह वतृत्व ही मनुष्य और पशु तथा संस्कृति और प्रकृति का भेद है। प्रकृति एक नसमिक व्यवस्था है जो जीवों को मनाया प्राप्त हाती है। इस व्यवस्था के विधान और संचालन में कोई हस्तक्षेप प्रयवा भवे नहीं है। मनुष्य इस व्यवस्था में परिवर्तन भा प्रकृति के नियमों के अनुसार ही करता है। मूलतः इस व्यवस्था के नियम मनुष्य के प्रापीन नहीं हैं। प्रकृति का व्यवस्था में तथा उससे साथ प्रपन जीवन में कुछ परिवर्तन उत्पन्न करने में मनुष्य का वृत्तित्व अवश्य दिखाना देता है।

पशुओं में ऐसा कृतित्व नहीं है। मनुष्य के इस कृतित्व में ही सत्कृति का जन्म होता है। मनुष्य के इस कृतित्व का उद्योग मुख्यतः दो भागों में होता है। एक तो मनुष्य उपयोगिता की दृष्टि से जीवन के बाह्य उपकरणों और साधनों का परिष्कार एवं संपन्न करता है। इस उपयोगिता का सम्बन्ध मनुष्य की प्राकृतिक आवश्यकताओं तथा प्राकृतिक सुख सुविधाओं में होता है। जीवन के साधनों और सुविधाओं के विनाश की सम्भ्यता का नाम देना उचित है। इसके विपरीत जीवन में ऐसा मूल्य और साधनों का सम्बन्ध, जो प्राकृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं है, सत्कृति कहा जा सकता है। यही सम्भ्यता और सत्कृति में भेद है। सम्भ्यता का सम्बन्ध प्राकृतिक सुख सुविधाओं के साधन से है जो प्राकृतिक आवश्यकताओं की दृष्टि से उपयोगी है। सत्कृति निरूपयोगी मूल्यों की साधना है।

सामान्यतः सम्भ्यता और सत्कृति दोनों ही मनुष्य की रचनाएँ हैं। दोनों को ही मनुष्य की कृति कहा जा सकता है। कृति के सामान्य रूप में मनुष्य का उद्योग और अध्यवसाय सम्पन्न होता है। सम्भ्यता और सत्कृति दोनों ही मनुष्य की कृतियाँ हैं किन्तु सत्कृति की कृति का साधारण रूप मानना उचित नहीं है। इस कृति में कुछ विनोदता है जो सम उपसर्ग के द्वारा लक्षित होती है। सम के अनेक अर्थ हैं वह पूर्णतः समानता साम्य आदि का वाचक है। पूर्णता की परिभाषा करना कठिन है। पूर्ण कृतित्व के अन्तर्गत पूर्ण स्वतन्त्रता पूर्ण कुशलता पूर्ण आनन्द आदि अनेक दुरुहभाव अन्तर्निहित हैं। अपूर्णता की अवस्था में पूर्णता की कल्पना करना कठिन है। समानता का सामान्य अर्थ दो इकाइयों की तुल्यता है जिनमें कोई एक दूसरे से अधिक नहीं होती। यदि इस तुल्यता की परिमाण की अपेक्षा भाव की दृष्टि से देखें तो इसका अभिप्राय साम्य का समानाधिक होगा। साम्य का तात्पर्य भी समानता की अपेक्षा सामंजस्य अधिक है। सामंजस्य का निषधात्मक रूप विषमता का अभाव है। साम्य की भाँति विषमता में भी परिमाण की अपेक्षा भाव का अभाव अधिक है। निषधात्मक अर्थ में साम्य विषमता का अभाव है। विरोध और हीनता इस साम्य के मूल तत्त्व हैं। जहाँ विरोध जनित संघर्ष नहीं है और जहाँ एक इकाई की श्रेष्ठता दूसरी इकाई की हीनता का कारण नहीं बनती वहाँ साम्य की संभावना हो सकती है। यह साम्य का निषधात्मक रूप है। भावात्मक रूप में साम्य इकाइयों का आन्तरिक सामंजस्य है जो उनके परस्पर सम्बन्ध में प्रतिष्ठित होता है। भक्ति

परम्परा का दाऊ परे पया साम्य के इस परस्पर सभावना का एक उत्तम उदाहरण है।

मनुष्य की रचनाओं में जहाँ ऐसा साम्य रहता है वही संस्कृति का रूप प्रकाशित होता है। जीवन के बाह्य उपकरणों और साधना के जिस विकास को हमन सम्यता का नाम दिया है उसमें भी इस साम्य की सम्भावना हा सकती है। किसी सीमा तक सम्यता के विकास में यह साम्य सम्पन्न हुआ है। फिर भी प्राकृतिक होने के कारण सम्यता के इन रूपों में विरोध और संघर्ष की सहज सम्भावना रहती है। सम्यता के रूपों में जितना भी साम्य सम्पन्न हुआ है वह प्रकृति की प्रेरणाओं के आधार पर नहीं बरन् इन प्रेरणाओं के ऊपर उन मूल्यों के अनुशासन ॥ हुआ है जिन्हें सहज और प्राकृतिक नहीं कहा जा सकता वन मूल्यों को हम आध्यात्मिक कह सकते हैं। ये जीवन के आदर्शों और सिद्धांतों के रूप में आध्यात्मिक मूल्य प्राकृतिक प्रेरणाओं की मर्यादा बनते हैं। यह मर्यादायों प्रकृति ही संस्कृति का पीठ बनती है। फिर भी प्रकृति और संस्कृति में मौलिक भेद है। काय कारण के सिद्धांत से संचालित प्रकृति के घम और व्यापार अनिवार्य हैं। संस्कृति के आध्यात्मिक मूल्य सहज और अनिवार्य नहीं बरन् मनुष्य के अध्यवसाय के द्वारा चरितार्थ होते हैं। इन आध्यात्मिक मूल्यों में ही संस्कृति के साम्य का स्रोत है। व्यापारों की अनिवार्यता के प्रतिरिक्त इकाई के बिंदुओं की स्वायत्त निष्ठता या प्रकृति का लक्षण है। इन बिंदुओं के स्वायत्त विरोध से ही साम्य और संघर्ष उत्पन्न होता है। इसमें विपरीत संस्कृति का साम्य इकाई के समात्मभाव में सम्पन्न होता है जिस बदलाव की भाषा में प्रकृत कह सकते हैं। प्रकृत बसल द्रव्य अवस्था का नियम करता है। समात्मभाव में इकाई के आकात्मिक साम्य का संकेत है। जहाँ इकाई के प्राकृतिक विरोध एक दूसरे की हीनता की भावना करता है वहाँ सांस्कृतिक साम्य एक दूसरे के परस्पर सभावना और उत्सव की साधना करता है। यही साम्य संस्कृति के कृत्रिम की उग विनाशता का घातक है जो उसका सम्पूर्ण उपसर्ग से लसित होती है।

इस प्रकार यद्यपि संस्कृति भी कृति का ही एक रूप है किन्तु मनुष्य की समस्त कृतियों को संस्कृति की परिधि में समाहित नहीं किया जा सकता। संस्कृति की पश्चिमी और आधुनिक परिभाषा के अनुसार 'सांस्कृतिक' एक प्रकार का कृति का वर्णन है। मनुष्य की सभी रचनायें संस्कृति का अंग मानी जाती हैं। संस्कृति की इस धारणा का मूल अर्थ है 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में है जो

सामान्यतः मनुष्य की कृति मात्र का समावेश है। मनुष्य में सृष्टि के गम के सामान्य विभी उपगम का सम्मिश्रण नहीं है जो समस्त कृति की विनाश परिधी की किसी विवेकता के द्वारा मर्यादित कर सके सृष्टि साम्य की पूर्णता और परिधी की धारणाओं में जो अन्तर है उसका मूल बहुत कुछ गीमा तक भाषा विनाश में सृष्टि की भारतीय धारणा में सम के उपगम में संगित साम्य की जो मर्यादा अभीष्ट है उसका संकेत संस्कृति के नाम में ही अन्तर्निहित है। इस साम्य का कुछ विवरण ऊपर किया गया है। इकाइयों के परस्पर सम्मान और सामंजस्य के अतिरिक्त गम के प्रत्यय का एक तान्त्रिक अर्थ भी सम्भव है जो गिव परम्परा के अनुकूल है। व्याकरण के अनुसार 'त' विसर्ग का पर्याय है और म विटु का पर्याय है। 'गव' तत्र म विभक्त का अर्थ सृष्टि है जो 'गति' का समस्कार है। तथा विटु का अर्थ पूरा अद्वय रूप पर गिव तथा परंपरा से सृष्टि के अर्थ विटुमा (स्वाध्या) से है। विसर्ग का विभक्त और विटु की प्रमाण कहते हैं। 'गव' तत्र का पूरा सत्य इन दोनों का साम्य है। साम्य का अर्थ परस्पर सम्मान है। 'गति' की प्रतीक के अर्थों की गिव अपने गीम पर धारण करते हैं। यह उस सम्मान का ही सूचक है। 'गव' तत्र म कना और 'गति' एक दूसरे के पर्याय हैं। सृजन नात्मक होने के कारण गति को कना कहते हैं। कना ही दम की सृष्टि है। इसलिये शक्ति की सुंदरी सा है। 'गव' तत्र का सम्बन्ध साम्य केवल दो इकाइयों का अवरोध पूरा सामंजस्य नहीं है वरन् असम अन्तरिक प्रकाश के भाव और बाह्य विमल के सृजन का साम्य भी निहित है। भाव की समृद्धि से युक्त सृजन की परंपरा का साम्य का तान्त्रिक अर्थ कह सकते हैं। सृजन एक परंपरा है। प्राकृतिक सृष्टि में भी हम परंपरा का निरंतर क्रम मिलता है।

इस प्रकार सृजन और परंपरा के भाव संस्कृति के महत्वपूर्ण तत्त्व हैं। जीवन की सृजनात्मक परंपरा बन कर ही परस्पर सम्मान का साम्य संस्कृति की जन्म देता है। मनुष्य की सम्पूर्ण कृतियां में यह विवेकता नहीं रहती। इसीलिये कृति मात्र की संस्कृति मानना उचित नहीं है। सृजन और परंपरा में भी एक गहन साम्य है। सृजन ही परंपरा के क्रम का निर्माण करता है। सृजन का मुख्य भविष्य की ओर रहता है। परंपरा में भूत का भी समावेश है यद्यपि भाषा के व्यवहार में परंपरा प्राचीन रूढ़ि का पर्याय बन गई है किंतु मूलतः वह प्रवर्तमान क्रम है जो भूत का समाहित कर निरंतर भविष्य की ओर अग्रसर होता है। परंपरा का यह अर्थ उसकी उत्पत्ति में निहित है। संस्कृति का सृजनात्मक परंपरा एक और

प्रतीत की घरोहर को अपने अन्तर्ल म बाधती है और दूसरी ओर निरंतर मृजनात्मक गति से भविष्य की ओर बढ़ती है । इस दृष्टि से संस्कृति की परम्परा प्रकृति की परम्परा से भिन्न है । प्रकृति की परम्परा केवल भविष्य की ओर बढ़ती है उसमें प्रतीत का सरक्षण नहीं है । इसका कारण यह है कि प्रकृति जड़ है । उसमें चेतना नहीं । चेतना में स्मृति की धारणा के द्वारा प्रतीत का सरक्षण होता है । मनुष्य की समृद्ध चेतना ही उसे संभव बनाती है । संस्कृति की परम्परा में भाव और रूप दोनों का सृजन होता है । जब कि प्रकृति की परम्परा में केवल रूप का सृजन होता है । प्रतीत के क्रम से सम्बंध होते हुए भी परम्परा के भावों और रूपों का निरंतर नवीन सृजन होता है । इस दृष्टि से सृजन ही परम्परा सास्वार करके ही सृजन का क्रम निरंतर बना रहता है । इस प्रकार सृजनात्मकता संस्कृति का मूल मर्म है जो शायतन के साम्य के अनुरूप है । प्रकृति और संस्कृति दोनों के क्षेत्र में यह सृजनात्मक परम्परा सृष्टियों के सृजन के द्वारा निरंतर बनी रहती है । मानवीय संस्कृति की परम्परा में भाव और रूप के सृजन का साम्य जब तक के अनुरूप है । परन्तु, सांस्कार आदि की जीवित सांस्कृतिक परम्परा में यह साम्य साधारण हुआ है ।

संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा में भाव और रूप दोनों का समान महत्व है फिर भी भाव मानवीय संस्कृति की विशेषता है । रूप की परम्परा प्रकृति में भी दिखाई देती है । भाव ही प्रकृति से मानवीय संस्कृति का भेदक है । भाव का अधिष्ठान मनुष्य की चेतना है जो अपनी समृद्धि के साथ भाव की समृद्धि को सम्भव बनाती है । भाव के महत्व का अधिग्रहण रूप निश्चित साम्य की भंग करना नहीं है बरन् एक प्रकार में भाव ही विसंग और बिंदु के साम्य को सम्भव बनाना है और सुरक्षित रखता है । प्रकृति में चेतना न होने के कारण भाव का साम्य नहीं है यद्यपि सृजनात्मक परम्परा उसमें भी है । समृद्ध चेतना के कारण मनुष्य की सांस्कृतिक परम्परा में भाव को रूप दोनों के सृजन और साम्य का काम सम्भल है । भाव के बिना रूप का सृजन भी साध्य नहीं हो सकता । भाव की चेतना रूप का रूपण और सांगी है । रूप की साधकता ही भाव के सत्त्व और सभावन पर निर्भर है । अतः साम्य का भंग न करता अभीष्ट होते हुए भी मानवीय संस्कृति में भाव की विराट् महिमा है । भाव की इस महिमा के कारण ही संस्कृति में मौलिक मर्म का सूत्र भाव में ही निहित है । भाव मनुष्य की चेतना का विस्तार और सत्कार है । यह सत्कार जीवन में शुद्ध मौलिक मूल्यों के साधारण पर

मर्यादा के द्वारा सम्पन्न होता है। सामान्यतः हम इन मूल्यों को नतिर मान सकते हैं। यद्यपि इसी साम्प्रदायिक बहुराष्ट्रिक अभिप्रेत है। नतिर मूल्य इस साम्प्रदायिक मूल्यों के ही व्यवहारित पत्र है। भाव व रूप की भी कल्पना की जा सकती है। इसका स्पष्ट है कि मनुष्य का मूल्य ही होगा। भाव की साम्प्रदायिक और सामाजिक अभिव्यक्ति में भाव का मूल्य ही प्रकट होता है। सामाजिक सम्बन्धों की विशेष स्थितियों इस रूप की भाव व मननी हैं। इन प्रकार भाव की परम्परा भी रूप के साम्य से बनस भावामित न रहकर सांस्कृतिक भी बन सकती हैं। सस्कृति के इसा अर्थ के आधार पर मनुष्य के व्यवहार के नीति और नीत्यों को सस्कृति का मूल भाव जगण माना जाता है और सामाजिक व्यवहार में उनकी मर्यादा ना की जाती है। मनुष्य को कृति मात्र को सस्कृति माना जाती व्यापक और व्यापक परिभाषा के अनुसार इसे सस्कृति नाम का अवलम्बित प्रयोग माना जाता है। किंतु भारतीय धारणा के अनुसार व्यवहार का नीति और नीत्यों ही सस्कृति का मूल भाव है।

परंपरा सम्भावना का सृजनात्मक साम्य ही इस भाव की सांस्कृतिक बनाता है। अनुरूप भाव के प्रेरक होने के कारण सांस्कृतिक भाव सृजनात्मक कहे जा सकते हैं। सामाजिक प्रेरणा के अतिरिक्त अपने आत्मिक और साम्प्रदायिक रूप में भी यह भाव सृजनात्मक है। सस्कृति की वतमान बना निक परिभाषा के अनुकूल न होते हुए भी सृजनात्मक भाव की प्रधानता के अर्थ में सस्कृति का प्रयोग सस्कृति की भारतीय धारणा और परम्परा के पूर्णतः अनुरूप है।

लोक सस्कृति की जिस जीवत परंपरा में सस्कृति की साधना चरितार्थ हुई है उसमें यह मूल सांस्कृतिक भाव जीवन के स्थूल और सुन्दर रूपों में साकार हुए हैं। केवल सृजनात्मक भाव की तुलना में इस लोक सस्कृति की परंपरा को सस्कृति का दूसरा अर्थ अथवा पत्र कह सकते हैं। सस्कृति की यह दूसरी कोटि भारतीय पर्वों उत्सवों सकारों आदि की परंपरा में एक सम्पन्न एवं समृद्ध रूप में मिलती है। रूप की विपुलता होते हुए भी लोक सस्कृति की इस जीवत परंपरा में भाव की भी प्रचुरता है। तथा भाव और रूप दोनों का समुचित साम्य है। किंतु इस साम्य में भी भाव की महिमा अधिक है जो सस्कृति की उस भारतीय धारणा के अनुरूप है जिसका विवरण ऊपर दिया गया है। यद्यपि इस साम्य का अभिप्राय

भाव और रूप का समान महत्व तथा उनका परस्पर सम्बन्ध है । फिर भी इस साम्य की रक्षा भाव की महिमा के द्वारा ही होती है । श्वेतत्रय में गिव की महिमा भाव की महिमा की ही छोटकरी है । मनुष्य के जीवन और व्यवहार में भाव की उपयोगिता की महत्ता अधिक होने के कारण साम्य की रक्षा के लिये भाव की महिमा उपरान्त है । रूप में एक सहज आकर्षण है । इसीलिये भाषा के व्यवहार में रूप का, सौन्दर्य का पर्याय बन गया है । प्रकृति के रूप में प्रादि गति की अभिव्यक्ति है । मनुष्य की रचना के रूप बहुत कुछ मनुष्य के मन परभाव के फल हैं । किंतु प्रत्यक्ष में प्रकृति की रूप रचना भाव रहित है । मनुष्य की रूप रचना में भी भाव की उपयोगिता और उसके फल स्वरूप भाव और रूप के वनस्पति की भाँसाया रहती है । इसीलिये साम्य के स्वीकार करते हुए भी संस्कृति की भारतीय धारणा में और भारतीय लोक संस्कृति की जीवन परंपरा में भाव की प्रधानता दी गई है । लोक संस्कृति की जीवन परंपरा में रूप के अल्प और सरल उपयोग विपुल भाव के निमित्त बनते हैं । सांस्कृतिक परंपरा में अभिनव रूपों की रचना का क्रम मंद हो गया है । प्रायः उन्ही रूपों की नव नव रचना इस परंपरा का प्रमुख रचनात्मक तत्व है । इस लोक संस्कृति की समस्त परंपरा में रूपों की विपुल विविधता होत हुए भी रूपों की यह सीमा उनकी एकाग्रता समृद्धि की सीमित कर देती है । यही सीमा भाव की समृद्धि तथा भाव और रूप के साम्य की रक्षा करती है । भाव की महिमा के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वास्तविक होने पर भाव की समृद्धि किसी प्रकार भी रूप की उपयोगिता नहीं कर सकती बल्कि वह रूप का बहुत उत्पादक प्रेरक करती है । रूपों की मृजनात्मिका गति की प्रतीक श्वेतत्रय की गिव गीत पर धारण करते हैं । गिव का यह रूप भाव के द्वारा रूप के प्रेरक का प्रमाण है । किंतु मानवीय जीवन में रूप का महत्व बढ़ने पर भाव की उपयोगिता की भाग्यहीनता हो रही है । जीवन के उपरान्तों में रूप का प्रमुख चिह्न बनता जाता है उतना ही मनुष्य का जीवन भावपूर्ण एवं नीरस बनता जा रहा है । प्रापुनिक कला और काव्य के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ सही है । इसीलिये रूप का प्रतिगम महत्व जीवन संस्कृति और कला के ज्ञान का संक्षण बनता है । दूसरी ओर भाव का समृद्धि भी रूपों की उपयोगिता का कारण नहीं बनता । साम्य का सूत्र भाव के स्वरूप में ही संनिहित है । रूप के स्वरूप में यह नहीं कहा जा सकता । भाव अपनी स्वच्छता में संस्थित रहने हुए भी तथा अपने अंतर्गत रूपों में ही अपने अस्तित्व की माधुर्य बनाने में समर्थ होने हुए भी लोक जीवन में बाह्य रूपों की रचना में सहज ही साकार होता है तथा इस प्रकार

संस्कृति के अभोज साम्य को जीवा म चरितार्थ बताया है। भारतीय और संस्कृति की प्राचीन और समृद्ध परंपरा संस्कृति के इस साम्य को चरितार्थ का एक उत्तम उदाहरण है। यह संस्कृति का यह माध्यमिक रूप है जो भाव और रूप दोनों की प्रतिरक्षा से बचकर अल्प और सरल रूपों की विविधता में भाव की समृद्धि को साकार बनाकर संस्कृति को चरितार्थ और जीवन को कृतार्थ बनाता है।

जीवन के व्यवहार का शील और शौच्य में अनुप्राणित करने वाले भाव ही संस्कृति की आत्मा हैं। इन भावों से अनुप्राणित और संस्कृति की जीवन्त परंपरा संस्कृति का साकार और सचेत रूप है। किंतु संस्कृति के प्रामाणिक प्रयोग में संस्कृति के उत्तम दोनों रूपों की उपेक्षा की गई है। संस्कृति का भाव-रूप व्यावहारिक किंतु अवधानिक व विवरणों में अनन्य कुछ स्थान दिया जाता है। किंतु आन्ध्र की बात है कि भारतीय संस्कृति के विवरणों में भारतीय लोक संस्कृति की चर्चा भी नहीं है। भारतीय संस्कृति में इतिहास में हमारे पर्वों उत्सवों संस्कारों आदि का उत्सल भी नहीं है। जब कि भारतीय समाज के इतिहास में लोक संस्कृति की एक अत्यंत प्राचीन और अत्यंत समृद्ध परंपरा मिलती है। इसी समृद्ध और लोक-परंपरा विश्व की किसी भी समाज में मिलना कठिन है। यह लोक संस्कृति पश्चिमी परिभाषा से सज्जत लोक संस्कृति नहीं है जो नागरिकों द्वारा छोड़ी जा चुकी है। तथा केवल ग्रामीणों और आदिम जातियों में पाई जाती है। यह वह लोक संस्कृति है जो भारतवर्ष की ग्रामीण और नागरिक दोनों प्रकार की जनता के जीवन को समान रूप से उत्साहपूर्ण बनाती है। साधनों के सुविधा और समृद्धि के कारण इस लोक संस्कृति के अनेक रूप नागरिक जीवन में अधिक वभवपूर्ण दिखाई देते हैं। किंतु खेद की बात है कि जिस सांस्कृतिक परंपरा से नागरिकों और विद्वानों का जीवन भी उत्साहपूर्ण बनता है। उसे नागरिक विद्वानों ने भी अपने सांस्कृतिक विवरणों में कोई स्थान नहीं दिया है। पश्चिमी देशों में लोक संस्कृति की ऐसी व्यापक और समृद्ध परंपरा नहीं है। केवल पुरातत्व के लिये महत्व रखने वाले कुछ अवशेषों को छोड़कर पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का इतिहास बहुत अर्धाधीन है और वह लोक संस्कृति की परंपरा को छोड़कर नागरिक जीवन की अभिजात संस्कृति से आरम्भ होता है। किसी समृद्ध और व्यापक लोक संस्कृति के अभाव में अभिजात संस्कृति को ही पश्चिमी विद्वानों ने संस्कृति का एक मात्र रूप मान लिया है। आधुनिक भारतीय विद्वान पश्चिमी

धारणाओं और परिभाषाओं को स्वीकार करने में ही अपनी प्रतिभा की कृपायता मानते हैं। पश्चिमी भाष्यता के आधार पर ही उन्होंने अपनी समृद्ध लोक सांस्कृतिक की अपेक्षा करके केवल अभिजात सांस्कृतिक के इतिहास को ही सांस्कृतिक के सम्पूर्ण विवरण के रूप में प्रस्तुत किया है। इस अभिजात सांस्कृतिक का रूप, कला, साहित्य, धर्म, दर्शन, राज्यतन्त्र व्यवसाय आदि का सम्मेलन मात्र है। ये सब मनुष्य की कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त इनका और कोई सामान्य सम्मेलन नहीं है। सांस्कृतिक की इस धारणा का आधार 'कृति' का साथ सांस्कृतिक का पश्चिमी पर्याय है। मानवीय कृतित्व की समानता को छोड़ कर कला, धर्म, व्यवसाय आदि में मौलिक भेद है। मानवीय कृतित्व के अतिरिक्त जीवन के इन विभिन्न रूपों में अन्य कोई सामान्य सम्मेलन कठिन है। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक को सांस्कृतिक धारणा के ये विविध रूप अभिजात वर्ग की रचनाएँ हैं। इनकी रचना प्रक्रिया और इनके अन्तर्गत में सर्वसाधारण का क्या स्वतन्त्र और गौरवपूर्ण अधिकार नहीं है, जसा कि इस अभिजात सांस्कृतिक का निर्माण करने वाले धर्म, धर्म, साहित्य आदि की रचना तथा उसके आस्वादन में सर्वसाधारण का कोई सक्रिय भाग नहीं होता। सांस्कृतिक के ये रूप कुछ विविध व्यक्तिओं की रचना है। सर्वसाधारण इसके अधिकार पर निर्माण से अनभिज्ञ रहते हैं। इसके जिस वर्ग से वे अभिजात होते हैं उनके भी वे केवल उदासीन प्रत्यक्ष मात्र रहते हैं। यदि सक्रिय सृजक मानवता मनुष्य की सांस्कृतिक का सम्मेलन है तो सांस्कृतिक के इन रूपों को केवल इसके प्रणेताओं की सांस्कृतिक कहा जा सकता है। अन्य जनों के लिये वह अतीत की धरोहर मात्र है। साधारण जन अपने को उस धरोहर के भी अधिकारी नहीं समझते। उनके इस अधिकार में सांस्कृतिक के इन रूपों के प्रणेताओं का मानसिक सामाजिक और आर्थिक वशवश बाधक है। भारतीय सांस्कृतिक के अधिकार इतिहासकारों ने इस अभिजात सांस्कृतिक को ही पश्चिमी विद्वानों के निर्देश के आधार पर सांस्कृतिक का सर्वस्व मानकर भारतीय सांस्कृतिक के नाम से इसी का विवरण प्रस्तुत किया है।

सांस्कृतिक का यह अभिजात रूप सामान्यतः कला, साहित्य, दर्शन, धर्म, व्यवसाय आदि मनुष्य के अनेक विधिकृतियों का सम्मेलन माना जाता है। प्रायः सांस्कृतिक के इन रूपों में कला को अधिक महत्व दिया जाता है। सांस्कृतिक की लोक सामान्य धारणा में भी कला को अधिक महत्व दिया जाता है। अधिकार लोग कला को ही सांस्कृतिक समझते हैं। धार्मिक, नृत्य, गान आदि के समस्त प्रदर्शन को ही सांस्कृतिक कायम कहा जाता है। पुरातन समय

न होते हुए भी कला और संस्कृति का यह स्वीकरण बहुत कुछ गलत है। संस्कृति की निजी भी परिभाषा के अनुसार सांस्कृतिक के सबसे अधिक निकट है। ज्ञाता अर्थ है कि कला के विभिन्न रूपों को ही संस्कृति का समग्र नहीं माना जा सकता। किन्तु कला का सामान्य और मौलिक स्वरूप संस्कृति की धारणा के अन्तर्गत निकट है। संस्कृति की प्रयत्नित धारणा के अनुसार कला सांस्कृति का सबसे एक अंग है किन्तु हमारे मन के अनुसार कला सांस्कृति की धारणा है। यम दत्त राजतन्त्र व्यवसाय भाषि की धारणा वह सांस्कृति की भावना के अधिक निकट है। यम रायतन्त्र व्यवसाय भाषि की धारणा ऐतिहासिक रूपों में उस साम्य की धारणा विरोध ही अधिक मिलेगा जिसे हमने भारतीय धारणा के अनुसार सांस्कृतिक का आवश्यक समझ माना है। प्रायः इनके एक समाज के सांस्कृतिक नियमों के अनुसार घटित और विवक्षित हुए हैं तथा उनमें मनुष्य के स्वतन्त्र और सृजनात्मक कृतित्व के लक्षण दृढ़ता से ठिठक है। कला और साहित्य में भी प्रकृति का प्रभाव बहुत मिलेगा फिर भी कला साहित्य और दर्शन में सांस्कृतिक सृजनात्मकता अधिक मिल सकती है। साहित्य की गणना से कलाओं के भेदों में ही की जाती है। दर्शन में प्रायः बौद्धिकता का प्रभाव रहता है। वह सत्य और अर्थ का अनुमोदन है किन्तु दर्शन में सृजनात्मक सोच की भावना बहुत कम मिलती है। उस दृष्टि से कला सांस्कृति के सबसे अधिक निकट है। इसी निकटता के कारण सामान्य व्यवहार में कला को ही सांस्कृति समझा जा सकता है। पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रचलित और भारतीय विद्वानों से स्वीकृत सांस्कृति की संज्ञित परिभाषा के अनुसार कला सांस्कृति का एक अंग है। हमारे मन में कला को सांस्कृति का अंग ही मानने की अपेक्षा सांस्कृति का प्राण अथवा सांस्कृति की धारणा माना अधिक उचित है। जो सांस्कृति की जीवन्त परम्परा में जिस प्रकार कला की धारणा प्रोत्पन्न मिलती है उससे सांस्कृति और कला की अगाधता की अपेक्षा परस्पर आत्मीयता ही अधिक प्रकट होती है।

सांस्कृति और कला के सामान्य रूप पर विचार करने पर उनकी इस आत्मीयता के सूत्र स्पष्ट हो जाते हैं। अपने मूल और सामान्य रूप में कला और सांस्कृति दोनों ही सृजनात्मक हैं। दोनों की सृजनात्मकता में प्राकृतिक उपयोगिता की अपेक्षा प्राकृतिक दृष्टि से निरूपयोगी भावों और रूपों की प्रेरणा अधिक रहती है। प्राकृतिक प्रेरणा में प्रकृति की ही परतन्त्रता रहती है और मनुष्य की स्वतन्त्रता का अवकाश कम रहता है। प्राकृतिक दृष्टि से

निरूपयोगी भावों और रूपों का सृजन में मनुष्य की स्वतन्त्रता अधिक स्फुट रूप में प्रकाशित होती है। यह स्वतन्त्रता ही सौंदर्य और आनन्द का स्रोत है। सास्कृति के साम्य में यह स्वतन्त्रता अतनिहित है। तन्त्रों की कला भी इसके अनुरूप है। सब तन्त्रों की चित्ति शक्ति जिसे कला कहते हैं स्वतन्त्र मानी जाती है। स्वतन्त्रता ही सास्कृतिक साम्य का मर्म है, सृजनात्मकता स्वतन्त्रता निरूपयोगिता सौन्दर्य आनन्द आदि की दृष्टि से कला और सास्कृति के स्वरूप में मौलिक समानता है। सृजनात्मिका शक्ति के रूप में कला की तात्त्विक धारणा इस समानता का समर्थन करती है। सास्कृति का कला की युतपत्ति में ही कला के रूप में सृजनात्मकता का बीज निहित है। किन्तु कला और सास्कृति इस समानता का साथ २ दोहों में महत्वपूर्ण भेद है। दोनों में एक महत्वपूर्ण भेद यह है कि जहाँ सास्कृति में भाव की प्रधानता होती है वहीं कला में रूप की प्रधानता होती है। सास्कृति के मौलिक और प्रथम रूप को हमने भावमय ही माना है। सास्कृति की जीवन्त परम्परा में रूप की प्रधानता नहीं होती तथा अल्प ऐश्वर्य सारंग रूपों के निमित्तों में उल्लिखित होने वाले प्रचुर भावों की प्रधानता भाव और रूप के साम्य का संरक्षण करती है। भाव की प्रधानता किस प्रकार इस साम्य का संरक्षण करती है इसका साक्ष्य हम ऊपर दे चुके हैं। सभी घरातलों पर सास्कृति और कला में यह भेद नहीं रहना। लोक कला में रूप की इतनी प्रधानता नहीं होती तथा भाव और रूप का ऐसा ही साम्य रहता है जसा कि लोक सास्कृति में मिलता है। इसी लिये लोक कला और लोक सास्कृति इतने अभिन्न रहते हैं कि उनमें भेद करना कठिन है। जिस अभिजात कला को सास्कृति के अधिकारी सास्कृति का अङ्ग मानते हैं। उसमें निःसन्देह रूप की प्रधानता अनेक लगती है और उससे अलस्यरूप भाव मन्द होने लगता है इस रूप प्रधान कला के विधायकों का अभिजात्य ही वाग्य का अनुरूप है। कला के रूप बन्धन की दृष्टि में यह साराहनीय है। किन्तु सास्कृतिक जीवन के साम्य की दृष्टि से यह हितकर नहीं है। वाग्य के कारण ही अभिजात कला सामान्य लोग की रुचि का अथर्व नहीं बन पाती। जिस अभिजात सास्कृति का यह अभिजात कला अंग मानी जाती है वह अभिजात सास्कृति भी अपने ऐतिहासिक रूपों में इतनी ही कम लोक प्रिय है जितनी कि अभिजात कला है। जीवन्त लोक सास्कृति की साहस्रिय परम्परा की तुलना में अभिजात कला की उक्त विषम विचारणीय है।

परम्परा की दृष्टि से भी सास्कृति और कला में अन्तर है। भाव

एक संस्कृति की परम्परा तो सामाजिक संस्कारों का एक सागरिक दम है जो धार्मिक प्रतिभा में मृजनात्मक और धार्मिक रूप में सामाजिक होता है। बाह्य निमित्तों के बिना इन परम्परा के निर्वाह की सम्भावना नहीं है किन्तु भावस्वरूप सास्कृति की परम्परा के सिध्द इन निमित्तों का कोई ऐसा स्थायी रूप धारण नहीं है जो युग २ तक ठगी रूप में चलता रहे। सम्बन्ध व्यवहार और उपकरणों के रूप में इन परम्परा के निमित्त भाव होते हैं। मुख्य रूप से इनमें भाव की ही प्रधानता होती होती है जो व्यवहार के सील और सी-य की उत्पत्ति करता है। ऐसी भाव रूप संस्कृति की परम्परा का निर्वाह धर्मनिरास दुर्लभ है। प्राचीन भारतवर्ष में उपनिषदों और धार्मिकों के युग में जिनने संपन्न और सम्पन्न रूप में ऐसी परम्परा मिलती है वैसे रूप में वह विश्व के इतिहास में कदाचित् ही धर्मनिरास मिल सकेगी। भारतीय लोक जीवन और लोक संस्कृति की धारा में प्रवाहित भाव की गंगा का स्रोत इसी परम्परा के मानसरोवर में है। इस लोक संस्कृति की परम्परा में भाव की प्रवणता बहुत है। यह परम्परा भी सामाजिक और मृजनात्मक है किन्तु भाव रूप सास्कृति की परम्परा के विपरीत इस परम्परा में भाव की निमित्त अधिक स्थायी बन जाते हैं। मृजनात्मक होते हुए भी इन भावों का रूप कुछ निश्चित बन जाता है। सम्बन्धों व्यवहारों और उपकरणों के जो रूप इन भावों के निमित्त बनने हैं वे और भी अधिक स्थिर बन जाते हैं। इसकी मृजनात्मकता एक प्रकार की आवृत्ति बन जाती है। इसीलिये लोक संस्कृति की परम्परा के मन्द होने का भय रहता है। इन रूपों की एकरूपता अथवा प्रकार से हित कर आवश्यक है। यह लोक के सास्कृति जीवन में समात्मभाव का एक सुहृद और सुलभ अवसम्ब प्रदान करती है। इसके साथ २ वह लोक की साधारण मृजनात्मक प्रतिभा की इतना उदार अवसर देती है जितना कि सास्कृति का कोई अथ रूप नहीं दे सकता। भाव रूप सास्कृति की परम्परा अधिक स्वतन्त्र और अधिक मृजनात्मक अवश्य है। किन्तु आत्मा का समुचित उदय न होने के कारण लोक साधारण के लिये इतनी स्वतन्त्र परम्परा का निर्वाह सम्भव नहीं है। लोक साधारण में प्रकृति के प्रबलतर प्रभाव के कारण भाव रूप सास्कृति की परम्परा बाह्य निमित्तों का अधिकार अवलम्ब ग्रहण करने लगती है फिर भी लोक सास्कृति की परम्परा में भाव और निमित्त अथवा भाव और रूप का समुचित साम्य है। इसी साम्य के कारण यह परम्परा इतनी स्थायी और आनन्दमय सिद्ध हुई। निमित्तों के एक ही रूप की आवृत्ति भी सहज समात्मभाव

का प्रवसर बन कर—संस्कृति के ज्ञान दमय प्रयोजन को सफल बनाती है।

इसके विपरीत कला की परम्परा नव नव कर्त्ताओं के द्वारा नव नव रूपों का सृजन है। परम्परा का यह रूप केवल ऐतिहासिक और कलागत है। काल के प्रतिरिक्त इस परम्परा में क्रम का कोई भाव अवलम्ब अधिक महत्वपूर्ण नहीं रहता। कला की गली साहित्य की भाषा आदि कुछ रूपों की प्रत्यक्ष ऐक्यता अथवा उनकी आंगिक समानता आदि कुछ बाह्य निमित्त भी कला की परम्परा के अवलम्ब बन जाते हैं किंतु इन निमित्तों में दीर्घकालीन एकरूपता की सम्भावना लोक संस्कृति के रूपों की अपेक्षा बहुत कम होती है। इतिहास के विशाल युगों में कला के इन रूपों के सापेक्ष एकरूपता भी कठिन है। संपूर्ण इतिहास अथवा अधिक विगत युगों में काल के अनिवार्य क्रम के प्रतिरिक्त कला की परम्परा का भाव कोई सापेक्ष अवलम्ब नहीं रहता। केवल कालक्रम पर अवलम्बित परम्परा का दीनतम रूप है। लोक संस्कृति की परम्परा के विपरीत कला की परम्परा में निमित्तों और रूपों की ऐक्यता न होने के कारण कला में समानता का आधार भी मंद हो जाता है यद्यपि परोक्ष समानता का आधार कला के लिये भी आवश्यक है। फिर भी लोक संस्कृति का जसा साक्षात् समानता का उच्चतम स्तर नहीं रहता। इस साक्षात् समानता का ग्रहण कलाकृतियों में केवल विषय तत्त्व के रूप में हो सकता है किंतु कला की रचना में साक्षात् समानता का आधार मंद हो जाने के कारण कला के विषय तत्त्व के रूप में भी सम्पूर्ण समानता का ग्रहण अधिक नहीं हुआ है। अभिमान, घातुल्य और रामचरितमानस जसी कृतियाँ सम्पूर्ण समानता के कारण ही इसनी श्रेष्ठ एवं लोक प्रिय हैं। उक्त रूप में कला की परम्परा दीन होने के कारण लोक संस्कृति के विकास के साथ-साथ कला के प्रति भी लोक की रुचि मन्द होती गई है। गृहनात्मक समानता ही लोक की सांस्कृतिक रचि का मूल आधार है। कला नि सदेह गृहनात्मक है किंतु अभिजात्य के अनुरोध के कारण कला के गृह में साक्षात् समानता का आधार दीन हो जाता है तथा कला का कृतिरूप एक व्यक्तिगत अध्यवसाय बन जाता है। कर्त्ता और कृति दोनों ही रूपों में कला की परम्परा इन दोनों की परम्परा बनती है। विद्वत्कला, प्रौढकला, साहित्य आदि जिन कलाओं की ऐतिहासिक परम्परा इनके माध्यमों के विशेष गुणों के कारण अधिक सुरक्षित रह सकती है उनके

विषय में यह धर्षित साध है। समीत और मुख्य की मृगात्मक स्थिति में इन बन्धनों से धर्षित साक्षात् समारम्भभाव निहित रहता है। इसी कारण संगीत और मुख्य में बन्धन के एक रूप की परंपरा धर्षित स्थायी रूप में मिलती है। पाए वह परंपरा सौंदर्य मनुष्य की समाप्त व्यापकता का गति। बन्धन के मृगत्व में साक्षात् समारम्भभाव के मन्त्र हो। के कारण उमर मृगत्व और साक्षात् दन दोनों में भाव की मन्त्रता हो जाती है। दृष्टिगत बहुत कुछ सीमा तक प्रकृति और अहंकार का अन्तर्गत बन्धन की परंपरा में योग देता रहा है। भाव की मन्त्रता के कारण ही बन्धन में रूप की समृद्धि हुई। रूप की इस समृद्धि से ही बन्धन में अभिजात्य का उदय हुआ। इतना अवश्य है कि इस प्रकार बन्धन अपने स्वरूप में धर्षित समृद्ध बनो यद्यपि तीन की व्यापक समृद्धि उत्तम अनुयोग कम होता गया। बन्धन में नव नव रूपों का मृगत्व निरन्तर जीवन के सो दय की वन्धन है। इस दृष्टि से बन्धन भावमयी सत्कृति की आवश्यक पूरक है किन्तु दूसरी ओर भाव की मन्त्रता भी जीवन की दीन बनाती है। बन्धन के मृगत्व और साक्षात् दन दोनों में साक्षात् समारम्भभाव के प्रेरणा मद होने के कारण बन्धन में सौंदर्य की रश्मि भी मद होती गई है। सत्कृति के साथ साथ परंपरा का भूख अवलम्ब भी साक्षात् समारम्भभाव ही है। इसके मन्त्र होने के कारण कर्त्ता और कृति की दृष्टि से कर्त्तव्य की श्रद्धा विच्छिन्न होने लगती है तथा बाल का दीन क्रम ही कला की क्षीय माण परंपरा का अवलम्ब रह जाता है।

सृजनात्मक होने के अर्थ में भाव सत्कृति सौंदर्य सत्कृति और कला तीनों ही सत्कृति की त्रिवेणी की तीन प्रमुख धाराएँ हैं। मनुष्य जीवन में भाव ही प्रधान है यद्यपि कुछ परिमाण में जीवन और सत्कृति दोनों के लिये रूप एवं उपकरणों का अवलम्ब आवश्यक है। दानों में गिव अथवा ग्रह की महिमा भाव की प्रधानता की ही छातक है। किन्तु शुद्ध रूप में भाव का प्रवाह दुष्कर है। इसीलिए भाव सत्कृति की परंपरा दीन जीवी न हो सकी। दानों में भाव का अनुरोध एकांगी बनता हुआ भी दिखाई देता है। वेदांत की असकनता का एक कारण उसकी एकांगिता भी है। गिव परंपरा में शक्ति का सिद्धांत भाव के पक्ष की रूप की सृजनात्मक परंपरा के द्वारा सत्कृत बनाता है। यष्णव घम की परंपरा में भी यह सत्कृति मिलता है। मनुष्य जीवन का आंतरिक रहस्य यदि आत्मा अथवा भाव में है तो बाह्य रूप एवं प्राकृतिक उपकरण भी जीवन के स्फुट सत्य हैं। जीवन का पूरा सत्य भाव और रूप के समन्वय से ही निर्मित होता है चाहे उसमें भाव की

प्रधानता हो। दूसरे शब्दों में हम इसे अनुभूति और अभिव्यक्ति का सामाजिक रूप कह सकते हैं। यह सामाजिक भारतीय लोक सांस्कृतिक की परंपरा में एक साक्षात् और समृद्ध रूप में मिलता है। यह अधिकतम मात्रा में हमारे सामाजिक और सामाजिक जीवन को भाव के आनंद से प्रोत्साहित प्रोत्साहित रूप के सौंदर्य से सज्जित करता है। इस दृष्टि से अभिजात सांस्कृतिक की परंपरा भी जो जिसका एक प्रधान भाग बला है भाव सांस्कृतिक के समान ही एकांगी हो जाती है। भाव के स्थान पर उत्तम रूप की प्रधानता बढ़ जाती है। भाव सांस्कृतिक की सरस्वती प्रतीति किंतु अपार महिमायुगी है। रूपमयी कला सांस्कृतिक की गमौर यमुना के तट पर बलावित कण्ठ की रमणीय रास की लीलाओं में प्रभु सौंदर्य के स्वर्ग रचती है। किंतु साम्य की उज्ज्वल और पवित्र गंगा ही जीवन की भूमिका का व्यापक अभिव्यक्ति करती है। इस लोक सांस्कृतिक की गंगा में भाव की सरस्वती और रूप की यमुना का साम्यपूर्ण संगम होने पर मानवीय सांस्कृतिक के तीर्थराज प्रतिष्ठित होते हैं जिनमें जीवन के सार्वभौम और सौंदर्य के अलखट सदा प्रकाशित रह कर मनुष्य के भगल छत्र रचते हैं।

अस्तु कला सांस्कृतिक में रूप की प्रधानता होती है। बाद्य संगीत के समान शुद्ध रूपवती कला भी सम्भव है। चित्रकला की अल्पनाओं में भी यह शुद्ध रूप मिलता है किंतु सामाजिक कला में भाव का सांयोग रहता है। रूप के प्रति मनुष्य का सहज आकर्षण अवश्य है। किंतु भाव के बिना मनुष्य जीवन में कटावृत्ता का अनुभव नहीं होता। इसीलिए रूपवती कला भी भाव के अनुग्रह से समुत्पन्न होती रही है। कला में भाव रूप प्रकट करता है अपना रूप भाव से अनुप्राणित होकर सजीव बनता है यह निश्चय करना कठिन है। फिर भी कला में रूप ही की प्रधानता होती है। कला कृतियों में रूप का सौंदर्य इतना प्रखर होता है कि कला में रूप की प्रधानता स्वतः सिद्ध हो जाती है। एक व्यापक परिभाषा की दृष्टि से कला को रूप की रचना कहना सबसे अधिक शायद जान पड़ता है। कला की यही एक ऐसी परिभाषा है जो कला के समस्त रूपों की व्याख्या कर सकती है। सभी रूपों में सांस्कृतिक भारतीय दृष्टि से निरूपयोगी भावों और रूपों की रचना सांस्कृतिक का अंग अथवा अलंकार होने के नाते कला में अतिशय की रचना होती है वे भी प्राकृतिक दृष्टि से निरूपयोगी होते हैं। निरूपयोगी होने के नाते कला में रचित रूपों को हम 'अतिशय' मान सकते हैं। स्वरूप परिभाषा प्रयोजन प्राप्ति के प्रकार का रूप का अतिशय कलाओं में मिलता है। यण (रंग) स्वरलय,

स्वभाव का प्रतिगम ही प्रतिगम है। कलाका ॥ दादा ग्रहण मानस्यता प्रमाण उपयोगी के कारण नहीं होगा। संगीत के स्वर से तारा में परिमाण के प्रतिगम का उसमें उपाहरण मिलता है। उपयोगी की दृष्टि से तो कलाका में रचित सभी रूप ही प्रतिगम है। रूप के इस प्रतिगम में भी सौन्दर्य स्पष्ट होगा है। कला रूप के प्रतिगम के द्वारा सौन्दर्य की ही रचना है। सृजन और सौन्दर्य की निभूति के द्वारा कला की आत्मा संस्कार में व्याप्त रहती है। संस्कृति और कला के आत्मीय सम्बन्ध का यह रहस्य है। सौन्दर्य संस्कृति में जीवन के भावों के साथ कला के रचना का मनोहर साम्य मिलता है। यह साम्य कला और संस्कृति का सगम है। इस सगम में भाव की सांस्कृतिक गंगा और रूप की कलात्मक वस्त्रता नहीं मिलती है। सौन्दर्य संस्कृति के इस सगम में प्रमाण के सगम की गंगा यमुना की भाँति भाव और रूप का पृथक् करना बड़ा कठिन है। सगम के अप्रणामी प्रवाह की भाँति वे एक दूसरे से मिल रहे हैं। किन्तु कला के विकास में रूप की प्रधानता बढ़ती गई है। नृत्य और संगीत ही अधिक सक्रिय कलाओं में रूप की यह प्रधानता अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। किन्तु रूप की इस प्रधानता में भी भाव का अनुयोग प्रायः दिखाई देता है। भाव का यह अनुयोग कलाओं को अधिक सजीव बनाता है।

रूप में भाव की यह अनुयोग का य में सबसे अधिक मिलता है। इस दृष्टि से काव्य सबसे अधिक सांस्कृतिक कला है। साक्षात् और सामाजिक रूप में सृजनात्मक होने के कारण नृत्य और संगीत की कलायें सबसे अधिक सांस्कृतिक हैं। किन्तु भाव और रूप के साम्य की दृष्टि से काव्य की यह श्रेष्ठता उचित रहेगा। काव्य के साथ-साथ माध्यम के कारण काव्य में भाव की प्रधानता अधिक दिखाई देती है। किन्तु रचना की दृष्टि से काव्य में रूप का महत्व भाव से अधिक है। यदि भाव ही हमारा उद्दिष्ट हो तो उस अधिक सरलता से प्रस्तुत किया जाता है। काव्य में भावों की अभिव्यक्ति के लिए जिन भविष्यो का प्रयत्न लिया जाता है उनमें रूप की प्रतिशय स्पष्ट होता है। एतद्विषयों का आवरण तो कुछ सहज होता है किन्तु अर्थ रूपों में सौन्दर्य का दर्शन कुछ गिम्मा और संस्कार की अपेक्षा करती है। इनके अभाव में साधारण जन प्रायः नृत्य और संगीत जसी रूप प्रधान कलाओं में भी रूप की अपेक्षा भाव से अधिक प्रभाव होता है। इसी प्रकार काव्य में भी प्रायः भाव ही प्रधान दिखाई देती है। टीकाओं, व्याख्याओं और चालोचनाओं में काव्य में भाव की प्रधान बना कर भाव की प्रधानता के अर्थ को निश्चित करने में

भी फला दिया है। किन्तु वस्तुतः काव्य भी अथवा कलाओं के समान एक कला है और उसमें रूप की प्रधानता रहती है। इतना अवश्य है कि काव्य के साधक साध्यों के कारण काव्य में भाव का ग्रहण विपुल मात्रा में किया जा सकता है। वस्तुतः कला में भाव और रूप प्रायः एक दूसरे में समाविष्ट हो जाते हैं तथा एक दूसरे को समृद्ध बनाता है। यही काव्य में भाव और रूप के साम्य की सर्वाधिक सम्भावना का रहस्य है। काव्यशास्त्रों में काव्य को साहित्य की शाना दी गई है और काव्य एक अथ के सहित भाव के रूप में उस साहित्य की व्याख्या की गई है। काव्य के रूप और अर्थ को भाव कह सकते हैं। काव्य और अर्थ का साहित्य भाव और रूप का अभिन्न सम्बन्ध है। काव्य में भाव की महिमा भी असादिश्व है। यह काव्य की कला का एक सहज अनुपात है। इसीलिए भाव में दिन काव्य प्रभावशाली और स्थायी बन सकता है। किन्तु काव्य का कलात्मक स्वरूप भाव में नहीं रूप में ही निहित रहता है। काव्य में ग्रहित भाव सम्बन्ध और व्यवहार में ही प्रकट होते हैं। वहाँ उन्हें काव्य नहीं खोला जा सकता; यद्यपि इस स्थिति में हम उन्हें सास्कृति कह सकते हैं तथा भाव कोटि में उनकी प्रथम गणना कर सकते हैं। काव्य में उन भावों की ध्वजना को ध्यान देने पर विदित होता है कि रूप की रचना का शीर्ष ही काव्य का स्वरूप है। काव्य का समस्त साध्य काव्य में कलाओं की शृंखला बनाती है। भाव के अनुरोध से स्थायी बन कर काव्य का काव्य सागीत के स्वर की ध्वजना एक अधिन क्रम बद्ध परंपरा का निर्माण करता है। इस परंपरा की दृष्टि से भी कलाओं में काव्य सास्कृति के अधिक निकट है। भाव और रूप का साम्य भी काव्य में सबसे अधिक सम्भव है। यह भी सास्कृति के साथ उसके निकट का कारण है। अथवा कलाओं में रूप की प्रधानता रहती है। अतिशयता और साक्षात् समस्तभाव की सम्भावना के कारण ही वे सागीत और नृत्य की भाँति सास्कृति के क्षेत्र में प्रादुर पाती हैं। किन्तु भाव और रूप के साम्य की दृष्टि से काव्य सास्कृति के सबसे निकट है। विषय रूप में व्यापक समस्तभाव को ग्रहण करने वह उसके निकटतर भी सकता है। साम्य और समस्तभाव को परिपूर्ण रूप में ग्रहण करने का कारण 'रामचरित मानस' स्वरूप से विश्व का सबसे अधिक साम्यशाली काव्य है इसीलिए वह भारतीय समाज के साम्यशाली जीवन में इतना लोक प्रिय हुआ है जितना विश्व का कोई अन्य काव्य कलाचिह्न ही हुआ होगा।

सम्प्रति सास्कृति मुख्यतः भाव और रूप के साम्य की सृजनात्मक परंपरा है। कला एक प्रकार से सास्कृति की आत्मा है। किन्तु अभिजाय के अनुरोध

घोर रूप से उद्वेग के कारण भाव घोर रूप का शीघ्र भंग होने पर वह शीघ्र ही वा लक्ष प्रमुख योग बन जाती है। शीघ्र ही शीघ्र भव घोर हो-
 की समर्थता परिलक्षित है। जन्म प्रयोग शीघ्र का शीघ्र भव है। शीघ्र
 स्वभाव का अतिरिक्त है। अतः जन्म की रूप के अतिरिक्त की रचना बहुत
 सही है। काव्य जन्म का एक भव है। रूप हृदि में उभरने की रूप की प्रथा
 गता रहती है। किन्तु शीघ्र की समर्थता काव्य में उभरने भाव का अनुष्ठान करता
 है। भाव घोर रूप का काव्य काव्य में सबसे अधिक समृद्ध रूप में संभव है।
 हृदि काव्य की हृदि में काव्य सबसे अधिक सांस्कृतिक जन्म है। सक्रियता और
 समात्मभाव की हृदि से संगीत सबसे अधिक सांस्कृतिक जन्म है। उभरने भाव
 का अनुयोग होने पर वह काव्य के निबट भा जाता है। समर्थता मानस
 की भाति भाव और रूप के समृद्ध काव्य में संगीत और समात्मभाव की
 समर्थता होने पर काव्य जन्मों में सबसे अधिक सांस्कृतिक और सबसे अधिक
 सही बन जाता है।

कला और काव्य

कला और सृष्टि के सम्बन्ध को हम दो प्रकार से समझ सकते हैं। पश्चिमी विद्वानों की भावना पर आधारित प्राधुनिक भारतीय मत के अनुसार सृष्टि एक अपनी धारणा में मनुष्य की समस्त कृतियों का वाचक है। वह एक प्रकार से कृति का पयाय है और इन मत के अनुसार हम उपमग किसी विषयता का सूचक नहीं। 'कला' भी मनुष्य की एक कृति है। हम मानते हैं वह सृष्टि का एक अङ्ग है। उक्त मत के अनुसार सृष्टि मनुष्य की विविध कृतियों का सङ्कलन मात्र है। हम सङ्कलन में कला साहित्य दान धर्म गानन व्यवसाय उद्योग आदि मनुष्य की अनक विध कृतियाँ सम्मिलित हैं। इन कृतियों के स्वरूप में परस्पर बहुत अंतर तथा प्राय विरोध भी है। मनुष्य के कृतित्व के अतिरिक्त इनमें अन्य कोई सामान्य तत्त्व खोजना कठिन है। इस कृतित्व का विलेपण करने पर हमकी प्रतीति में भी कुछ अन्ति दिखाई देगी। मनुष्य की जिन कृतियों में प्रकृति प्रयत्न सामाजिक व्यवस्था का प्रतिपाद प्रभाव दिखाई देता है उनमें मनुष्य का कृतित्व का योग भी कम हो जाता है।

कृतित्व के इस विवेचन में सृष्टि का एक दूसरा दृष्टिकोण उद्दिष्ट होता है जो सृष्टि की भारतीय परम्परा और धारणा के अधिक अनुरूप है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सृष्टि मनुष्य का सम्पूर्ण कृतित्व का पयाय नहीं है और न वह उसकी अनक विध कृतियों का सङ्कलन मात्र है बरन् सृष्टि मनुष्य का कृतियों का एक विशेष रूप है जो हम उपमग से लक्षित साम्य के अनुरूप होता है। मानवीय सङ्कल्प की स्वतन्त्र सृजनात्मकता का अतिरिक्त कृतित्व का हम विचार रूप में रूप और भाव का अतिपाय की परम्परा समोहित होती है यही परम्परा सृष्टि का जीवन्त रूप है। सृष्टि की यही धारणा भारतीय परम्परा के अनुरूप है। सृष्टि के स्वरूप का विषय में हमारा अभिमत भी इसी धारणा का अनुसरण करता है। हमारे अभिमत के अनुसार कला की सृष्टि का अङ्ग मानना उचित नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य के सम्पूर्ण कृतित्व का समाहार सृष्टि की परिधि में नहीं किया जा सकता उसी प्रकार सम्पूर्ण कला का समाहार भी सृष्टि में सम्भव नहीं है।

मनुष्य के रसतल व मनुष्य के प्रतिष्ठित होने के कारण संस्कृति और कला दोनों ही विपुलत संचारमय है । इस गी कला और संस्कृति दोनों में एक मौलिक समानता है तथा हम संस्कृति का वसतारमय और कला को मौलिक कह सकते हैं । किन्तु कला और संस्कृति को एक दूसरे का पर्याय नहीं बनाया जा सकता । उत दोनों के स्वप्न में केवल एक भांगिक साम्य है । इतना प्रथम यह है कि यह साम्य अत्यन्त मौलिक है तथा हम यह कह सकते हैं कि कला और संस्कृति स्वतन्त्र मानवीय कृतियों के एक ही बल गृह की दो शाखाएँ हैं प्रथम उगकी एक ही शाखा के दो पुत्र पुत्र हैं । दोनों में एक ही सृजनारम्भ भाव का रस व्याप्त है । यद्यपि यह रस भिन्न रूपों में साकार होता है । रूप के सृजन को कला का स्वरूप मान कर हम कला को संस्कृति का प्राण मान सकते हैं । इस दृष्टि से संस्कृति में कला की प्रेरणा गवय प्राप्त होती है और उसे सामान्यतः जनारम्भ बना जा सकता है । संस्कृति सृजनारम्भ रूपों की परम्परा बन जाती है । कला में पुरातन रूपों की आवृत्ति की परम्परा की अपेक्षा नवीन रूपों के सृजन की भावना अधिक होती है । अतः कला केवल सृजनारम्भ होने के अर्थ में संस्कृति का सन्निवेश कला में उतना व्यापक नहीं है जितना कि रूप रचना के अर्थ में कलात्मक सौन्दर्य संस्कृति में व्याप्त रहता है । सौन्दर्य के रूपों की रचना कला और संस्कृति का सामान्य लक्षण है । नवीन रूपों की रचना में अग्रसर होने वाला कृतित्व विशेष अर्थ में कला बन जाता है । संस्कृति अपने विशेष अर्थ में पुरातन रूपों की परम्परा का आदर है । कला उसका प्राण है तथा भाव उसकी आत्मा है । भाव के मानसरोवर से आनन्द निभर प्रवाहित होते हैं । कला के रूप क्षितिज पर सौन्दर्य के रञ्जित मेघ जीवन के स्वर्ग की वन्दनवार सजाते हैं । कला में सौन्दर्य की प्रधानता रहती है यद्यपि आनन्द का अभाव नहीं रहता । संस्कृति में सौन्दर्य और आनन्द दोनों का सामञ्जस्य रहता है । सौन्दर्य की साधना बनकर कला अभिजात बन जाती है । किन्तु संस्कृति में प्राप्त कला के प्राण आत्मा व उत्साह की प्रेरणा बनकर लोक साधारण के सौन्दर्य से मुग्ध आनन्द से विभोर करते हैं ।

इस प्रकार स्वरूप में मौलिक साम्य होते हुए भी हमारे मत में संस्कृति और कला की धारयाँ कुछ भिन्न दिशाओं में प्रवाहित होती हैं । गङ्गा और यमुना की भाँति वे सङ्कल्प और साधना के एक ही हिमालय के भिन्न गिरावा से उदित होती हैं । रूप की यमुना जब तक अपनी स्वतन्त्र गति से अग्रसर होती है तब तक हम उसे कला कह सकते हैं । भाव की उज्ज्वल और पवित्र

गन्ता की सम्मति का गुद रूप कहा जा सकता है, किन्तु सस्कृति के जीवन रूप की रचना भाव की गन्ता में रूप की यमुना के सङ्गम के द्वारा ही होती है । रूप और भाव के यही सङ्गम में जीवन के तीथराज बनते हैं तथा सांस्कृतिक सङ्गम का यही सम्मनित प्रवाह कल्याणमयी काशी की धार प्रसर कर मङ्गल-भूति त्रिव का अभिव्यक्त करता है । सस्कृति की धारा के इस सम्मनित प्रवाह में कला की यमुना आत्मसात् हो जाती है । सस्कृति की जीवन्त परम्परा में कलात्मक रूपों का सोदय भाव के चरणों में अपनी विभूति प्रपित करके आनन्द का उदय करता है । सरल रूपों में कला के आत्मिक सौन्दर्य से युक्त होते हुए भी सस्कृति में भाव की प्रधानता होती है । रूप कलात्मक सौन्दर्य का रहस्य है । भाव जीवन के आनन्द का मम है । जीवन की आत्मा में तानों एक आन प्राप्त रहते हैं कि वस्तुतः उनकी भलग करना कठिन है । सस्कृति की जिज्ञा में जीवन एक सहज रूप में अपनी वृत्तायता का खानता है उसमें हमें भाव और रूप का मगम दिखाई देता है । हम दृष्टि से सस्कृति जीवन का सजस सुन्दर और आनन्दमय रूप है । भारतीय सस्कृति के एक सौन्दर्य के प्रमुख आलाप तथा आनन्द के विपुल उन्नाम के द्वारा हम सत्य की प्रकाशित एवं प्रमाणित करते हैं । कलात्मक क्षेत्र में भी जीवन के इस मौलिक सत्य का प्रभाव दिखाई देता है । सस्कृति से विवेक करने के लिये हमने कला को अभिनव रूपों की रचना माना है । रूप का सौन्दर्य ही कला का मौलिक सत्य है । वाद्य संगीत आलाप एवं चित्रकला की अल्पनामा में कला के गुद रूप के उदाहरण मिलते हैं । किन्तु कला का यह गुद रूप कलाओं के इतिहास में बहुत अल्प परिमाण में मिलता है । साथ ही यह अविवेक तक प्रिय भी नहीं हो सका है । भाव रूप त्रिव से सीमाव्यवृत्ती बनकर ही शक्ति-मुदरी कला समाज की साम्प्रतिक परम्परा में आहत होती है । भाव के सीमाव्यवृत्ती के बिना वह दीन ही दिखाई देती है । इसी लिए स्वरूप और परिभाषा के अनुसार गुद रूपों में होना हुए भी कलाओं के प्रचलित और ऐतिहासिक रूपों में प्रायः भाव का मगम मिलता है । इतना अवश्य कि जिन प्रकार सस्कृति में भाव और रूप का मगम होना हुए भी भाव की प्रधानता होती है उसी प्रकार कला में इनका मगम होने पर भी रूप की प्रधानता होती है । भाव और रूप की प्रधानता के आधार पर ही हम सस्कृति और कला में भेद कर सकते हैं । अल्प रूप के आधार पर विपुल भाव की विभूति सस्कृति की विशेषता है तथा अल्प भाव के आधार पर विपुल सोदय की रचना कला का अमत्सर है । विविध कलाओं में यह अमत्सर विविध रूपों और परिमाणों में दिखाई देता है ।

गुण स्वरूप और परिभाषा की दृष्टि से बना रूप के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हो है। किन्तु प्रचलित और ऐतिहासिक रूपों में प्राप्त कला का सौन्दर्य भाव के समयोग से ही साकार होगा है। इस समयोग का रूप और अनुपात कलाकारों के विभिन्न माध्यमों की मर्यादाओं पर निर्भर है। माध्यम की मर्यादाओं के अनुसार कलाकारों के विभिन्न रूपों और उनके द्वारा सौन्दर्य का विधान करते हैं। कलाकारों के विभाजन और उनकी तुलना के प्रसंग में हम विधान का महत्व है किन्तु सामान्यतः सभी कलायों में रूप की रचना और सौन्दर्य की साधना है। सृष्टि में अतिसूक्ष्म कलाओं सृष्टि के साथ स्वस्वगत साम्य के द्वारा उम समृद्ध बनाती है। भाव सृष्टि की सम्पत्ति है। अपने स्वरूप में सभी कलाओं रूप की महिमा को मानकर सो दय की साधना करती हैं। इस प्रकार कला एक सामान्य प्रत्यय है जो एक और सृष्टि की अतिसूक्ष्म अनुपातित करता है तथा दूसरी ओर सभी रूप प्रधान रचनाओं की अपनी व्यापक परिधि में समाहित करता है।

काव्य की गणना कला के विभेदों के अन्तर्गत की जा सकती है। भाव की पर्याप्त महिमा होते हुये भी रूप की विभूति काव्य को स्वरूप प्रदान करती है। रूप के समयोग से ही भाव को काव्य का स्वरूप मिलता है। सृष्टि के स्वरूप में कला का आणित्व अतिसूक्ष्म ही रहता है। इसी प्रकार कला की परम्परा में भी सृष्टि का भाव पूर्णतः प्रभावशाली नहीं होता। कला और सृष्टि के अतिरिक्त जोड़ी दूर तक ही स्पष्ट करते हैं उसके बाद के अपने स्वतन्त्र रूप में विकसित होते हैं। किन्तु कला के विभेद सामान्य में विभेदों की भाँति पूर्ण रूप से कला की परिधि में समाहित होते हैं। इतना अवश्य है कि जिस प्रकार कला के सामान्य रूप में सृष्टि के भाव और उसकी परम्परा का अभिव्यक्ति सम्भव है उसी प्रकार कला के विभेद रूप भी विभिन्न रूपों और परिमाणों में सृष्टि की भूपाधारण करते हैं। सांस्कृतिक भाव परम्परा का अधिक अनुपात में सामञ्जस्य करके कला के रूप सृष्टि के अत्यन्त निकट भी आ सकते हैं। संगीत और काव्य सृष्टि के इस अभिन्न के अधिक अधिकारी हैं। सृष्टि और कला के साम्य की भाँति कलाओं के अन्तर्गत संगीत एवं काव्य में अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का कारण काव्य के माध्यम की समानता है। इस समानता की दृष्टि से ये दोनों कलाओं सहोदरा हैं। संगीत और काव्य के कलाओं के क्षेत्र में विशेष महत्व तथा सृष्टि के साथ उनके सम्बन्ध की समझने के लिये सृष्टि के स्वरूप के साथ साथ कला के स्वरूप की भी विस्तृत व्याख्या अपेक्षित होगी।

संस्कृति सामान्यरूप से जीवन की रचनात्मक स्थापना है। इस दृष्टि से जना भोराजाय भी संस्कृति में अंतर्गत हैं। सामान्य रूप से संस्कृति भोर बना-बोनों ही रचनात्मक है। वाक्य की कला का एक स्वरूपभेद मान सकते हैं। समात्मभाव संस्कृति भोर कला का सामान्य आधार है। समात्मभाव का आधार भोर रचनात्मकता संस्कृति एवं कला दोनों का सामान्य मौलिक लक्षण है। किन्तु इस क्षेत्र में प्रतिरिक्ता कला भोर संस्कृति दोनों की कुछ अपनी अपनी स्वतन्त्र विशेषता है। इन विशेषताओं के कारण संस्कृति भोर कला में स्वभाव सामान्य भोर 'मौलिक' रूप में अंत-समान-समान होते हुए भी कुछ भिन्न बन जाते हैं। साक्षात् समात्मभाव भोर संस्कृति का अर्थ यह है संस्कृति की रचना एक आवृत्तिमयी परंपरागत बन जाती है। जब विपरीत कला की व्यक्तिगत साधना में विषय साक्षात् रूप में आरोप समात्मभाव अधिक रहता है। व्यक्तिगत साधना होने के प्रतिरिक्ता कला की संस्कृति मूलक परंपरा नहीं बन पाती। कला की परंपरा आवृत्तिमयी होकर नये नये रूपों की तरफ परा जाती है। ये परंपरा जबतक नव नव सृजनिक उपयोग के द्वारा चलती है। इस परंपरा में प्रवर्तित रूपों के अन्तर्गत कोई आवश्यक समानता प्रयोज्य सम्भाव्य नहीं रहता। रूप का आवृत्ति का परंपरा कला के क्षेत्र में अल्पकाल तक ही चलती है जब तक किसी प्रतिभाशाली कलाकार प्रयोज्य प्रतिभा की का प्रभाव पड़ता है। संगीत भोर नृत्य में प्रतिरिक्ता प्रयोज्य कला का आवृत्ति भोर अनुकरण बहुत जर्मनिष्ठ है। इस दृष्टि से ये दोनों प्रकार के प्रयोज्य कला में अधिक आसक्ति है तथा प्रयोज्य कला में रचनात्मक प्रयोज्य है। प्रयोज्य कलाओं में आवृत्ति भोर अनुकरण की प्रयोज्य मौलिक रूपों की रचना की परंपरा अधिक मिलती है। संगीत भोर नृत्य में मौलिक रूपों की रचना प्रयोज्य रहती है। इन क्षेत्रों में नवीन रूपों का प्रयोज्य करने वाली प्रतिभाओं बहुत कम हुई हैं। आवृत्ति भोर अनुकरण ही इन कलाओं की परंपरा है। किसी सीमा तक हम इस आवृत्ति की ही रचना कह सकते हैं।

विरल नए रूपों की अभिनव रचना होने के कारण ही यह कलाओं संस्कृति का अधिक निकट है। संस्कृति भी इसी प्रकार की रचना का परंपरा है। इस आवृत्तिमयी परंपरा का एक कारण नव कलाओं में प्रयुक्त वाक्य के माध्यम की नव रचना है। संगीत भोर नृत्य की रचनाओं किसी भी प्रकार से स्थाई नहीं रह सकती। आयुर्विज्ञानियों के द्वारा इनकी प्रतिरिक्ता को स्थाई बनाने में सफलता प्रयोज्य प्राप्त हुई है किन्तु इन कलाओं की मौलिक प्रतिभा अपने समीप रूप में स्थायी नहीं बनाई जा सकता। अतः आवृत्ति का

द्वारा ही इनकी मन्त्रीय परंपरा जीवित रह सकती है। धर्म कलाओं का माध्यम तब ही घोटा अधिक स्थायी होते हैं। धर्म उनके भीतिव रूप गुरदित रहते हैं। धर्म के माध्यम से रचित होने हुए भी 'काव्य' भाव प्रदान होने का कारण समान की स्मृति में स्थायी रहता है। फिर भी काव्य चित्रकला मूर्तिजसा आदि कलाओं की परंपरा अभिनव रूपों की रचना से ही निमित्त होती है। यद्यपि इन दोनों में अग्रता माना जा सकता है फिर भी इन की गहनता इनमें समान मिलती है। रूप की दृष्टि से नहीं किंतु रचना की दृष्टि से सत्कृति गगीत नृत्य तथा अन्य सभी कलाओं में गहनता दिखाई देती है। इन की यह अभिनव रचना सत्कृति और कलाओं का सामान्य सक्षण है। दोनों में मुख्य अंतर यही है कि सत्कृति में रूप की प्रपंचा भाव की प्रपञ्चना होती है यद्यपि दोनों का साम्य रहता है। कुछ कलाओं में उच्च सजीव बनाने के लिए भाव का ग्रहण होता है फिर भी उनमें रूप की ही प्रपञ्चना रहती है। कलाओं में भाव का ग्रहण उपादान और आकांक्षा के रूप में होता है। सत्कृति में इन रूपों के प्रतिरिक्त अनुभव की साक्षात् सम्पत्ति का रूप में भावों की विपुलता रहती है। सभी रूपों में भाव की विपुलता तथा इन भावों की सृजनारम्भ परंपरा सत्कृति की कला से भिन्न करती है।

अस्तु रूप की रचना कला का विशेष सक्षण है। रूप की रचना का क्रम सत्कृति की परंपरा में भी रहता है। इस दृष्टि से सत्कृति भी कलात्मक है। साक्षात् समारम्भभाव विविध रूप भावों की विपुलता तथा आवृत्तिमयी परंपरा ये सत्कृति की ऐसी विशेषताएँ हैं जो कला में प्रमुखता से नहीं पाई जाती तथा सत्कृति का कला से विभाजन करती हैं। अपने विवेक स्वरूप में कला रूप की रचना है। रूप की सम्पत्ति का सूक्ष्म और गम्भीर अनुमान करने पर ही कला के स्वरूप की विवृति हो सकती है और काव्य के साथ उनके सब धर्म का निर्धारण हो सकता है। विश्व की समस्त सत्ता का विवरण अथवा विभाजन रूप और तत्व के द्वारा किया जा सकता है। तत्व सत्ता का अन्तर्गत सार है। रूप उसकी बहिर्मुख अभिव्यक्ति का माध्यम है। यह विभाजन केवल सत्ता के दो विवेक पक्षों को पृथक् पृथक् समझने के लिए है। वस्तुतः रूप और तत्व को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। केवल सत्कृति और कला के निरूपण के लिए उनका मानसिक विश्लेषण किया जा सकता है। रूप और तत्व दोनों ही केवल भौतिक नहीं होते वे दोनों अभी तब अथवा मानसिक भी होते हैं। किंतु भौतिक उदाहरणों के द्वारा रूप और तत्व दोनों ही केवल भौतिक नहीं होते, वे दोनों अभी तब अथवा मान

सिक् भी हात हैं । किन्तु भौतिक उदाहरणों के द्वारा रूप और तत्त्व के भेद को समझना कठिन है । किसी भी भौतिक पदार्थ के उदाहरण को लेकर हम सरलता से उसका रूप और तत्त्व का विश्लेषण कर सकते हैं । मिट्टी के बने हुए अनेक विलोने भिन्न भिन्न रूप के हो सकते हैं । किन्तु उनका तत्त्व एक ही है । व सब मिट्टी के बने हुए हैं । उनके रूप भिन्न भिन्न हैं । भौतिक पदार्थों के सम्बन्धों में हम इस रूप को आधार कह सकते हैं । यह आधार सरल और सरल रेशाओं की एक जटिल व्यवस्था है जिसमें ये रेशाएँ मिल कर सम्प्रसारक विषय परातलों का निर्माण करती हैं । भौतिक पदार्थों और उनके आधार का ग्रहण चक्षुषों के द्वारा होता है । चक्षुषों के द्वारा हम वण (रंग) का ग्रहण करते हैं । दानों में चक्षुषों के द्वारा ग्राह्य गुण की ही रूप कहा जाता है । "माय वदोपि दशन में सात पील, हर नीले प्रादि रंगों की इस रूप के उपभोग माना जाता है । इससे स्पष्ट है कि दानों में रंग की ही रूप माना है और दानों में भोग नहीं किया गया है । यदि रूप तत्त्व की अभिव्यक्ति का माध्यम है तो वण (रंग) को रूप मानना नितात्त उचित है । वणों के द्वारा ही भौतिक पदार्थ अभिव्यक्त होता है । एक प्रकार से वण (रंग) को रूप की अधिक भौतिक स्थिति कह सकते हैं । "शब्द व्यवस्था में बालक का पदार्थ के आधार का स्पष्ट बोध नहीं होता किन्तु वह रंगों के प्रभाव को ग्रहण करने लगता है । बालक की दृष्टि मधे ना रंगों से ही उत्तजित होती है पदार्थों के आधार का बोध उसे कुछ विलम्ब से होता है । इस दृष्टि से रूप के सम्बन्धों में दानों का भौतिकानिक दृष्टि से भी भग्न है । भौतिक पदार्थों की अभिव्यक्ति आधार और रंग होती है । इनमें रंग की प्राथमिकता दी जा सकती है क्योंकि आधार के स्पष्ट न होने पर भी रंग का ग्रहण बालकों की ही नहीं बच्चों की भी होता है सामान्यतः रंग की अभिव्यक्ति सर्वदा होती है । इसका अर्थ है कि रंग के आधार के न होने पर हमारा ध्यान रंग की अपना आधार की धार अधिक जाता है । जब हम बच्चों को देखते हैं तो उनका आधार की कम ध्यान देते हैं क्योंकि हम उनके रंग से अधिक आकर्षित होते हैं । इसके विपरीत जब हम वृद्धों के चेहरे का देखते हैं तो हम उसके आधार को अधिक ध्यान देते हैं क्योंकि उनका रंग अधिक आकर्षित नहीं होता । अनेक बार हमें वस्तु के आधार तथा रंग का बोध होता है किन्तु हम पदार्थ के तत्त्व का निर्धारण नहीं कर पाते । ऐसा स्थितियों में तत्त्व और रूप का भोग अधिक सरलता में स्पष्ट हो जाता है । भौतिक पदार्थों की अभिव्यक्ति आधार और रंग के द्वारा होती है । इन दोनों की ही हम भौतिक पदार्थों का रूप कह सकते हैं ।

द्वारा ही इनकी गंभीर परंपरा जीवित रह सकती है। काव्य कलाओं का माध्यम काव्य की प्रपञ्चा प्रतिक्रिया स्थायी होता है। अतः उनका भौतिक रूप सुरक्षित रहता है। काव्य के माध्यम में रचित होते हुए भी काव्य मात्र प्रधान होने का कारण समाज का स्मृति में स्थायी रहना है। फिर भी काव्य चित्रकला मूर्तिकला आदि कलाओं की परंपरा प्रतिक्रिया रूपों की रचना से ही निर्मित होती है। यद्यपि इन रूपों में अष्टता माना गठित है फिर भी रूप का नवीनता इनमें सर्वत्र मिलता है। रूप का दृष्टि से नहीं किन्तु रचना की दृष्टि से मस्तिष्क मंगीत नृत्य तथा अन्य सभी कलाओं में नवीनता दिखाई देती है। रूप की यह प्रतिक्रिया रचना सत्कृति और कलाओं का सामान्य संगण है। दोनों में मुख्य अंतर यही है कि मस्तिष्क में रूप की प्रपञ्चा भाव की प्रधानता होती है यद्यपि दोनों का साम्य रहता है। कुछ कलाओं में उन्हें सजीव बनाने के लिए भाव का ग्रहण होता है फिर भी उनमें रूप की ही प्रधानता रहती है। कलाओं में भाव का ग्रहण उपदान और आवागता का रूप में होता है। मस्तिष्क में इन रूपों के प्रतिरिक्त अनुभव की साक्षात् सम्पत्ति का रूप में भावों की विपुलता रहती है। सभी रूपों में भाव की विपुलता तथा इन भावों की सृजनात्मक परंपरा सत्कृति का कला से भिन्न करती है।

अस्तु रूप की रचना कला का विशेष सक्षण है। रूप की रचना का क्रम सत्कृति की परंपरा में भी रहता है। इस दृष्टि से सत्कृति भी कलात्मक है। साक्षात् समारम्भभाव विविध रूप भावों की विपुलता तथा आवृत्तिमयी परंपरा में सत्कृति की ऐसी विद्यमानता है जो कला में प्रमुखता से नहीं पाई जाती तथा सत्कृति का कला से विभाजन करती है। अपने विशेष स्वरूप में कला रूप की रचना है। रूप की सम्पत्ति का सूक्ष्म और तन्मयी अनुमान करने पर ही कला के स्वरूप की विवृति हो सकती है और काव्य के साथ उनका संबंध का निर्धारण हो सकता है। विषय की समस्त सत्ता का विवरण प्रपञ्चा विभाजन रूप और तत्त्व का द्वारा किया जा सकता है। तत्त्व सत्ता का अंतर्गत सार है। रूप उसकी बहिर्मुख अभिव्यक्ति का माध्यम है। यह विभाजन बल सत्ता का दो विवेक पक्षों की पृथक् पृथक् समझने के लिए है। अस्तुतः रूप और तत्त्व को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। बल सत्कृति और कला का निरूपण के लिए उनका मानसिक विनियोग किया जा सकता है। रूप और तत्त्व दोनों ही बल भौतिक नहीं होते व दोनों प्रभौतिक प्रपञ्चा मानसिक भी होते हैं। किन्तु भौतिक उत्पत्तियों के द्वारा रूप और तत्त्व दोनों ही कथन भौतिक नहीं होते व दोनों प्रभौतिक प्रपञ्चा मान

सिक् भी हाव हैं । किन्तु भौतिक उदाहरणों के द्वारा रूप और तत्त्व के भेद को समझना कठिन है । किसी भी भौतिक पदार्थ के उदाहरण को लेकर हम सरलता से उसके रूप और तत्त्व का विश्लेषण कर सकते हैं । मिट्टी के बने हुए अनेक विलाने भिन्न भिन्न रूप बं हा सकते हैं । किन्तु उनका तत्त्व एक ही है । ये सब मिट्टी के बने हुए हैं । उनके रूप भिन्न भिन्न हैं । भौतिक पदार्थों के सम्बन्धों में हम इस रूप को आकार कह सकते हैं । यह आकार सरल और वक्र रेखाओं की एक जटिल व्यवस्था है जिसमें ये रेखाएँ मिल कर सम्प्रथक विषम घातलों का निर्माण करती हैं । भौतिक पदार्थों और उनके आकार का ग्रहण चक्षुषों के द्वारा होता है । चक्षुषों के द्वारा हम वण (रंग) का ग्रहण करते हैं । दृगों में चक्षुषों के द्वारा ग्राह्य गुण को ही रूप कहा जाता है । माय बौद्धिक दृगों में लाल पीले हरे नीले आदि रंगों को इस रूप के उपभेद माना जाता है । इससे स्पष्ट है कि दृश्यों में रंग को ही रूप माना है और दोनों में भेद नहीं किया गया है । यदि रूप तत्त्व की अभिव्यक्ति का माध्यम है तो वण (रंग) को रूप मानना नितांत उचित है । वणों के द्वारा ही भौतिक पदार्थ अभिव्यक्त होते हैं । एक प्रकार से वण (रंग) को रूप की अधिष्ठा भौतिक स्थिति कह सकते हैं । गण्य व्यवस्था में बालक को पण्य के आकार का स्पष्ट बोध नहीं होता किन्तु वह रंगों के प्रभाव को ग्रहण करने लगता है । बालक की दृष्टि संवेदना रंगों से ही उत्तजित होती है पदार्थों के आकार का बोध उसे कुछ विलम्ब से हाता है । इस दृष्टि से रूप के सम्बन्धों में दृश्यों का अतवर्जानिक दृष्टि से भी सगत है । भौतिक पदार्थों की अभिव्यक्ति आकार और रंग होती है । इनमें रंग को प्राथमिकता दी जा सकती है क्योंकि आकार के स्पष्ट न होने पर भी रंग का ग्रहण बालकों को ही नहीं बल्कि भी होता है सामान्यतः रंग की अभिव्यक्ति सर्वदा होती है । इतना अवश्य है कि रंग के आवर्णक न होने पर हमारा ध्यान रंग की अपेक्षा आकार की ओर अधिष्ठा जाता है । जब हम वृक्षों को देखते हैं तो उनके आकार की वम ध्यान देते हैं क्योंकि हम उनके रंग से अधिष्ठा आवर्णित होते हैं । इसके विपरीत जब हम वृक्षों के तने का देखते हैं तो हम उसके आकार को अधिष्ठा ध्यान दत्त है क्योंकि उसका रंग अधिष्ठा आवर्णित नहीं होता । अनेक बार हमें वस्तु के आकार तथा रंग का बोध होता है किन्तु हम पदार्थ के तत्त्व का निर्धारण नहीं कर पाते । ऐसी स्थितियों में तत्त्व और रूप का भेद अधिष्ठा सरलता से स्पष्ट हो जाता है । भौतिक पदार्थों की अभिव्यक्ति आकार और रंग के द्वारा होती है । इन दोनों को ही हम भौतिक पदार्थों का रूप कह सकते हैं ।

ये भौतिक पदार्थ सत्ता अथवा तत्त्व के केवल एक भग है । भौतिक पदार्थों में भोत्सूक्ष्म और सूक्ष्म का भेद होता है । आकाश 'सूक्ष्म' और वायु 'भौतिक' पदार्थों में सूक्ष्म है । 'तेज' का रूप भी अधिक अमर होता है । 'उमके' 'तत्व' का बोध बढा है । निरूप होने के कारण वायु के तत्व का ग्रहण नहीं होता । आकाश सभी तत्वों से अधिक सूक्ष्म है । उससे तत्व और रूप दोनों का निरूपण बढा है । शब्द के गुण को हम आकाश का रूप मान सकते हैं । क्योंकि यदि जगत् का 'अमृत' सही है तो आकाश के आधार में ही 'अमृत' की अभिव्यक्ति होती है । अस्तुता 'अमृत' अपने ही अभिव्यक्ति करता है किन्तु 'उसकी यह' अभिव्यक्ति अपने आधार 'भूत तत्व' का भी भवेत् करता है । भौतिक तत्वों और रूपों की अपेक्षा मानसिक तत्व और उनके रूप अधिक सूक्ष्म होते हैं क्योंकि इनका ग्रहण 'इन्द्रियों' के द्वारा नहीं 'धरन् मन' के द्वारा होता है । 'दन्तों' के अनुसार इन्द्रियों की अपेक्षा मन अधिक सूक्ष्म है । इसी लिए इन्द्रियों से मन को 'पर' माना है । भौतिक तत्वों और रूपों का ग्रहण भी मन और इन्द्रियों के सहयोग से होता है । किन्तु इन्द्रियाँ ही 'मुख्यता' इनकी ग्राहक हैं । मन केवल इन्द्रियों का अनुग्राहक है । यद्यपि मन के अनुग्रह से ही इन्द्रियाँ विषयों के ग्रहण में समर्थ होती हैं फिर भी विषयों की विषयताओं का ग्रहण 'इन्द्रियाँ अपनी विषय' शक्ति के द्वारा ही करती हैं । उदाहरण के लिए जो लोग रंग देखते हैं तथा रंग देखने के कारण कुछ रंगों को (विशेषतः हरे और लाल रंगों को) ग्रहण कर अन्य रंगों से वृत्त नहीं कर पाते । जिस प्रकार भौतिक तत्वों के ग्रहण में मन का सहयोग होता है वैसे ही इन्द्रियों की प्रधानता होती है उसी प्रकार मानसिक तत्व और रूप के ग्रहण में इन्द्रियों का सहयोग होने पर भी मन की प्रधानता रहती है । जिन प्रकार भौतिक पदार्थों की विषयतायें इन्द्रियों के द्वारा ही ग्रहण की जाती हैं उसी प्रकार मानसिक तत्वों की विषयतायें भी मन अथवा 'बुद्धि' की शक्तियों द्वारा ग्रहण की जाती हैं । ये मानसिक तत्व भौतिक एवं ऐन्द्रिक उपकरणों में भी साकार हो सकते हैं फिर भी इनका स्वरूप मानसिक ही रहता है । भौतिक और ऐन्द्रिक उपकरण उनके निमित्त मात्र रहते हैं । उदाहरण के लिये भाषा को लीजिये । भाषा का मुखर अथवा लिपिबद्ध रूप इन्द्रिय ग्राह्य होने के कारण ऐन्द्रिक कहा जा सकता है । किन्तु उसका अन्तर्गत तत्त्व मानसिक ही होता है हम इसे अर्थ कहते हैं । अर्थमय तत्व होने के कारण यह अर्थ-मनोग्राह्य है । अर्थ का मन से सम्बन्ध होने के कारण तथा भाषा के रूप में अर्थ तत्व का सम्निधान होने के कारण अनुपपन्न के मस्तिष्क के विकास के साथ ही भाषा का विकास हुआ है । भाषा उस अर्थ

का बाह्य रूप है। इसी प्रकार चित्रकला आदि कलाओं के रूप में भी हम समय मात्र साक्ष्य आदि मानसिक तत्वों का प्रतिष्ठान मान सकते हैं। मनुष्य के अधिकांश व्यवहारों तथा उनकी अभिव्यक्ति रचनाओं में हम प्रकार के मानसिक अथवा तत्व का प्रतिष्ठान रहता है। सामाजिक और सांस्कृतिक गतिधाराओं में तथा काव्य साहित्य चित्र आदि की रचनाओं में हम मानसिक तत्व के स्पष्ट उदाहरण मिल सकते हैं।

हम विषय मानसिक तत्वों की अभिव्यक्ति भौतिक और ऐंद्रिय रूपधाराओं के निमित्त से भी होनी है। बाह्य रूप भी इस मानसिक तत्व का अवलम्ब बनना है। किंतु हमें निमित्त मात्र ही मानना चाहिये। तत्व की भाँति अभिव्यक्ति का मुख्य रूप भी विषय मानसिक अर्थात् मनोप्राप्त होता है। यद्यपि बाह्य रूपों के साथ ही मानसिक तत्व की कुछ प्रदुत संगति निश्चिन्ता होती है। यह समझ आती है कि तत्व और बाह्य रूप में किसी भी सामंजस्य का संकेत करती है जिसका विश्लेषण बटिने है। यह सामंजस्य निम्न प्रकार गति के साम्य की भाँति एवं गहन रहस्य है। अत्यंत रूप में यह सामंजस्य मानसिक तत्व के साथ मानसिक रूपों की तथा मानसिक रूप के साथ बाह्य रूपों की संगति के द्वारा समझ होता है। कला और काव्य के समझने के लिए मानसिक तत्व और उसकी अभिव्यक्ति के इन दोनों रूपों की समझना आवश्यक है। कला अपने विशेष रूप में रूपों की अभिव्यक्ति है। प्राकृतिक सत्ता में यह रूप की अभिव्यक्ति सहज होती है। मनुष्य के सांस्कृतिक व्यवहारों में यह अभिव्यक्ति रचना बन जाती है। रूप की अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य का रहस्य है। यह सौंदर्य प्राकृतिक सत्ता और सांस्कृतिक जीवन दोनों में मिलता है। सांस्कृतिक जीवन में यह सौन्दर्य कलात्मक रचना के रूप में प्रकट होता है। कला और सौंदर्य की सृष्टि है। सौन्दर्य रूप की अभिव्यक्ति है। रूप में सौंदर्य का रहस्य निहित है। इसीलिए भाषा के व्यवहार में रूप ही सौन्दर्य का पर्याय बना। अभिव्यक्ति रूप का सहज प्रथम है अनभिज्ञत रूप एवं प्रकार का व्यापक है। इस प्रकार समस्त प्राकृतिक सत्ता और मानवीय व्यवहारों को सुन्दर कहा जा सकता है। समस्त सत्ता चेतवान और रूपवान है तथा रंगवान होने के कारण सुन्दर है। यद्यपि हमें इस सौंदर्य का आभास सदा नहीं होता। विशेषतः प्रतिभाव के द्वारा रूप का अधिक स्फोट होने पर हमें सौंदर्य अधिक तीव्रता के साथ विभाषित होता है। रूप की विद्यमान अवस्था उसका प्रतिभाव कई प्रकार से प्रभावित होता है। रूप के परिमाण की अधिकता, उसकी

निरूपयोगिता उसरी व्यवस्था की योजना उसी निमित्त की जितना मात्र रूप की प्रगतिता व मुख्य मक्षण है। अतः बनामों में इहा के द्वारा सोदय निगतरता है। हृदय रूप तेज का गुण है। पूरा में यह तेज अधिक परिमाण में प्रकाशित होता है इसीलिए रूप गुण प्रतीत होने हैं। रग एक प्रकार से रूप व प्रतिगय ही हैं।

इसीलिए रगों के साथ हृदय सोदय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्वेत वर्ण की कांति भी आलोच के प्रतिमास के कारण सोदय की प्रकाशित करती है। उपयोगिता का अभाव भी रूप के प्रतिगय का कारण है। इसी लिए निरूपयोगी दृष्टिकोण होने पर ही प्राकृतिक पद्यों में सोदय दिखाई देता है। उपयोगिता का सम्बन्ध तत्त्व से होता है। रूप का उत्पत्ति लिए प्रायः महत्त्व नहीं होता। प्रायः उपयोगिता रूप की विनाशक होती है। भोजन में पाद्य पद्यों के रूप का विनाश कसबा एक सरा उदाहरण है। रूप की व्यवस्था की योजना रूप का विस्तार करती है। यों तो अल्पतम रूप में कुछ विस्तार होता है किन्तु चित्र फलक सध्या व क्षितिज काय के पाद अथवा रागीत के राग आदि में रूप की योजना का विस्तार स्पष्ट दिखाई देता है। रूप की व्यवस्था की योजना रग अथवा स्वर की तीव्रता की भांति एक ही रूप लण्ड के परिमाण का विस्तार नहीं है। हम योजना में रूप के अनेक विघ्न लण्ड के सामञ्जस्य से एक समग्र रूप का निर्माण होता है। यह समग्र रूप अवयवों का सङ्गठन मात्र नहीं है वरन् इनसे अतिरिक्त एक रूप का प्रतिगय है जो सम्पूर्ण योजना का गुण बन जाता है। इस दृष्टि से इस योजना में भी कुछ जटिलता रहती है। किन्तु ऐसी कई योजनाओं का सामञ्जस्य होने पर जटिलता का यह प्रतिगय अधिक सम्पन्न रूप में प्रकट होता है।

रूप की निरूपयोगिता रूप के परिमाण की अधिकता रूप की योजना रूप योजना की जटिलता आदि रूप के प्रतिगय के कुछ मुख्य प्रकार हैं जिनमें रूप के सोदय का उत्तरोत्तर प्रकट होता है तथा सोदय उत्तरोत्तर अधिक अथ अधिक प्रभावशाली बनता है। प्रकृति और कला दोनों के सोदय में हम इनके उदाहरण देख सकते हैं। प्रकृति के रूपों में वृक्ष वन लता पुष्प नदी निम्बर बादल बिजली उषा, सध्या आदि में हमें सोदय तभी दिखाई देता है जब कि इनकी ओर से हमारा दृष्टिकोण निरूपयोगिता का होता है इन्हीं पदार्थों से जब हमारा उपयोगिता का सम्बन्ध

हो जाता है तो हमारी दृष्टि में इनका सौंदर्य कम होने लगता है। इसीलिए घाम, घन उखन नदी, तट पर्वत आदि के निवासियों को इनमें इतना सौंदर्य दिखाई नहीं देता जितना कि इन क्षेत्रों में भ्रमण के लिए आने वाले पर्यटकों को प्रतीत होता है। उपयोगिता का सम्बन्ध रूप की अपेक्षा तत्त्व से अधिक होता है। इसीलिए उपयोगिता के दृष्टिकोण में हमारा ध्यान रूप की ओर से हट जाता है। तत्त्व रूप का आधार अवश्य है किन्तु सौंदर्य विनाश रूप में ही विभाजित होता है। प्रकृति के रंगीन रूपा में प्रकाश किरणों के प्रतिक्षेप के द्वारा रूप का परिमाण गत प्रकाश प्रकट होता है। भौतिक प्रकृति के क्षेत्र में पत्तों फूलों बादलों आदि में रूप के परिमाण का यह प्रकाश सौंदर्य के उत्कर्ष का कारण बनता है। भौतिक तथा अन्य प्रकृति के रूपों में योजना भी मिलती है। योजना इकाइयाँ की एक समग्र व्यवस्था है जो अज्ञान के साथ साम्य के द्वारा सौंदर्य का विधान करती है। एक पत्ते और एक फूल की बनावट में भी यह योजना रहती है। सम्पूर्ण वृक्ष उपवन घन वनानि आदि में अनेक योजनाओं की जटिलता सौंदर्य को समृद्ध करती है। कलाओं में संगीत नृत्य चित्र काव्य आदि कलाओं में भी सौंदर्य की यह श्रेणियाँ मिलती हैं। कला सौंदर्य की रचना है। यह रचना मुख्यतः रूप का ही विधान है। प्राकृतिक अवस्था भौतिक तत्वों की सृष्टि मनुष्य का अधिकार नहीं है। भौतिक और प्राकृतिक निर्माणों में भी वह निसर्ग से प्राप्त तत्वों के आधार पर रूपों का ही रचना करता है। मानसिक तत्व जिन कलाओं का उपादान बन जाता है उन कलाओं में निःसंदेह मनुष्य की रचना गोलता बढ़ जाती है। मनुष्य भौतिक तत्व की महीन रचना नहीं कर सकता किन्तु मानसिक तत्वों का अतिरिक्त उद्भावना उसकी सामर्थ्य का प्रतीक है। इन कलाओं में तत्व और रूप दोनों की दृष्टि से मनुष्य का कृतृत्व अधिक होने के कारण कला की रचनात्मकता बढ़ जाती है। कलाओं में उपयुक्त होने वाले भौतिक तत्वों के विविध रूप का निर्माण में कलाकारों का जितना उद्योग होता है उतनी ही उनकी कलात्मकता अधिक मानी जाती है। प्राचीन चित्रकार और कुछ नवीन चित्रकार भी रंगों का निर्माण स्वयं अपने हाथ से करते थे। साँवों का गठानना भी संगीतकार की कलात्मकता का प्रग है। उड़ी प्रकार देव की सजा नृत्यकार की कला में अभिन्न है। पश्चिम जातियों का सोफा नुर्मों की नूपा में यह कलात्मकता अधिक मिलती है। वाद्य के भौतिक उपकरण सब से कम हैं। गान का सूक्ष्म और निष्प तत्व उसका आधार है। गान में प्रपञ्च समवत रहने के कारण वाद्य के तत्व और

रूप परस्पर समवेत रहते हैं। मुख्य, सगीत चित्रकला और वाङ्मय में मान। तब तब वा योग उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इस प्रकार उभय रचना। समष्टि भी बढ़ती जाती है। मात्र का अवलम्बने पर सगीत वाङ्मय के अधिक-उ निबद्ध था जाता है किन्तु सत्य की रचना की दृष्टि-म वाङ्मय में रचनात्मकता उ सरल, अधिक-होती है। सगीत मुख्य प्रादि कलाओं में सौन्दर्य की प्रशंसा का कारण, इन कलाओं में रूप की विपुलता और रूप की रचनात्मकता का कारण। इन कलाओं में भी प्रचुर सौन्दर्य का समिधान रहता है।

यूनाधिक रचनात्मकता के साथ निरूपयोगिता परिमाण की वृद्धि योजना जटिलता प्रादि का-मोदय इन सभी कलाओं में मिलता है। इन सभी कलाओं में जिस रूप का समिधान होता है वह प्रबलत उपयोगी नहीं होता। कलाओं का विकास प्राकृतिक उपयोगिता की प्रेरणा से नहीं हुआ है। प्राकृतिक उपयोगिता से रहित होने का कारण कलाओं के रूपों को प्रतिगम कहा जा सकता है। उपयोगिता से इन रूपों का सम्बन्ध बनाया जा सकता है किन्तु उपयोगिता से प्रेरित होकर इनकी रचना नहीं होती। परिमाण एक प्राकृतिक अवस्था भौतिक कोटि है। अतः उन कलाओं में ही रूप के परिमाण की अधिकता सौन्दर्य का कारण बनती है जिनके रूप का प्राधान्य प्राकृतिक सत्य रहते हैं। चित्रकला में रंगों के रूप में मुख्य में अधिक गति के रूप में तथा सगीत में गान सतान के रूप में परिमाण का यह प्रतिपक्ष मिलता है। सगीत के स्वर विधान में परिमाण का यह विस्तार ही कलात्मक योजना की भूमिका है। स्वर के इसी विस्तार से लय राग प्रादि का निर्माण होता है। सगीत के आलाप तान प्रादि में स्वर के परिमाण का विस्तार अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है। वाङ्मय में गान का आधार अवलम्ब रहता है किन्तु गान के परिमाण का विस्तार सगीत की भाँति उसके स्वरूप का विधायक नहीं है। वाङ्मय में प्रत्येक वचन की निश्चित मात्रा होती है। इस मात्रा का विस्तार वाङ्मय में अपेक्षित नहीं होता। सांस्कृतिक के पादात के अतिरिक्त ह्रस्व का दीर्घ उच्चारण भी लौकिक भाषाओं में अपवाद के रूप में मिलता है। बहिक मात्रों में स्वर का कुछ विस्तार वाङ्मय में सगीत का समान हो जाने के कारण मिलता है। बहिक भाषा में तुल्य स्वर भी हैं। लौकिक भाषाओं में वचनों की ह्रस्व और दीर्घ दो ही मात्राएँ हैं। वज्रभाषा प्रादि में इन मात्राओं का ही कुछ विपन्न भले ही मिले किन्तु सगीत के समान स्वर का समन्वय वाङ्मय के स्वरूप का विधायक नहीं है। वाङ्मय के सामान्य माध्यम के कारण जहाँ यह स्वर का सतान उत्पन्न होता है वही वाङ्मय में सगीत का

उदय होने लगता है। 'रामचरितमानस' तथा हिन्दी के पद गीत आदि संगीत के सीमावर्ती कार्यों का उदाहरण है। निरूपयामिता की भाँति योजना सभी कलाओं का सामान्य सदृश है। मानसिक तत्वों से निर्मित कलाओं में भाव और रूप के समवेत रहने के कारण योजना भी दोनों में समवेत रहती है। किसी सीमा तक इन कलाओं का रूप भी मानसिक कहा जा सकता है। ऐनक रूप की योजना की तुलना में मानसिक रूप और योजना का विद्वेषण और व्याख्यान बठिन है। भाव और रूप दोनों की दृष्टि से सबसे अधिक मानसिक होने के कारण काव्य की कला सबसे अधिक आध्यात्मिक है।

मानसिक तत्व दो प्रकार का होता है। एक तो हम ज्ञान और दूसरे को भाव कह सकते हैं। यही भाव से अभिप्राय चेतना आत्मा अथवा मन की उस वृत्ति से है जो सामान्यतः दूसरा के प्रति प्रेम का रूप में व्यक्त होती है। प्रेम, भक्ति आदि का प्रथम इस अर्थ में भाव का प्रयोग साहित्य और व्यवहार दोनों में होता है। इसे भावना भी कह सकते हैं। चित्तु दुःख, द्वेष क्रोध आदि मानसिक अवस्थाओं भी मनोविज्ञान में भावना कहा जाता है। दुर्भाव और सद्भाव का विनिष्ट रूप में व्यवहार करने पर सभी मानसिक वृत्तियाँ भाव अथवा भावना के अंतर्गत आ जाती हैं। हर्ष भाव का प्रयोग यहाँ बस सद्भाव का सीमित अर्थ में प्रयोग है। इस सद्भाव का आधार समात्मभाव है। अथवा स मुक्त मनोवृत्तियों का निर्दोष भाव अथवा भावना के विनिष्ट प्रयोग के द्वारा दिया जाता है। भाव का सीमित प्रयोग बस साम्यमूलक मनोवृत्तियों के लिए दिया जाता है। भाव विमोह भावानुल आदि पदों में इस प्रयोग के उदाहरण मिलते हैं। जो दुर्भाव काव्य का विषय बनते हैं, वे साक्षात् जीवन में समात्मभाव का अन्वय करते हैं। किन्तु काव्य में कवि और पाठक की ओर से उनका ग्रहण समात्मभाव की भूमिका में ही होता है। कवि के दुर्भाव से पीड़ित होने पर काव्य की रचना नहीं हो सकती और पाठक उससे पीड़ित होने पर काव्य का रसास्वादन नहीं कर सकता। भारतीय काव्य शास्त्र में भय शोक, जुगुप्सा आदि की विवर्तिता और अथवा भूतक भावनाओं की रस का आधार (स्थायी भाव) माना गया है। इन्हीं भावनाओं के अनुसंधान का नाम करण भी दिया गया है किन्तु काव्य शास्त्रों में यह स्पष्ट नहीं दिया गया कि साक्षात् जीवन की तुलना में काव्य में इन भावनाओं का ग्रहण किस स्थिति में होता है। वह जीवन की स्थिति से किस प्रकार भिन्न है। रसों का भावानुरूप नामकरणों से प्रगट होता है कि इस प्रकार का कोई भेद भावनाओं की धारणा में स्पष्ट नहीं रहा।

ये जीवन और काव्य की स्थिति की समान समझते रहे इसीलिए मूलपात्रों, नटा और सामाजिकों में रस के समान अनुभूति की समस्या काव्य शास्त्र की मोमांसा का विषय बनी रही।

किन्तु काव्य का सरल तत्त्व यह है कि काव्य और साक्षात् जीवन की स्थिति में कुछ अन्तर है। जीवन में सत् और असत् दोनों प्रकार के भावों के लिए स्थान है क्योंकि जीवन आत्मा और प्रकृति दोनों की प्रेरणाओं से संचालित होता है। किन्तु काव्य एक सांस्कृतिक कर्म है। प्रकृति उसका प्रवलम्ब और उपकरण बन सकती है। किन्तु काव्य और कला की मूल प्रेरणा आत्मिक है। समात्मभाव की मौलिक प्रेरणा से कला और काव्य की रचना प्रेरित होती है समात्मभाव के आधार पर भावित होने के कारण वषम्य मूलक भावनाओं का ग्रहण भी साम्य की एक भिन्न स्थिति में समाहित होना है। यह जीवन और काव्य की स्थितियों का एक महत्वपूर्ण अन्तर है। समात्मभाव एक सत् और सत् भाव है। इस प्रकार काव्य में ग्रहीत असत् भावों की भूमिका भी सत् बन जाती है। काव्य और कला के स्वरूप में ही शिवत्व का समवाय है। असद् भावों के प्रसंग में इकट्ठे होने पर भी साम्य का सद्भाव अधिक तीव्र हो जाता है। सद्भावों के प्रसङ्ग में वह द्विगुणित होकर सघन और समृद्ध बन जाता है। इस प्रकार ऊपर निविष्ट सीमित अर्थ में ही भाव काव्य का तत्त्व बनता है। जीवन से भिन्न केवल काव्य का प्रसंग होने के कारण हमने इस सीमित अर्थ में ही 'भाव को काव्य का तत्त्व माना है। यह भाव सामान्य समात्मभाव का ही एक विशेष रूप होता है। यो कह सकते हैं कि भाव के रूप में सामान्य समात्मभाव किसी विशेष सद्भाव के रूप में यत्न होता है।

यह विशेष सद्भाव जीवन के विशेष सब धो अथवा उसकी विशेष परिस्थितियों में मूल होता है। किन्तु उसका सामान्य रूप समात्मभाव के ही अनुरूप रहता है। आत्मामो का जो साम्य विस्तार और उत्थान सामान्य समात्मभाव में रहता है वही विशेष सद्भावों को भी आलोक्ति करता है। पौराणिक भाषा में हम काव्य के तत्त्व के रूप में ग्रहीत भाव को समात्मभाव का साधारण अवतार कह सकते हैं। भगवान के अवतारों की भाँति इस अवतार में भी आत्मा की विभूति विषय रूप में मूल होती है।

ज्ञान चेतना का उदासीन रूप है जो विषय अथवा तत्त्व की अवगति में प्रवाहित होता है। ज्ञान और भाव में कुछ ऐसा ही अन्तर है, जसा कि

सफ़े तथा सय रंगों में। 'भाव' आत्मा का रजित रूप है जिस प्रकार सफ़े तथा सय रंगों में समान रूप से सूर्य का आलोक प्रकाशित होता है। उसी प्रकार ज्ञान और भाव दोनों में एक ही आत्मा का चतुर विभासित होता है। किन्तु ज्ञान में उस आलोक की प्रभा सफ़े रंग के समान वीरिय रहती है। भाव में आत्मा का आलोक विचित्र और रजित रूपों में युक्त होता है। प्रकृति के रंगों की भांति आत्मा के भाव भी कला और वाक्य के सौन्दर्य की विभूति बनते हैं। ज्ञान की अवगति चेतना के मुकुट में विषया का ही ग्रहण है। बौद्धिक भूमि में प्रत्यक्षों का स्थान प्रत्यय ले लेते हैं। इन प्रत्ययों के सम्बन्ध से विचार बनते हैं। किन्तु प्रत्यक्ष प्रत्यय और विचार दोनों में ही ज्ञान की अवगति स्वल्प उदासीन रहती है। वह चेतना की सरलतम प्रक्रिया अथवा प्रतिक्रिया है। ज्ञान और विचार के प्रसंग में होने वाले भ्रम दर्शन की पहलियाँ हैं किन्तु सामान्यतः ज्ञान स्थूल अथवा सूक्ष्म विषया का उद्भव ग्रहण है। स्थूल विषय भौतिक और बाह्य होते हैं। सूक्ष्म विषय मानसिक होते हैं। किन्तु सूक्ष्मता अथवा यथायथा सभी रूपों में ज्ञान का लक्षण है। मनुष्य और चेतना भी ज्ञान के विषय बन सकते हैं किन्तु जब ये ज्ञान के विषय बनते हैं तब ये भाव उत्पन्न नहीं करते। इनका ज्ञान भी अय विषया के ज्ञान की भांति उदासीन ही रहता है। ज्ञान की उदासीनता की सीमा यह है कि भाव का विद्वेषण और विचार भी उदासीन बन जाता है। यह उदासीनता ही ज्ञान की वचनिकता की बमोटी है। भाव का सारल्य होते ही ज्ञान अवचनिक बन जाता है। ज्ञान भी यद्यपि आत्मा का ही प्रकाश है किन्तु ज्ञान के इस उदासीन रूप में आत्मा का पूर्ण प्रकाश नहीं होता। आत्मा का सर्वातीत भाव एक तटस्थता के रूप में ज्ञान में अवश्य प्रकट होता है। सर्वातीत भाव के अतिरिक्त सर्वाङ्गतत्व से लक्षित जो समात्म भाव आत्मा की पूर्णता का लक्षण है उसकी अभिव्यक्ति ज्ञान में भाव व्यक्त नहीं होती। उसका अभिव्यक्ति होते ही ज्ञान भी भाव बन जाता है। उपनिषदों और गीता के आध्यात्मिक उपदेशों में ज्ञान का यह रूप मिलता है। किन्तु इसी कारण उपनिषद् और गीता वाक्य के अधिक निष्कट माने जाते हैं। ज्ञान की इस उदासीनता का कारण उसकी एकाग्रता अथवा एक पक्षिता है। विषयों की चेतना के अधिष्ठान में स्थूल अथवा सूक्ष्म विषया का प्रतिबिम्ब ही ज्ञान है। ज्ञान में ग्रहीत विषय चेतना में प्रतिक्रिया अवश्य उत्पन्न करते हैं। किन्तु प्रायः विषयों के जड़ होने के कारण अथवा जड़ रूप में ग्रहीत होने के कारण इस प्रतिक्रिया में

पारस्परिकता नहीं होती। यह प्रतिक्रिया एक प तीव्र होती है, और विषयी की चेतना के अधिष्ठान में ही घटित होती है मानों विषय द्रव्य ज्ञान से घट्ट घना रहता। ज्ञान की उस उदासीनता का एक कारण विषयी की निष्क्रियता और उनकी जड़ता अथवा उनका जड़त्व ग्रहण है। ज्ञान और भाव में एक मुख्य भेद यह है कि ज्ञान में बहुकारण्य के प्रजापति की भाँति विषयी की चेतना के एकांत भाव के कारण उदासीनता रहती है। धेतनाभा के पारस्परिक सम्वाद के फलस्वरूप भाव में इसके विपरीत उत्पन्न रहता है। भाव के फल उत्पन्न में ही सौंदर्य और आनन्द उदित होते हैं।

ज्ञान के यथाय की हम सत्य कह सकते हैं। सत्य की धारणा में कुछ ऐसी ही उदासीनता और कठोरता रहती है जसी कि यथाय से लक्षित होती है। यह सत्य का उदासीन और निरपेक्ष रूप है जिसमें शिव और सुन्दर का भाव सम्मिलित नहीं हैं। आत्माओं के पारस्परिक अनुपवेश और साम्य से युक्त भाव शिवम् कहा जा सकता है। ज्ञान और भाव के नाम से चिन्मय मानसिक तत्त्व का ऊपर हमने जो विवेक किया है वह बहुत कुछ सीमा तक सत्य और शिवम् के भेद के अनुरूप है और उनके भेद को प्रकाशित करता है। इस प्रसंग में रूप की हम सुन्दरम् कह सकते हैं। भौतिक और मानसिक दोनों ही प्रकार के तत्वों का सौंदर्य उनके रूप में ही अभिव्यक्त होता है। दृश्य रूपों का सौंदर्य इन्द्रिय गम्य होने के कारण सुगम होता है यद्यपि दृश्य रूपों का सौंदर्य भी पूर्णतः ऐन्द्रिक नहीं होता फिर भी इन्द्रियों की क्रिया उसने मानसिक ग्रहण में योग देती है और उसे सुलभ बनाती है। चित्रकला मूर्तिकला नृत्यकला आदि के ऐन्द्रिक रूपों में प्रायः मानसिक तत्त्व और रूप का समवाय रहता है। मानसिक तत्त्व और रूप स्वयं एक दूसरे में समवेत रहते हैं। भक्त प्रायः कलाकृतियों में चतुर्विध तत्वों और रूपों का समवेत समवाय रहता है। ऐन्द्रिक रूपों के भी अनेक पक्ष होते हैं। लय योजना अनुपात आलोक सन्तुलन सामञ्जस्य आदि की चर्चा कलाओं की आनाचनाओं में रहती है। यह ऐन्द्रिक रूप के ही विविध पक्ष हैं। गान का सूक्ष्म रूप ऐन्द्रिक होते हुए भी विलक्षण है। गान के सूक्ष्म माध्यम में सत्तान की सम्भावना प्रायः ऐन्द्रिक रूपों की अपेक्षा सबसे अधिक रहती है। दृश्य रूपों की लय रूप की इकाइयों का संयोजित विस्तार है। रूप की योजना में गान इकाइयों का पूर्ण विलय नहीं होता। दृश्य रूपों की लय इन इकाइयों के प्रतिरिक्त एक समग्र योजना है जो रूप के प्रतिपाद का एक श्रेष्ठतर प्रकार है। दृश्य चरों के दिकगत विस्तार में एकरूपता होने पर ही इकाइयों का

विलय हो सकता है अथवा इकाइयों के अनक न्यून पर इस समग्र योजना के प्रतिपक्ष के रूप में ही तय की कल्पना की जा सकती है। किन्तु यह एक कालगत रूप है। पूर्वक्षण का तय काल का गति का सहज और अनिवार्य क्रम है। प्राकृतिक व्यवस्था की दृष्टि से यह तय ही काल का नग्न है। इसीलिए काल को विनाश और मृत्यु का पर्याय मानकर कृतान्त की स्थापना गढ़। तय का मूल अथ विलय अथवा विनाश ही है किन्तु मनुष्य की चेतना में स्मृति के द्वारा विलीन काल क्षणों का धारण भी सम्भव होता है। यह धारणा विनाश के गढ़ से विलीन क्षणों का उद्धार कर तब प्रमृत्त भाव में उन्हें उस तय में सजोती है जो कला का मूल बन गयी है। इस कलात्मक तय का बीज संगीत में है क्योंकि संगीत का रूप पर प्रभावित होने के कारण कालगत रूप की रचना है। स्वर विधान संगीत का रूप है। संगीत के इस रूप में पूर्व स्वरों का कालक्रम में विलय भी होता है और स्मृति के द्वारा चेतना में उनका धारण भी होता है। इस पूर्व विनय के कारण स्वर की इकाइयाँ दृश्य रूपों की इकाइयों की भाँति भिन्न नहीं रहती, बरन् स्वर की समग्र योजना में विलय हो जाती है। विलीन स्वरों के मूल में सत्कार इस समग्र योजना में समाहित होकर उत्तार चढ़ाव का एक ऐसा क्रम बनाते हैं जो संगीत में तय का नाम से प्रतिष्ठित है। इकाइयों की योजना को व्यक्त करने के लिए प्रायः कलाकारों ने संगीत से ही तय का अनुग्रहण किया है। संगीत की इस तय के सजन और ग्रहण में मन का योग होने के कारण संगीत के रूप में ध्यान का माध्यम के ऐंद्रिक होते हुए भी बहुत कुछ मानसिकता भी पायी है। भारतीय दर्शनों में ध्यान की ब्रह्म स्वरूप तथा सुखर एवं ऐंद्रिक ध्यान के प्रतिरिक्त ध्यान की प्रायः भ्रान्तरिक कीटिया उसकी इसी मानसिकता के कारण मानी जाती हैं। स्वर क्रम के कालगत होने के कारण संगीत का स्वर विधान एक प्रवाह बन जाता है। पूर्व स्वरों के इस स्थूल रूप के इस प्रवाह में विलीन हो जाने के कारण उनके सूक्ष्म सत्कार कलात्मक तय की समग्र योजना को प्रसर बनाते हैं। स्वर का सन्तान इस तय का विस्तार करता है। विलय और तय की इस सम्भावना के कारण ही स्वरों की इकाइयों का प्रसार सतान का रूप ग्रहण करता है। बर्णान्वित दृष्टि से स्वर सहस्रियों की गति का भेद ही सप्त स्वरों का निर्माण करता है। सात रंग भी एक ही प्रकाश के विच्छुरित रूप हैं। फिर भी उनमें स्वरों की प्रान्ता वम साम्य और अधिक वगम्य शिवाई देता है। स्वर का मौलिक एकत्वता के कारण स्वर सतान के रूप में तय का प्रतिपक्ष संगीत का कला में अधिक मौलिकता से प्रकट होता है। काव्य

तथा भाषा के अर्थ रूप भी शब्द के माध्यम से निर्मित होता है। उनसे तुलना करने पर स्वर सन्तान के रूप का अतिरिक्त अर्थ स्पष्ट हो जाता है। जिन्हें शब्द अथवा स्वर की मात्राएँ कहते हैं वे सगीत में वाच्य अथवा भाषा से भिन्न होती हैं। भाषा में बेयस ह्रस्व और दीर्घ स्वर के दो भेद होते हैं। किन्तु सगीत में मात्र मध्यम और तार के अतिरिक्त स्वरों में शुद्ध और कोमल के भेद होते हैं। भाषा के एक ह्रस्व अथवा दीर्घ एक ही स्वर का अवलम्ब लेकर सगीत में जब अनेक स्वरों की परम्परों का प्रयोग होता है तो स्वर सन्तान के रूप का अतिरिक्त शाब्दिक भाषा की तुलना में स्पष्ट हो जाता है। आलाप और तान में यह सन्तान और रूप का अतिरिक्त प्रखरता से प्रकट होता है। इस सामान्यतः यह सगीत के समस्त स्वर विधान में व्याप्त रहता है।

स्वर सन्तान के रूप का अतिरिक्त अपनी सयगत मौलिक विशेषताओं के कारण सगीत को अर्थ कलाओं से विलक्षण बना देता है। रूप की इकाई और योजना का ऐसा महान सामञ्जस्य अर्थ कलाओं में दुर्लभ है। नृत्यकला की गति का रूप दृश्य होते हुए भी सगीत के स्वर रूप की भाँति कालगत होता है। अतः नृत्य कला के रूप का अतिरिक्त भी सगीत के रूप के अतिरिक्त बहुत निकट आ जाता है फिर भी इकाइयों के प्रसार की अपेक्षा यह अतिरिक्त योजना के रूप में ही प्रमुख रहता है। सगीत में इकाई के प्रसार और योजना का ऐसा अद्भुत साम्य मिलता है जसा कि अर्थ किसी कला में दुर्लभ है। एक रंग की चित्रकला तथा मूर्तिकला में इस सामञ्जस्य का कुछ आभास मिलता है। किन्तु इनमें रूप की इकाइयों में विविधता कम हो जाती है। बहुरंगी चित्रकला में यह विविधता रहती है। इस विविधता में सौन्दर्य का रूप निखरता है किन्तु दूसरी ओर रूप की इकाइयाँ कुछ अधिक विविक्त हो जाती हैं तथा रूप के प्रसार का अतिरिक्त योजना में ही अधिक प्रकट होता है। उपयोगिता की दृष्टि से तो सभी कलाओं के रूप को अतिरिक्त कहा जा सकता है किन्तु स्वरूप के प्रसार का अतिरिक्त तथा योजना के अतिरिक्त के साथ उसका साम्य जितना अधिक सगीत में मिलता है उतना अर्थ कलाओं में सम्भव नहीं। कलाओं के स्वरूप में ऊपर जिन भेदों का विवेचन किया गया है वे उनके माध्यमों के स्वरूप पर अवलंबित हैं। इन भेदों के कारण यदि कोई कला अर्थ कलाओं से थोड़ा भी ठहरती है तो उसकी ये अदृष्टता सापेक्ष ही है। अर्थ कलाओं में भी अपनी अपनी विशेषताएँ हैं जो उन्हें अदृष्ट बनाती हैं। कलाओं के माध्यमों और कला के स्वरूपों की विविधता अतः कला और

जीवन के समग्र सौन्दर्य की वृद्धि है। रूप के प्रतिपाद के प्रतिरिक्त रूप की विविधता ही प्रत्येक कलाकृति में सौन्दर्य की योजना बनाती है। विविध कलाओं के माध्यमों और रूपों की भौतिक विविधता सौन्दर्य की ओर बढ़ाती है।

माध्यम के रूप के प्रतिपाद के प्रतिरिक्त योजना अभिव्यक्ति भाव आदि के प्रतिपाद कलाओं के सौन्दर्य की समृद्ध और सम्पन्न बनाते हैं। योजना प्रमुखतः रूप की इकाइयों की व्यवस्था है। किन्तु रूप और तत्त्व अभिन्न हैं। अतः रूप की योजना के साथ तत्त्व की व्यवस्था भी घना पास हो जाती है। कुछ सीमा तक रूप को तत्त्व की व्यवस्था की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। भौतिक उपकरणों के प्रयोग में तो यह बहुत सत्य है। भौतिक जगत में रूप और तत्त्व का सम्बन्ध अनिवार्य ही नहीं बहुत कुछ नियत भी है। नियत होने के कारण तत्त्व की व्यवस्था में मनुष्य का अधिकार और कृतृत्व कम है। जो कलाओं भौतिक उपकरणों पर अवलम्बित हैं उनमें मुख्यतः रूप की योजना ही प्रधान रहती है। इसी में कलाकार का मुख्य कृतृत्व रहता है। रूप में समवेत रहने के कारण तत्त्व इस योजना का अनावश्यक अनुसरण करता है। मूर्तिकला में इसका अधिक स्पष्ट उदाहरण मिलता है क्योंकि उसका माध्यम सबसे अधिक स्थूल है। संगीत की कला का माध्यम वायु अवयव है किन्तु मनुष्य रूप के साथ साथ वायु के तत्त्व की भी सृष्टि करता है। संगीत का रूप वायु के तत्त्व में सदा समवेत नहीं रहता। इस रूप की रचना के साथ साथ सगातकार उसमें समवेत वायु तत्त्व की भी साथ-साथ रचना करता है। कलाकार का कृतृत्व अधिक होने के कारण संगीत अधिक सृजनात्मक कला है। वायु के सूक्ष्म तत्त्व के कारण रूप और तत्त्व का साम्य भी उसमें अधिक घनिष्ठ होता है। इन सभी कलाओं में मानसिक भाव तत्त्व का समवाय भी समभव है और प्रायः रहता है। यह मानसिक तत्त्व पूर्ण रूप से कलाकार का कृतित्व है। ज्ञान के मानसिक तत्त्व में तत्त्व और रूप दोनों के प्रति कलाकार का कृतृत्व कम रहता है। इसीलिए कला के सौन्दर्य में ज्ञानतत्त्व का समवाय भयवा ज्ञान तत्त्व को ग्रहण कर सौन्दर्य का गृहण घटित होता है। ज्ञान के तत्त्व और रूप दोनों में गृहण की भयवा ग्रहण अधिक रहता है। भौतिक तत्वों की शक्ति बिरने हो करती है। ज्ञान की अभिव्यक्ति के रूप भी भाषा की परम्परा में बहुत कुछ रुढ़ हो जाते हैं। भाव तत्त्व और उसकी अभिव्यक्ति के रूप में कलाकार का कृतृत्व अधिक रहता है। अतः यह ही कला की स्पष्ट भूमिका बनाते हैं। भाव और रूप में समवत हावर ही ज्ञान

कला का उपागम बताया है। भाव का संगण कुछ सामान्य होता है किन्तु भावों में कुछ विलक्षणता रहती है जो उसी विविधता की बहाली है। वस्तुत्व की स्वतन्त्रता के कारण भाव की अभिव्यक्ति के रूप स्तर से भी अधिक विपुल होते हैं। यहाँ विविधता कमारमन सौन्दर्य के साथ भाव की श्रेष्ठतर संगति का रहस्य है।

इसीलिए सभी कलाओं में मानसिक तत्व तथा विंग रूप से भाव का प्रहण अधिक होता है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से भाव सौन्दर्य के अधिक निकट है। ज्ञान के तत्व में यथायता का अनुरोध रहता है। यह यथायता ज्ञान का स्पष्ट लक्षण है। यथाय की अभिव्यक्ति अभिधा के द्वारा होती है। अभिधा में भाव और तत्व के 'यूनतम परिमाणों का साम्य रहता है। इनमें भी रूप की 'यूनता अभिधा का प्रथम लक्षण है। क्योंकि अभिधान का सम्बन्ध अभिव्यक्ति के रूप से ही है। 'यूनतम रूप में तत्व की अभिव्यक्ति को हम अभिधान का लक्षण कह सकते हैं। दूसरे अभिधान सरल और स्पष्ट भी होता है। उसमें भ्रमिमा और संकेत नहीं होते। ऋजु और मरुप रूप के द्वारा तत्व का अनावरण अभिधान का उद्देश्य है। किन्तु भाव का अनावरण कठिन है। उसका संकेत ही किया जा सकता है। वस्तुतः भाव की अभिव्यक्ति एक ऐसे मरुदय रूप में होती है कि उसे संकेत कहना भी अधिक उचित नहीं है। लक्षणा और व्यञ्जना की शक्तियों में भाव की अभिव्यक्ति के इस रूप का कुछ आभास मिलता है। अभिव्यक्ति के इस रूप में रूप का अतिशय अधिक स्फुट रूप में लक्षित होता है। यह रूप का अतिशय ही सौन्दर्य को समृद्ध करता है। भाव का अतिशय इस समृद्धि में योग देता है। वस्तुतः भाव स्व रूप से ही चेतना का अतिशय है। वह ज्ञान की भाँति यथाय नहीं उसमें और अधिक अतिशय उदित होने पर वह और भी अधिक समृद्ध हो जाता है। भाव और व्यञ्जना के रूप का यह अतिशय सभी कलाओं में मिलता है। 'तद के साथक और समर्थ साध्यम के कारण काव्य में भाव और रूप का यह अतिशय प्रचुरता से मिलता है। भाव का अतिशय उन पारस्परिक मानवीय संबंधों में उदित है जो समात्मभाव की भूमिका में प्रतिष्ठित होकर समात्मभाव को साकार और सम्पन्न बनाते हैं। भाव के अतिशय की अभिधा के सीमित अर्थ से विविक्त करने के लिए हम धारूति कह सकते हैं। धारूति अर्थ का अनिश्चित अर्थ है जो स्वरूपतः अनुक्त होने पर भी रूप की शक्ति से लक्षित होता है। धारूति का यह अतिशय केवल अनुक्त ही नहीं वरन् बहुत कुछ अनिवार्य भी होता है। वह अनिहित ही नहीं बहुत कुछ अनिवार्य भी होता है। लक्षणा और व्यञ्जना

अभिव्यक्ति के रूप का केवल ऐसा प्रतिगम नहीं है जो विलास मात्र हो । बहुत कुछ अंग में भाव के अनिवार्य प्रतिगम के कारण आवश्यक है । व्यञ्जना केवल ऐसी आकृति का प्रपञ्च नहीं है जिसका अर्थ अविधान समझ है । ऐसा होने पर व्यञ्जना आवश्यक न होकर विलास बन जायगी । काव्य शास्त्रों में अभिधेय आकृति के प्रपञ्च के रूप में ही सशृङ्खल और व्यञ्जना की व्याख्या की गई है । किन्तु यह सशृङ्खल और व्यञ्जना का वह रूप है जो अतन्त्र अभिधा के समकक्ष है । लक्षित और व्यञ्जित आकृतियों का अभिधान समझ है । यह अभिधान ही साहित्य की व्याख्याओं और आलोचनाओं का लक्ष्य है । आधुनिक युग में पश्चिम के प्रभाव से प्रचलित होने वाली आलोचना भी लक्ष्य और व्यञ्ज की आकृतियों को अभिधेय बनाने की अपराधीनी है । अतन्त्र आकृति का सम्पन्न मन पूरित अभिधेय नहीं है । आकृति की इसी अनभिधेयता में भाव-तत्त्व का वह मन निहित रहता है, जो रूप के प्रतिगम के द्वारा लक्षित और व्यञ्जित होता है । शब्द के साधक माध्यम के कारण काव्य का रूप शब्दों की आकरणगत योजना के अनुरूप होता है । किन्तु काव्य गत आकृति की आपागत अभिव्यक्ति भाषा के आकरणगत रूपों की अपेक्षा अधिक विविध और विचित्र होती है । अभिव्यक्ति के इस रूप की विविधता और विचित्रता रूप की विपुलता से काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाती है । अर्थ के समवाय के साथ साथ शब्द का माध्यम संगीत के स्वर के समान सुन्दर भी है । काव्य की ध्वनि योजना में संगीत की स्वर योजना की अपेक्षा ध्वनि का सन्तान कम रहता है फिर भी वह गद्य की अपेक्षा अधिक होता है । इसने अतिरिक्त काव्य की ध्वनि योजना में एक सय होती है जो इसी सन्तान से निमित्त होता है । यह सय भी संगीत की अपेक्षा कम किन्तु गद्य की अपेक्षा अधिक होती है । यह सय भी एक प्रकार का रूप का प्रतिगम है जो अभिव्यक्ति के रूप के प्रतिगम में योग देकर उसे समृद्ध बनाता है । भाव का प्रतिगम से समवेत होकर यह रूप के अतिशय काव्य की एक अत्यन्त सम्पन्न और समग्र कला बनाते हैं । भाव की आकृति के अतन्त्राधान और संगीत के साथ काव्य के कारण हम काव्य की आत्मा का सुन्दर संगीत कह सकते हैं । संगीत की सय और व्यञ्जना के समग्र रूप के द्वारा आत्मा के अनिवार्य अतन्त्राव काव्य में एक रहस्यमय विधि से व्यञ्जित होते हैं ।

अध्याय ६

साहित्य और काव्य

साहित्य का प्रयोग प्रायः एक व्यापक अर्थ में किया जाता है। सबसे अधिक व्यापक अर्थ में तो साहित्य को वाच्य का प्रयोग माना जाता है। वाच्य के रूप में जो कुछ भी मिसला है वह सभी साहित्य है। प्राचीन काल में तो इस व्यापक साहित्य के अन्तर्गत काव्य नाटक व्याकरण कीव आर्योद्देश दर्शन आदि की गणना की जाती थी किन्तु आज के औद्योगिक युग में व्यावसायिक विज्ञापन की पुस्तकें भी साहित्य के अन्तर्गत गिनी जाती हैं। वे भाषा के शब्दों में लिखी जाती हैं इसलिये वे वाङ्मय के अन्तर्गत हैं। वाङ्मय (वाच्य) होने के कारण यह भी साहित्य है।

किन्तु वाङ्मय को साहित्य का पर्याय मानना उचित नहीं है। वाङ्मय वाच्य के रूप में अवश्य होता है, किन्तु उसमें वाच्य की अपेक्षा अर्थ का महत्व अधिक होता है। अतः उसे अर्थमय कहना उचित है। किन्तु वाच्य का अर्थ भी वाच्य के रूप में साकार होता है। इसलिये उसे वाङ्मय कहा जाता है। फिर भी वाच्य उसका साध्य नहीं होता। वाङ्मय का साध्य अर्थ ही है, यद्यपि उस अर्थ की अभिव्यक्ति वाच्य के द्वारा ही होती है। व्यावसायिक विज्ञापनों तक वाङ्मय अथवा साहित्य का विस्तार तो अधिक उचित नहीं है। किन्तु गान्धर्व दर्शन आदि को वाच्य कहा जा सकता है।

किन्तु इनको साहित्य कहना उचित नहीं है। साहित्य का तात्पर्य शब्द और अर्थ का भाव है। यह सहित भाव एक प्रकार का अभिन्न भाव है जिसको कालिदास ने सम्पृक्ति कहा है। और जिसको च होने पावती और परस्पर और अभिन्न भाव का अपमान माना है। तन्त्रों ने अनुसार वाक और अर्थ को इस सम्पृक्ति को साम्य कहना होगा। साम्य का अर्थ परस्पर सम्भावन है। साहित्य के वाच्य और अर्थ एक दूसरे का सम्भावन करते हैं। उनसे इसी परस्पर सम्भावन से साहित्य का सौंदर्य निरसता है। यही सौंदर्य साहित्य की कला बनाता है। साहित्य के इस सहित भाव वाच्य और अर्थ को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। ऐसा करने पर साहित्य का रूप नष्ट हो जाता है। शब्दों के परिवर्तन के द्वारा ऐसा किया जा सकता है। साहित्य की व्याख्याओं में तथा अनुवादों और अर्थों में ऐसा किया जा

सकता है। शब्दों के बदलते ही साहित्य का सौंदर्य नष्ट हो जाता है। कलाकार शब्दों के जिस क्रम में किसी भाव को आकार देता है उसी रूप में उसका रूप सुरक्षित रहता है। उन शब्दों और उनके उस विशेष क्रम से विद्युत् होती है प्रथम का रूप सौंदर्य विनीत हो जाता है।

साहित्य में शब्द और प्रथम की इस अभिन्नता का अभिप्राय शब्द और प्रथम के उस सामान्य समवाय से नहीं है जो व्याकरण और दर्शन का अभीष्ट हो सकता है। इनके अनुसार शब्द और प्रथम सामान्य रूप से एक दूसरे से अभिन्न प्रथमवा एक दूसरे में समवेत रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि शब्द बिना प्रथम के नहीं रह सकता और प्रथम बिना शब्द के नहीं रह सकता। शब्द और प्रथम का यह सामान्य सहित भाव वाङ्मय में मिल सकता है, किन्तु जिस साहित्य को कला कहा जाता है उसमें शब्द और प्रथम का यह सामान्य सहित भाव प्रभोष्ट नहीं होता। ऐसा सामान्य सहित भाव तो साहित्यिक रचना की व्याख्या तथा उसके अनुवाद और प्रवचन में भी रहता है। साहित्य में शब्द और प्रथम का सामान्य सहित भाव नहीं बरन् विशेष प्रथम और विशेष शब्द का सहित भाव प्रभोष्ट होता है। जो विशेष प्रथम जिन शब्दों में साकार होता है उसको प्रथम शब्दों तथा प्रथम क्रम में व्यक्त नहीं किया जा सकता। ऐसा करने पर साहित्य का सौंदर्य नष्ट हो जाता है। शब्द ही साहित्य का रूप है। उसी में साहित्य का सौंदर्य निहित रहता है। शब्दों में परिवर्तन प्रथमवा यतिक्रम होने पर रूप का यह सौंदर्य उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार पुष्प की पंखुड़ियों को तोड़कर एकत्र कर लेने से पुष्प का सौंदर्य नष्ट हो जाता है।

व्यापक वाङ्मय से स्वात्मक साहित्य का अंतर विशेष प्रथम और विशेष शब्दों के इसी सहित भाव में खोजा जा सकता है।

दूसरी ओर साहित्य और काव्य इन दोनों शब्दों का प्रयोग समान और भिन्न दोनों अर्थों में किया जाता है। काव्य के समान प्रथम में साहित्य शब्द का प्रयोग कुछ अनुचित प्रतीत होता है। वर्तमान साहित्यिक चिन्तन में साहित्य का प्रयोग काव्य की अपेक्षा व्यापक प्रथम में होता है। इस प्रयोग के अनुसार काव्य नाटक कहानी उपन्यास आदि को साहित्य के अन्तर्गत माना जाता है। काव्य इस व्यापक साहित्य का एक भग मान है। काव्य नाटक, कहानी उपन्यास आदि साहित्य की विविध विधाएँ हैं। साहित्य की इन विधाओं में काव्य प्राचीन काल में अत्यन्त लोक प्रिय रहा है। फिर भी काव्य साहित्य की बेवत एक विधा है। किन्तु दूसरी ओर सृष्ट साहित्य शास्त्र में काव्य को साहित्य का पर्याय माना जाता है। आचार्य विद्यानाथ ने अपने

साहित्य दर्पण में साहित्य और काव्य को एक दूसरे का पर्याय माना है। उनके अर्थ का नाम साहित्य दर्पण है। विष्णु उक्तमें उगी प्रकार काव्य के स्वभाव और धर्मों का विवेचन किया गया है जिस प्रकार कि मम्मटाचार्य ने अपने काव्य प्रकाश नामक ग्रन्थ में किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में काव्य का जो महत्त्व दिया गया है वह साहित्य शास्त्र की श्रुति के अनुरूप है। भामह ने शास्त्र और अर्थ के साहित्य अथवा साहित्य भाव के रूप में काव्य की जो परिभाषा की थी वह प्रायः मान्य रही है। वात्सिल्य ने वाच और अर्थ के साहित्य को श्रुति का नाम देकर उसे पावती परमेश्वर का अमृत उपमान बनाया है। संस्कृत काव्य शास्त्र के इस काव्य का सदा अक्षोबध होना आवश्यक नहीं है। यह काव्य गद्य में भी हो सकता है। नाटक को भी संस्कृत में साहित्य के अंतर्गत गिना जाता है। काम्येय नाटक रम्यम् की उक्ति यह प्रमाणित करती है कि नाटक काव्य का एक सुन्दर रूप है। कादम्बरी को भी संस्कृत परम्परा में एक उत्तम काव्य माना जाता है। कादम्बरी शाली की दृष्टि से एक गद्य का ग्रन्थ है। गद्य में होते हुए भी उसे काव्य माना जाता है। विषय की दृष्टि से यह एक उपन्यास है। कादम्बरी के उपन्यास सत्व का प्रभाव मराठी भाषा में इतना है कि मराठी में उपन्यास के लिये पारिभाषिक शब्द के रूप में कादम्बरी शब्द का प्रयोग होता है। मराठी भाषा में कादम्बरी शास्त्र का अर्थ उपन्यास है। उपन्यास शाली की एक विधाय रचना कादम्बरी सामान्य उपन्यास की वाचक बन गई है। जिस प्रकार नाटक को काव्य में सुन्दर माना जाता है उसी प्रकार गद्य की रचना का भी संस्कृत साहित्य में बड़ा स्थान है। गद्य को कवियों की कसौटी माना जाता है (गद्य कवीना निकष वर्धित)। इससे स्पष्ट है कि गद्य में भी काव्य की रचना हो सकती है। गद्य के काव्य को कठिन और थल माना जाता है क्योंकि उसमें छन्द के सौन्दर्य का लाभ नहीं रहता। कादम्बरी भाव और सौन्दर्य से परिपूर्ण है। हिंदी भाषा में प्रायः काव्य अक्षोबध ही रहा है। इसलिये गद्यमय की कल्पना कुछ विचित्र सी जान पड़ती है। बंगला भाषा के उद्भास प्रेम से प्रेरित होकर तथा गीताजलि से प्रभावित होकर हिंदी में कुछ भावुकतापूर्ण गद्य का प्लाधुनिक युग में लिखे गये हैं। फिर भी सामान्यतः गद्य को काव्य के अनुरूप माध्यम नहीं माना गया है। वाणभट्ट की कादम्बरी के अनुरूप आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने वाणभट्ट की आत्मकथा की रचना की है। आचार्य द्विवेदी की यह कादम्बरी की शाली में और उसी के अनुरूप है तथा उसी के समान सुन्दर और थल काव्य पद की अधिकारिणी है। छन्द हीन नई कविता की भाषा गद्य के बहुत निकट आ रही है फिर भी हिंदी

की परम्परा में काव्य और गद्य एक दूसरे से दूर ही रहे हैं। मध्यकालीन हिन्दी में तो गद्य का अत्यन्त प्रभाव है। किन्तु संस्कृत परम्परा में गद्य और पद्य दोनों को समान रूप से काव्य के अनुस्यू माना जाता रहा है। गद्य और पद्य की मिश्रित शैली से युक्त काव्य को 'चम्पू' के नाम से एक विशेष स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त नाटक और उपन्यास की शक्तियों को भी काव्य के अन्तर्गत माना गया है। वस्तुतः संस्कृत साहित्य नामक काव्य का केवल एक छन्दोबद्ध रूप ही नहीं मानता। काव्यपु नाटक रम्यम् में काव्य शब्द का बहुवचन में प्रयोग मगधत छन्दोबद्ध काव्य के अतिरिक्त काव्य की अर्थ शक्तियों को ध्यान में रखकर किया गया है। नाटक की शैली का निर्देश तो इस शक्ति में ही मिल जाता है। काव्यमयी को अर्थ काव्य मानकर उपन्यास की गद्यमय शैली को भी काव्य के अनुस्यू माना गया है।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य की परम्परा में साहित्य और काव्य एक दूसरे के पर्याय प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति में काव्य के सङ्ग्रह को साहित्य की अर्थ विधाओं में भी खोजना और घटित करना होगा। अर्थ और अर्थ के जिस सहित भाव को काव्य का भूत सङ्ग्रह माना गया है वह छन्दोबद्ध काव्य में एक बहुत अर्थ में लागू होता है। जिस काव्य में अर्थ और अर्थ के परस्पर समावन का साहित्य (सहित भाव) जितना अधिक घनिष्ठ होता है। साहित्य की अर्थ विधाओं को भी काव्य के समान मानने पर अर्थ और अर्थ के इस सहित भाव को नाटक उपन्यास आदि पर भी लागू करना होगा। संस्कृत साहित्य में नाटक और उपन्यास को भी काव्य के अन्तर्गत गिना गया है। संस्कृत भाषा में जो नाटक और उपन्यास मिलते हैं उन पर काव्य की शक्ति कसौटी बहुत कुछ लागू हो सकती है। इनमें अर्थ और अर्थ का सहित भाव बहुत कुछ उसी रूप और परिमाण में मिलता है जिस रूप और परिमाण यह छन्दोबद्ध काव्यों में मिलता है। संस्कृत के नाटकों में गद्य और पद्यों का मिश्रण है। उनका छन्दोमय भाग तो छन्दोमय काव्य के ही समान है किन्तु सम्पूर्ण नाटकों को काव्य मानने के लिये उनके गद्यमय अंशों में भी काव्य का सङ्ग्रह घटित करना होगा। संस्कृत के छन्दोमय काव्य में प्रायः अक्षरों की पहलुता मिलती है। अर्थ की संगीतमय गति के साथ मिलकर अक्षरों की यह बहुलता छन्दोमय काव्य के रूप सौन्दर्य को बहुत बढ़ा देती है। एक प्रकार से हम काव्य में प्रायः रूप का सौन्दर्य अक्षरत्व से अधिक बढ़ जाता है। रूप की इस प्रधानता से काव्य के अक्षर साम्य में कुछ अक्षरत्व घटा जाता है। श्री हर्ष भाषा भारवि धातु के काव्यों में अर्थ की गम्भीरता

अधिक है। दूसरी ओर छंद और अलंकारों का रूप सौन्दर्य भी कम नहीं है। प्रायः रूप सौन्दर्य और अथ गम्भीर एक दूसरे से बढ़ जाते हैं। स्पर्शा करते जान पड़ते हैं। रूप सौन्दर्य और अथ गम्भीर की प्रमुखता के लिए स्पर्शा काव्य के साम्य में वयम्य को बढ़ाती है। जिस अनुपात में रूप सौन्दर्य और अथ गम्भीर एक दूसरे का सम्भावन करते हैं तथा इस प्रकार अपने साम्य को अनिष्ट बनाते हैं उसी अनुपात में कोई काव्य सुन्दर बन जाना है। कालिदास के काव्य में साम्य की यह अनिष्टता सबसे अधिक मिलती है। इसीलिए उनका काव्य सबसे अधिक सुन्दर है। कालिदास को उपमाओं का बहिर् माना जाता है। उनकी उपमाएँ अत्यंत सुन्दर हैं। उन्हीं उपमाओं का प्रयोग भी अधिक किया है। उपमाओं में उनकी प्रतिभा अनुपम है। किंतु उनके काव्य के सर्वाधिक सुन्दर स्थल वे नहीं हैं जिनमें उन्होंने उपमाओं का प्रयोग किया है। काव्य के अनिष्ट साम्य से अपरिचित तथा अलंकारों के रूप सौन्दर्य पर मुख्य होने वाले साहित्य सागर के कूल विहारियों को ही कालिदास के काव्य के ये अलङ्कृत स्थल अधिक सुन्दर जान पड़ते हैं। वस्तुतः इनमें अधिकतर उपमाएँ उपमेय को गोल बनाकर अथ को गोल बना देती हैं तथा अलंकार के रूप सौन्दर्य की प्रमुखता से काव्य के असीम साम्य में वयम्य उत्पन्न करते हैं। काव्य के गहन अनुरागियों को कालिदास के काव्य के ये स्थल अधिक सुन्दर प्रतीत होते हैं जिनमें ये उपमाएँ साम्य को भंग करती हैं अथवा इसका अधिक पोषण करती हैं। कुमारसम्भव और रघुवंश के आरम्भिक सर्गों में से ऐसे सफल और अधिक सुन्दर काव्य के उदाहरण अधिक मिलते हैं।

किंतु काव्य समर्थों ने कालिदास के अभिज्ञान नाकुल नाटक को कालिदास काव्यों से नहीं बरन् अन्य कवियों के काव्यों से भी अधिक सुन्दर माना है। अभिज्ञान नाकुल में भी उन्हीं अनुकूलता की विदा के प्रसंग के जिन चार छंदों को सबसे अधिक सुन्दर माना है उनमें उपमा आदि अलंकारों का प्रयोग नहीं मिलता अतः उनमें काव्य का रूप सौन्दर्य प्रमुखता का अभिलाषी नहीं बनता। दूसरी ओर विदा के अवसर की कहला ने इन श्लोकों के भाव को तरल और गम्भीर बना दिया है। इस प्रकार इन छंदों में गम्भीर भाव और सुन्दर रूप एक दूसरे का अधिकतम सम्भावन करके इन छंदों को समृद्ध बनाकर इन्हें सुन्दरतम बनाते हैं। किंतु इन छंदों के बीच में बिखरे हुए श्लोकों में भी मार्मिक भाव और मनोहर रूप के साम्य का सौन्दर्य उक्त चार छंदों की अपेक्षा कम नहीं है। छंद के सहज आकषण के कारण ही इन चार छंदों को श्लोकों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है। तथा की

दृष्टि से इन छंदों का भाव कुछ विरोध महत्त्वपूर्ण है अथवा इन छंदों के बीच के गद्यमय सलापों का सौन्दर्य भी कम नहीं है। छंद के अभाव के कारण इनमें सगीत की लय का सौंदर्य नहीं है किंतु दूसरी ओर छंद का अभाव इन सलापों की रूप के सौंदर्य की प्रमुखता से उत्पन्न होने वाले वषम्य से बचता है। वस्तुतः ये सलाप काव्य के अनिष्ट साम्य से सम्पन्न सौंदर्य के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

‘अभिधान शकुन्तल’ तथा कालिदास एवं अन्य कवियों के नाटकों के गद्यमय भागों में भी गद्य और अर्थ के साम्य का सौंदर्य मात्रा में मिलता है। छंद का अभाव उनके सौंदर्य को कम नहीं करता बरन् एक प्रकार से छंद की प्रमुखता से उत्पन्न होने वाले वषम्य से उन्हें बचाता है। इस प्रकार नाटकों के गद्य भागों में भी गद्य और अर्थ का सहित भाव काव्य के लक्षण को पटित करना है।

गद्य और अर्थ सहित भाव का सात्विक दोनों की अभिन्नता है। यदि दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सका तो उनका सहित भाव काव्य के साम्य के अनुरूप है। यदि गद्य का परिवर्तन करने पर अर्थ की अभिव्यक्ति का सौंदर्य क्षीण हो जाता है तो रचना के गद्य और अर्थ का सहित भाव अक्षयनीय है। सस्कृत भाषा के नाटकों के गद्य भागों में तथा उपन्यासों में गद्य और अर्थ का अनिष्ट साम्य मिलता है। इसीलिये वे काव्य की श्रेष्ठि में गिने जाते हैं।

माणभट्ट की कादम्बरी तो गद्यमय उपन्यास होते हुए भी सस्कृत का उत्तम काव्य मानी जाती है। उसमें छंद के सौंदर्य का आभास है किंतु अलंकारों का सौंदर्य उसमें विपुलता से मिलता है। दूसरी ओर भावों की गम्भीरता भी कम नहीं है। भाव और रूप का जितना अनिष्ट और समृद्ध साम्य कादम्बरी में सम्पन्न हुआ है उतना अन्यत्र मिलना कठिन है। इसीलिये कादम्बरी को सस्कृत का अनुपम काव्य माना जाता है।

मस्कृत के नाटकों और उपन्यासों में काव्य का लक्षण सकारणता से पटित होता है। उनमें गद्य और अर्थ अथवा रूप और भाव का साम्य अनिष्ट मिलता है। किंतु हिन्दी के नाटकों और उपन्यासों में नाटकों को

कल्पित भय की प्रधानता जिसे दे और रूप का पर्याप्त साम्य न होने के कारण उन पर काव्य का संगण घटित करना भी उन्हें स्वीकार नहीं है।

हिन्दी की परम्परा में नाटक कहानी और उपयाम की साहित्य के अंतर्गत तो अवश्य गिना जाता है। किंतु इनको काव्य के अंतर्गत मानने के लिये हिन्दी आलोचना उद्यत न होगी। ऐसी स्थिति में हिन्दी के प्रसंग में साहित्य और काव्य का भेद स्पष्ट करना होगा। हिन्दी आलोचना में कल्पित इस भेद को स्पष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। काव्य नाटक कहानी उपयाम आदि की साहित्य की परिधि में गिना जाता है किंतु साहित्य की कोई निश्चित परिभाषा देकर उसे इन सब पर घटित करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। हिन्दी परम्परा में भी साहित्य को वाङ्मय का पर्याय नहीं माना गया है। विज्ञान दान आदि के उपयोगी और भय प्रधान वाङ्मय से साहित्य की कलात्मक रचना का भेद हिन्दी की परम्परा में सबदा स्पष्ट रहा है। कविता नाटक कहानी उपयाम आदि ही साहित्य के अंतर्गत माने जाते रहे हैं किंतु हिन्दी की परम्परा में नाटक कहानी और उपयाम की गद्यमय रचनाओं से काव्य का भेद स्पष्ट रहा है। सृष्ट साहित्य की भाँति हिन्दी साहित्य में नाटक उपयाम आदि की गद्यमय रचनाओं को काव्य के अंतर्गत कभी नहीं माना गया। किंतु साहित्य की परिधि में इनका स्थान रहा। ऐसी स्थिति में साहित्य और काव्य की स्पष्ट परिभाषा करना तथा इनके सम्बन्ध एवं भेद को स्पष्ट करना और नाटक उपयाम आदि पर साहित्य की परिभाषा को घटित करना आवश्यक ही जाता है। हिन्दी आलोचना में प्रायः ऐसा नहीं किया गया।

साहित्य भयवा काव्य की ऐसी परिभाषाएँ जो अति यात हो जाती हैं ऐसे स्पष्टीकरण का आधार नहीं बन सकतीं। अति यात परिभाषाओं से साहित्य तथा काव्य के स्वरूप का कुछ संकेत अवश्य मिल जाता है किंतु ये परिभाषाएँ इनके स्वरूप का निश्चित निर्धारण तथा भय प्रकार की रचनाओं से इनका स्पष्ट विवेक नहीं कर सकती। साहित्य भयवा काव्य को जीवन की अभिव्यक्ति भाव की व्यञ्जना जीवन की आलोचना आदि कहना ऐसी अति व्याप्त परिभाषाओं के ही उदाहरण हैं। ये सभी संक्षेप गद्य की उन विचारात्मक रचनाओं पर भी लागू होते हैं जो विज्ञान भयवा दर्शन की दृष्टि में गिनी जा सकती हैं किंतु जिन्हें साहित्य भयवा काव्य नहीं कहा

जा सकता है। ऐसी परिभाषाएँ अथपरक अथवा तत्त्वपरक होती हैं। सम्पूर्ण वाङ्मय अथवा तत्त्व से पूर्ण होता है। अतः यह परिभाषाएँ सम्पूर्ण वाङ्मय पर लागू हो जाती हैं। यदि हम ज्ञान रस के संबंध को साहित्य मानते हैं तो दर्शन, विज्ञान आदि भी इस साहित्य के अन्तर्गत आ जाते हैं और यह साहित्यपूर्ण वाङ्मय का पर्याय बन जाता है। साहित्य की अथपरक परिभाषाओं के आधार पर अथपरक वाङ्मय से अन्तर्गत साहित्य का भेद नहीं किया जा सकता। सृष्टि की परंपरा में साहित्य और काव्य की परिभाषाएँ एक ही हैं तथा साहित्य और काव्य एक दूसरे का पर्याय हैं। हिन्दी की परंपरा में नाटक, कहानी और उपन्यास की गद्यमय रचनाएँ काव्य से भिन्न मानी जाती रही हैं। अतः इनके भेद का आधार हिन्दी की परंपरा में ही खोजना होगा।

विचार करने पर क्याचित् हम भेद का कोई स्पष्ट और निश्चित आधार न मिल सकें फिर भी हिन्दी साहित्य की भूमिका में इन खोज का प्रयत्न करना होगा। इस खोज का एक मूल तो हिन्दी साहित्य का प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास मुख्यतः छन्दोमय काव्य का इतिहास है। उसमें नाटक कहानी उपन्यास आदिकी गद्यमय रचनाएँ नहीं मिलती। नाटक कहानी उपन्यास आदि की गद्यमय रचनाएँ हिन्दी के आधुनिक युग की देन हैं। प्राचीनकाल और मध्यकाल के हिन्दी साहित्य में छन्दोमय काव्य की प्रधानता के कारण छन्दोमय काव्य ही साहित्य का प्रमुख रूप बना रहा है। गद्य की रचना की प्रथा न होने के कारण गद्य और काव्य की वह अभिन्नता हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित न हो सकी जिससे हम सृष्टि साहित्य की परंपरा में परिचित रहे हों। अतः जब नाटक उपन्यास आदि की गद्यमय रचनाएँ होने लगीं तो वे छन्दोमय काव्य से पूर्णतः प्रतीत होने लगीं। सृष्टि साहित्य की परंपरा में भी छन्दोमय काव्य की ही मुख्यता काव्य माना जाता था यद्यपि परिभाषा की दृष्टि से नाटक आदि भी काव्य का अधिकारी थे। नाटक के अनिश्चित गद्यमय काव्य सृष्टि में भी अधिक नहीं मिलते किन्तु बाणभट्ट की वाग्भट्टी, दण्डी का दण्डकुमार चरित आदि दो विद्वानों गद्यमय काव्य ही सृष्टि में अनेक प्रसिद्ध रहे हैं कि उनकी रचना गद्य काव्य के अंतर को मिटाने के लिये पर्याप्त रही है। इसके साथ साथ नाटक की भी काव्य के क्षेत्र में गद्यमय काव्यों के समान स्थान मिलता रहा है। संस्कृत नाटकों में गद्य भाग भी रहता है। इनके अनिश्चित नाटक के गद्य भाग का वाङ्मय भी अविनाशित रहता है क्योंकि साहित्य में गद्य की काव्य का विरोधा नहीं माना गया है। दूसरी ओर सृष्टि के अनेक शास्त्र गद्य में रचे गए हैं किन्तु उन्हें साहित्य अथवा काव्य का स्थान अभी

नहीं लिया गया। नाटक की संस्कृत में छाना काव्य माना जाता रहा। केवल अभिनय के कारण उसको नाटक नाम दिया गया। संस्कृत साहित्य में नाटक को काव्य का ही एक भेद माना गया है। नाटक के पृथक्करण से नाटक काव्य से अलग नहीं हो जाता। पद्यमय काव्यों की प्रधानता होती हुए भी संस्कृत में नाटक काव्य के ही अंतर्गत गिना जाता रहा। काव्य का रूप और उसकी परिभाषा पद्यमय काव्य नाटक और बादम्बरी जैसे पद्यमय काव्यों पर पूर्णतः घटित होती है। पद्य और पद्य का सङ्गित भाव इन सबमें समान रूप से मिलता है। इनका गीत रूप की उपेक्षा करके इनके अक्षरत्व की प्रमुखता नहीं दी जा सकती। इससे अक्षरत्व और ध्वनि रूप एक दूसरे से अभिन्न और अभेद्य हैं। यही अभिन्न भाव इनका साहित्य है और यही साहित्य का लक्षण है जो इन सबमें घटित होता है।

हिन्दी के इतिहास में कई गताग्रियों तक पद्यमय काव्य की प्रधानता रही। हिन्दी के इतिहास की आरम्भिक शताब्दियों में काव्यमय अथवा शास्त्र एवं विज्ञान के अथवा प्राधान्य से युक्त किसी प्रकार का उल्लेखनीय गद्य नहीं मिलता। इसीलिए हिन्दी के इतिहास में आरम्भ से ही काव्य और गद्य एक दूसरे से पृथक् रहे हैं। इस परम्परा के प्रभाव के कारण ही आधुनिक युग में गद्य की रचना आरम्भ हो जाने के बाद भी गद्य काव्य से पृथक् हो रहा है। हिन्दी के नाटक भी गद्यमय ही रहे गये। गद्य के काव्य में पृथक् रहने के कारण हिन्दी के नाटक भी काव्य के अंतर्गत नहीं गिने गये हैं। किन्तु वे साहित्य के अंतर्गत गिने जाते हैं। अतः हिन्दी के प्रसङ्ग में साहित्य और काव्य के भेद का विवाद विवेचन करना होगा। हिन्दी के नाटकों और उपन्यासों की काव्य से अलग करने में अलङ्कारों का विशेष हाथ है। संस्कृत और हिन्दी के गद्यमय काव्यों के अलङ्कारों की प्रचुरता रही है। इसी कारण अलङ्कारवादी आचार्यों ने अलङ्कार काव्य का आवश्यक लक्षण माना है। बादम्बरी जैसे पद्यमय काव्य में भी अलङ्कार की प्रचुरता मिलती है। हिन्दी के नाटकों और उपन्यासों में अलङ्कारों का यह लावण्य नहीं मिलता। यह एक ऐसा अंतर है कि जिसने आरम्भ से ही हिन्दी के नाटक और उपन्यास को काव्य से अलग कर दिया। फिर भी इन्हें साहित्य के अंतर्गत माना गया। साहित्य की किसी व्यापक परिभाषा के द्वारा काव्य के साथ नाटक और उपन्यास को भी साहित्य की परिधि में समाहित करना होगा।

एक और प्रतर निम्नादि देता है। प्रलकार और व्यञ्जना का रूप साव्य इन में काव्य की तुलना में बहुत कम निम्नादि देता है। शब्दों का शृङ्खल कथ और प्रमिषा की प्रधानता इन रचनाओं के अथ तत्व को उभारते हैं। इसके विपरीत काव्यमय अथतत्त्व कुछ गीण सा हो जाता है और अनकार एव व्यञ्जना व रूप में तमय हो जाता है। काव्य का अथतत्त्व बादलों के जल के समान रूप के सोदय में तमय हो कर सध्या के बादलों की सी रूप प्रधान सोप्य की सृष्टि करता है जिसमें अथतत्त्व मानो सोदय व रूप स एकाकार हो जाता है। रूप के साथ अथतत्त्व की ऐसी तमयता नाटक और उपन्यास में नहीं दिमाई देती। उनके रूप का आवरण इतना गुप्त और भीता होता है कि इनका अथतत्त्व काव्य के अथतत्त्व की अपेक्षा वहीं अधिक प्रमुख प्रतीत होता है। यह भी कहा जा सकता है कि क्या तथा विचार दोनों ही रूपों में अथतत्त्व का परिमाण नाटक और उपन्यास में काव्य की अपेक्षा अधिक रहता है। उसका यह परिमाण भी उसे प्रमुख बनाने में योग देता है।

किन्तु काव्य से पृथक् होत हुए भी नाटक और उपन्यास साहित्य व अतपत गिने जात हैं। साहित्य की हिन्दी के प्रसंग में ऐसी परिभाषा करनी होगी जिसके अनुसार काव्य के साथ-साथ नाटक और उपन्यास को भी साहित्य के अतगत गिना जा सके। छन्द और अनकार इस परिभाषा के आधार नहीं बन सकते क्योंकि व नाटक और उपन्यास में नहीं मिलते। सस्कृत परम्परा में शब्द और अथ व संहित भाव की साहित्य का सक्षण बताया गया है और यही काव्य का सक्षण भी है। हिन्दी में कदाचित् साहित्य की कोई प्रसिद्ध परिभाषा नहीं की गई है। परम्परागत काव्य की छन्दोमयता और छालका रिक्ता व आधार पर नाटक और उपन्यास काव्य की परिधि के बाहर हो गये हैं। किन्तु इन सबकी साहित्य की परिधि में लाने के लिये साहित्य की एक व्यापक परिभाषा करनी होगी। ऐसी परिभाषा का प्रयास कदाचित् हिन्दी में नहीं किया गया है। सस्कृत काव्य शास्त्र में प्रचलित साहित्य की परिभाषा स भिन्न साहित्य की गई परिभाषा खोज करना कठिन भी है। तत्व की प्रधानता से छाल और विज्ञान का सक्षण है अतः साहित्य की कला मानकर रूप व आधार पर ही साहित्य की परिभाषा की जा सकती है और ऐसी स्थिति में काव्य से उसका विवेक करना कठिन होगा।

साहित्य की क्या मानने पर रूप में ही उसका मोल्य खोजा जा सकता है। कला रूप की ही रचना है। वाच्यगीत और चित्रकलाओं की रचनाओं

साहित्य कहना होगा। संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार विशेष रूप से दोर विवेक धर्म का साहित्य ही काव्य का मान्य है।

इस विचार के अनुसार साहित्य और काव्य एक दूसरे के पर्याय बन जाते हैं। इस मायना के आधार पर ही संस्कृत परम्परा में नाटक आदि भी काव्य माने गए हैं। हिन्दी साहित्य की परम्परा में नाटक और उपन्यास को काव्य से गृह्य माना जाता है। हिन्दी की परम्परा में नाटक और उपन्यास काव्य के अन्तर्गत नहीं माने गये हैं। किन्तु उन्हें साहित्य के अन्तर्गत माना जाता है। संस्कृत और हिन्दी की इन भिन्न सम्प्रदायों की इन भिन्न परम्पराओं के प्रसंग में विवेचन के दोष ही विस्तृत सभ्य हो सकते हैं। यदि साहित्य और काव्य एक दूसरे के पर्याय हैं तो नाटक और उपन्यास में भी काव्य और अर्थ के सहित भाव को प्रतिष्ठित करना होगा। यदि हिन्दी की परम्परा का अनुसरण करके साहित्य के अन्तर्गत काव्य तथा अर्थ रूपों में भेद किया जाय तो इस भेद की व्याख्या करनी होगी। हिन्दी के प्रसंग में साहित्य का क्या लक्षण होगा जिसके आधार पर काव्य और नाटक में भेद किया जा सके। नाटक को काव्य मानकर संस्कृत की परम्परा अमरगति से बच गई तथा नाटक और उपन्यास को काव्य से भिन्न मानकर एक कठिनार्थ में उन्नत गई जो साहित्य की विधाओं के सूक्ष्म विवेचन का आधार बन सकती है।

गद्य और पद्य का भेद इस विवेचन में सहायक नहीं हो सकता। संस्कृत भाषा में यद्यपि छन्दोमय काव्य की ही बहुलता है फिर भी काम्बरी के समान गद्यमय काव्य प्रसिद्ध है। हिन्दी साहित्य में भी छन्दोमय काव्य का ही बाहुल्य रहा है किन्तु आधुनिक युग में छन्द का बंध छोड़कर कविता स्वच्छन्द हो गई है। व्याकरण की दृष्टि से छन्द रहित आधुनिक कविता के वाक्य गद्य के वाक्यों के समान हैं। उनका कवित्व छन्द में नहीं बरत लय तथा अभिव्यक्ति में खोजा जा सकता है। कुछ नये कवि लय को भी कविता के लिए आवश्यक नहीं मानते सब केवल भाव की अभिव्यक्ति में ही कविता का स्वरूप सीमित हो जाता है। कविता की इस अभिव्यक्ति को नाटक आदि की अभिव्यक्ति से तुलना करके ही हिन्दी की परम्परा में काव्य नाटक उपन्यास आदि के भेद को समझाया जा सकता है। सूक्ष्म विवेचन करने पर इन सभी की अभिव्यक्ति में साहित्य का वह सहित भाव मिलेगा जिसे संस्कृत परम्परा में काव्य का लक्षण माना गया है। इस सहित भाव की मानते हुये काव्य नाटक, उपन्यास आदि में इस अभिव्यक्ति

प्रपञ्च साहित्य के विभिन्न रूप खोजे जा सकते हैं किन्तु इन सभी प्रति-
 स्थिति में नाटक और प्रपञ्च का सहित भाव मान लेने पर नाटक और उपन्यास में
 भी काव्य का अन्तर्भाव मानना होगा और संस्कृत परम्परा में प्रसिद्ध साहित्य
 और काव्य का पर्याय भाव हिन्दी में भी घटित होगा। संस्कृत और हिन्दी दोनों
 की ही परम्परा में नाटक और प्रपञ्च के इस सहित भाव का सूक्ष्म विवेचन नहीं
 किया गया है। संस्कृत नाटकों में छन्द का प्रयोग बहुत हुआ है। अतः काव्य
 के साथ नाटक की समानता स्पष्ट है। बादम्बरी आदि कथाओं में भाषाओं
 की आलंकारिकता उन्हीं काव्य के निकट ले आती है। अतः साहित्य के सभी
 रूपों में काव्य की शक्ति के कारण साहित्य और काव्य का पर्याय भाव सहज
 गम्य हो जाता है। किन्तु हिन्दी के नाटकों और उपन्यासों में ऐसा कवित्व
 प्रपञ्च ऐसी आलंकारिकता नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में उनमें कवित्व
 खोजना कठिन है। इसीलिये हिन्दी की परम्परा में नाटक उपन्यास आदि
 को काव्य से अलग माना गया है तथा उनमें काव्य का कोई कारण खोजने
 की चेष्टा नहीं की गई है। अतः और प्रपञ्च के सहित भाव को भी इनमें
 खोजना कठिन है। सूक्ष्म विवेचन करने पर नाटक के प्रतिपादित साहित्य तथा
 प्रपञ्च प्रपञ्च भाव के साथ उसकी अभिन्नता इनमें खोजी जा सकती है तथा इस
 प्रकार कला और काव्य के साथ इनका समाहार किया जा सकता है। ऐसे
 विवेचन का प्रयास प्रायः हिन्दी आलोचना में नहीं किया गया। इसलिये
 हिन्दी की परम्परा में नाटक उपन्यास आदि काव्य से भिन्न माने गये हैं।
 किन्तु ये भी साहित्य के अन्तर्गत हैं और ऐसी स्थिति में साहित्य की व्या-
 पक परिभाषा करके काव्य से इनका विवेक करना होगा।

कथा के आधार पर भी इनका विवेक करना कठिन है। महाकाव्य
 और सप्तकाव्य भी कथामय होते हैं। नाटकीय वार्तालाप भी काव्य और
 उपन्यास दोनों में हो सकता है। केवल इतना अन्तर है कि नाटक में कथन
 वार्तालाप होता है। लेखक की ओर से वर्णन करने के लिए उसमें स्थान
 नहीं होता। नाटक में वार्तालाप के व्याज से ही वर्णन किया जा सकता है।
 इसके विपरीत काव्य और उपन्यास में लेखक अपनी ओर से वर्णन कर
 सकता है। किन्तु यह केवल घनी बात है। केवल इस भेद को काव्य
 नाटक और उपन्यास के आन्तरिक भेद का प्रयास आधार नहीं माना जा
 सकता और न यह भेद काव्य नाटक और उपन्यास में साहित्य के वर्णनों
 व घटन प्रपञ्च अथवा घटन का आधार बन सकता है। कठोर मिथ्यात्व की भूमि
 पर हिन्दी की परम्परा में काव्य नाटक और उपन्यास का साहित्य के वर्णनों

की दृष्टि से पूर्ण करता नहीं होगा। इसमें एक ही धारा लगी है जो माय हो सकती है। यह यह है कि काव्य मनुष्य का मरतल भाव और उपवास की प्रेरणा प्रसिद्ध होता है। यह धारा सदा प्राच्य-युग नहीं है किन्तु यत्नमान साहित्य में प्रायः मिलती है। भविष्य के साहित्य में यह धारा बना रहे यह भी धारणा नहीं। धारा का जो काव्य बना गया है उसके लक्ष्य और वाक्य में जो अभिव्यक्ति मिलती है यह नाटक और उपवास में नहीं मिलती। अपनी इन तीनों भूमिका के कारण काव्य के वाक्य प्रायः मोतियों के समान दीप्त होते हैं और समग्र कविता अप्रत्याशित मोतियों की माला के समान बन जाता है। रामचरितमानस और रामायणी के समान विरल ही काव्य ऐसे हैं जिनमें प्रवाह की समप्रता मिल सके। इन काव्यों में भी लक्ष्य और वाक्यों के बुदबुद कम होते हैं यद्यपि वे गीत ही काय के प्रवाह में विलीन हो जाते हैं। सत्त्व के नाटकों और उपवासों के पद और वाक्य तो प्रायः स्वतन्त्र सौन्दर्य से दीप्त होते हैं। इसीलिये सत्त्व में नाटक और उपवास की गणना काय के अन्तर्गत करता उचित है। किन्तु दीप्ति के नाटकों और उपवासों के पद अथवा वाक्य प्रायः ऐसे मुक्त सौन्दर्य से सम्पन्न नहीं होते। उनमें रूप का प्रतिगम्य ज्ञान अधिक नहीं होता कि वे अभिव्यक्ति की भूमिका में काव्य की तुलना कर सकें। काय के वाक्यों की तुलना में इनके वाक्य अधिक ऋजु होते हैं यद्यपि साहित्य होने के नाते नाटक उपवास कहानी आदि के वाक्य भी अभिव्यक्ति की भूमिका से एक उससे उत्पन्न होने वाले रूप का प्रतिगम्य से रहित नहीं हो सकते। साहित्य एक कला है। कला का सौन्दर्य रूप के प्रतिगम्य में प्रकट होता है अतः नाटक और उपवास का भी सौन्दर्य इनके रूप में खोजना होगा। प्रायः काय से भेद करने के लिए नाटक और उपवास को काय की मुक्त भाषा की तुलना में एक असंख्य प्रवाह कहा जा सकता है। इनके रूप में काव्य की अपेक्षा अधिक समप्रता होती है। इसके अतिरिक्त जहाँ काव्य में रूप की प्रधानता दिखाई देती है वहाँ काव्य की तुलना में नाटक और उपवास में तत्त्व अधिक प्रमुख दिखाई देता है। यह तत्त्व केवल कथा तत्त्व नहीं है बल्कि प्रायः कथा तत्त्व से अधिक होने वाला जीवन दर्शन का तत्त्व ही है। तत्त्व की इस प्रधानता से नाटक और उपवास के अभीष्ट साहित्य और साम्य में विषमता उत्पन्न नहीं होती क्योंकि इस तत्त्व के साथ रूप का समवाय तो रहता ही है। रूप और तत्त्व के सम्बन्ध की दृष्टि से भेद करने के लिये हम यह कह सकते हैं

म तत्त्व में रूप का समवाय होता है । रूप की समग्रता भी कदाचित् तत्त्व की समग्रता पर निर्भर होती है । भक्त रामचरितमानस और कामायनी' जैसे काव्यों के अतिरिक्त काव्य में रूप की समग्रता गीतों एवं मुक्तकों में मिल सकती है । किंतु नाटक और उपन्यास में तत्त्व की समग्रता पर आश्रित होने के कारण प्रायः वह सबकुछ मिल सकती है ।

प्रागुक्त काव्य में छन्द और संगीत की भाँति क्यातत्त्व का भी प्रायः वजन हो रहा है । मन वह भावतत्त्व की अभिव्यक्ति में ही वसित हो रहा है । किंतु इसमें भी अभिव्यक्ति का रूप अपनी सीधता से प्रभावित करता है । उपन्यास और नाटक में प्रायः ऐसा नहीं होता । सम्पूर्ण तत्त्व से समबल रहने के कारण नाटक और उपन्यास में रूप का प्रभाव इतना स्वतंत्र नहीं होना जितना कि काव्य में होता है । हम हृष्टि से यदि यह कहा जाय कि नाटक और उपन्यास में रूप और तत्त्व का समवाय अधिक संतुलित होता है तो अनुचित न होगा । किंतु इस संतुलन का भीचित्र्य यही हृष्टि से समीचीन है कि नाटक और उपन्यास में सामान्यतः रूप का तथा विशेषकर रूप के लब्धा का सीमा इतना प्रसर नहीं होता जितना कि काव्य में होता है । काव्य में सामान्यतः रूप अधिक प्रसर और प्रभावशाली होता है । इसके अतिरिक्त काव्य की पक्तियाँ स्वतंत्र रूप से एक समग्रता बन जाती हैं और काव्य का सम्पूर्ण रूप इन समग्रताओं की समग्रता बन जाता है । प्रायः ये सधु समग्रताएँ काव्य के प्रवाह में भ्रमर के समान प्रतीत होती हैं । बास्मीकि रामायण रामचरितमानस आदि कुछ अत्यन्त अछु काव्यों में ही ये सधु समग्रताएँ बीबियों के समान प्रवाह में सम्य, रहती थी । अत्यन्त प्रागुक्त काव्य में ये समग्रताएँ सधुतर होकर पक्तियाँ बन गई हैं । अनेक नई कविताओं में पक्तियों की इकाइयाँ छन्दों के समान ही पूर्ण प्रतीत होती हैं । यह भी कहना होगा कि अनेक नई कविताओं में छन्दों की समान पक्तियाँ और उनके अन्त्यानुप्रास का प्रतिबन्ध हट जाने के कारण सम्पूर्ण कविता में एक प्रवाहपूर्ण समग्रता बनमान रहती है । ऐसी कविता में रूप और तत्त्व के साम्य का उत्तम उदाहरण है । इस साम्य में रूप की वह प्रमुखता नहीं रहती जो अधिकांश परंपरागत कविताओं में मिलती है । कदाचित् इसी कारण सामान्य पाठकों का नई कविता अधिक आकर्षक नहीं जान पड़ती । परंपरागत काव्य में रूप का कुछ प्रमुखता रहती थी । इसीलिये वह सामान्य पाठकों को ही आकर्षक लगती थी । नई कविता में चाहे रूप की प्रमुखता का आकर्षण न हो किंतु दूसरी ओर वह रूप और तत्त्व के दुमध साम्य का उदाहरण प्रस्तुत कर रही है । इतना स्पष्ट है कि

रूप की प्रमुखता से बचकर गई कविता प्रायः तत्त्व की प्रमुखता की ओर झटकर इस दुलभ साम्य को भग्न करने की ओर प्रायः स्तब्धित होने की भावना से पीड़ित रहती है।

कुछ ऐसी ही भाग्यवा नाटक और उपन्यास के बारे में होती है। क्या प्रवाह गद्य गीतों आदि के कारण नाटक तथा उपन्यास में वाक्य स्वच्छ और लघु समग्रताएँ बनाने का उपक्रम नहीं करते। उनका सपूर्ण रूप एक एक अखण्डित समग्रता के समान प्रतीत होता है। परम्परागत काल में समान लघुतर समग्रताओं के वस्तु सपटलों से मुक्त होने के कारण नाटक और उपन्यास का रूप कुछ अधिक पारदर्शी हो जाता है और इन रचनाओं का तत्त्व काव्य की प्रेरणा कुछ अधिक भाग्यवाने लगता है। ऐसी स्थिति में इन रचनाओं में कुछ तत्त्व की प्रधानता दिखाई देने लगती है और वह साम्य जिसका ऊपर संकेत किया गया है — लक्षित सा होता है। किन्तु वस्तुतः नाटक और उपन्यास में यह साम्य इस दृष्टि से अधिक सतुलित होता है कि उसमें अधिकारा का प्रतीति रूप की प्रधानता नहीं भवकती। इतना प्रत्यक्ष है कि जिस प्रकार अधिकारा काव्य में रूप की प्रधानता दिखाई देती है उसी प्रकार नाटक और उपन्यास से प्रायः तत्त्व की प्रधानता रहती है। नाटक और उपन्यास की आलोचनाएँ उस तत्त्व का विगद विवेचन करके इस प्रधानता को प्रमाणित करती हैं। फिर भी बहुत नाटकों और उपन्यासों में रूप तथा तत्त्व के बहुत कुछ सतुलित साम्य की भागा की जा सकती है। जसा कि ऊपर कहा जा चुका है नाटक और उपन्यास के रूप में एक व्यापक समग्रता रहती है। यह समग्रता भी इतनी प्रकट नहीं रहती। वह एक प्रकार से सम्पूर्ण नाटक अथवा उपन्यास के वृत्त में अंतर्निहित रहती है। इसी कारण इन रचनाओं का रूप अधिक पारदर्शी होता है तथा उसमें कया तत्त्व अधिक स्पष्ट रूप से बन कर भवकता है। नाटक और उपन्यास काव्य की प्रेरणा जीवन के यथाथ तथ्यों का जसा निरूपण होता है वसा काव्यों में प्रायः नहीं रहता। इस कारण भी नाटक और उपन्यास में तत्त्व की प्रधानता दिखाई देती है। फिर भी इन रचनाओं में रूप और तत्त्व का अथवा गद्य और अथ का ऐसा अभिन्न साम्य होता है कि काव्यगत गद्य और अथ के साहित्य की परिभाषा उन पर भी घटित हो सकती है। रूप और तत्त्व की अभिन्नता से भी साहित्य कह जा सकते हैं। और यदि यही अभिन्नता काव्य का सक्षण है तो इन्हें काव्य भी कहा जा सकता है। छंद विधान और अलंकार बाहुल्य को छोड़कर काव्य के साथ इनकी तुलना की जा सकती है। नाटक के संलाप और उपन्यासों के वचन में प्रायः अभिधा प्रधान दिखाई

देती है। किन्तु सूक्ष्मता से देखने पर इनमें भावूति के अतर्भाव की व्यञ्जना विपुलता से भिन्न सकती है। इस व्यञ्जना का रूप क्या भादि के तत्त्व से अभिन्न होता है और यह अभिन्नता काव्य के लक्षण की चरिताय करती है। सलाप और बण्णों के वाक्य सम्पूर्ण रचना की योजना में वे अनेक अतर्भावा की व्यञ्जना से सम्पन्न होते हैं। उनकी यह सम्पन्नता उह काव्य के निकट से घाती है।

इस प्रकार गद्य और पद्य के सहित भाव का सहाय केवल काव्य पर ही नहीं बरन् साहित्य के अन्य रूपों पर भी घटित होता है जिनमें नाटक और उपन्यास मुख्य हैं। यस्तुत यह सहित भाव साहित्य का सामान्य लक्षण है और साहित्य के सभी रूपों पर घटित होना है। इस प्रकार साहित्य काव्य का पर्याय बन जाता है। इस सहित भाव की दृष्टि से साहित्य के विभिन्न रूपों में कोई मौनिक अन्तर नहीं होता। साहित्य के सभी रूपों में काव्य के इस लक्षण की संगति के सभी रूपों में काव्य के इस लक्षण की संगति सत्कृत साहित्य की उस परम्परा को प्रमाणित करती है। जिसके अनुसार नाटक और उपन्यास को भी काव्य के अतर्गत माना गया है। साहित्य के विभिन्न रूपों में काव्य दृष्टियों से कुछ भेद किया जा सकता है जिसका सकेत ऊपर के विवेचन में किया गया है। क्या तत्त्व सलाप वण्ण जीवन के तत्त्व अलंकार आदि इन दृष्टियों के आधार बन सकते हैं। किन्तु इन भेदों के रहते हुये भी साहित्य के सभी रूपों में गद्य और पद्य के सहित भाव का मूल समान रूप से भोत प्रोत रहता है। इस आधार पर साहित्य के इन सभी रूपों को काव्य मानना निम्नान्तर्गत अनुचित नहीं है। सत्कृत साहित्य के नाटकों और उपन्यासों में काव्य के समान अलंकार आदि का बभ्रव भी मिलता है जो उन्हें अधिक प्रत्यक्ष रूप में काव्य के निकट ल आता है। इस के विपरीत हिन्दी साहित्य में नाटकों और उपन्यासों में क्या तत्त्व जीवन एवं आदि की प्रधानता दिखाई देती है और प्रत्यक्ष रूप में वे काव्य के अतर्गत भिन्न प्रतीत होते हैं। इसी कारण हिन्दी साहित्य की परम्परा में काव्य नाटक और उपन्यासों को काव्य के अतर्गत नहीं माना जाता तथा साहित्य को एक व्यापक प्रत्यक्ष अलंकार काव्य को उसका एक अंग तथा नाटक और उपन्यास काव्य से भिन्न मानकर उनकी गणना साहित्य के अन्य अंगों में की जाती है। किन्तु ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि गद्य और पद्य के सहित भाव की साहित्य का सहाय मानने पर साहित्य के इन विभिन्न रूपों में कवित्व का परिहार करके परस्पर भेद करना कितना अटिन है। साहित्य के सभी रूपों में काव्य का मूल अंश मान कर पद्य पापारों पर इनमें परस्पर भेद करना निस्संदेह संगत और समीचीन है।

अध्याय ७

काव्य के अंग और उपकरण

काव्य रत्ना का एक साधारण और सजीव रूप है। समारम्भभाव उसकी आत्मा है। भाकृति की व्यञ्जना प्राणों के रूप में समारम्भभाव के सौन्दर्य की सजीव अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार प्रकृति के भौतिक उपकरणों और रूपों की समान्ति करके मनुष्य की देह में आत्मा साकार होती है और प्राणों का रूप धारण करता है उसी प्रकार काव्य का विषय वस्तु तत्त्व सत्य आदि जीवन और जगत् के उपकरणों के माध्यम में काव्य की आत्मा (समारम्भभाव) साकार होती है उसके प्राण (भाकृति) का रूप धारण करके सजीव होता है। भारतीय काव्य शास्त्र में काव्य को पुरुष मानकर इसी प्रकार का पुरुष की कल्पना की गई है। काव्य को पुरुष मानकर उसकी आत्मा देह अलंकार आदि के रूप में काव्य के स्वरूप अंगों और उपकरणों की व्याख्या की गई है। काव्य की यह कल्पना मनुष्य जीवन और कला दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य के आकार के अनुरूप किसी भी सूक्ष्म वस्तु की कल्पना को पश्चिमी विचारक आदिम वृत्ति मानते हैं। वे ईश्वर देवताओं की कल्पना को वे इसी दृष्टि से देखते हैं। भय और विस्मय के कारण धृति धनस्पतियों और जलाशयों में प्रेतात्माओं के निवास की कल्पना आदिम हो सकती है किन्तु मनुष्य के आकार और स्वभाव के अनुरूप किसी भी सूक्ष्म वस्तु की कल्पना जितनी आदिम है—उतनी ही सनातन और समृद्ध भी है। यदि ऐसा न होता तो ईसाई धर्म का व्यक्तित्व मुक्त ईश्वर पश्चिमी विद्वानों के गय का विषय न होता। मनुष्य के आकार और स्वभाव के अनुरूप किसी भी सूक्ष्म वस्तु की कल्पना मनुष्य के आत्म सीमित दृष्टिकोण की सूचक नहीं बल्कि उसकी मानवीय भावना का प्रमाण है। इसी मानवीय भावना से प्रेरित होकर भारतीय प्रतिभा ने देवताओं और ईश्वर के अवतारों की सजीव तथा साकार कल्पना की है। यह कल्पना धार्मिक तत्वों के साथ मनुष्य जीवन की आत्मीयता का एक सुन्दर अवलम्ब रही है। देवताओं और ईश्वर के साथ सात्त्विक का अनुभव तथा धर्म के साथ जीवन की घनिष्टता इसके दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं।

कला के क्षेत्र में हम कल्पना का विस्तार मानवीयता के प्रतिरिक्त मनुष्य की कलात्मक वृत्ति के भी अनुसृत हैं। कला साकार और सौन्दर्य की सृष्टि है। अनेक तत्वा अर्थों और उपकरणों के सहयोग से उसमें सौन्दर्य का सूक्ष्म स्वर साकार होता है। इन सबके सम्बन्ध और सम्बन्ध का सर्वप्रथम उदाहरण स्वयं मनुष्य में मिलता है। मनुष्य विधाता की सबसे प्रथम कृति है। जोड़ की सौन्दर्य सृष्टि में वह सबसे सुन्दर है। सौन्दर्य के भ्रम दर्शक की सुमित्रा न पत के न में मानव विश्व की सौन्दर्य सृष्टि में सुन्दरतम है। वह विश्व की सूक्ष्मता सुपमा से निर्मित है। अतः वह सदा अनुसृत है। मनुष्य का सौन्दर्य उसका बाह्य रूप ही नहीं है उसके अन्तर के भावों में सौन्दर्य का प्राणों का स्पर्श है तथा बाह्य रूप का साथ इन भावों के समन्वय में कला का सूक्ष्म सौन्दर्य सजीव और साकार हुआ है। कलाओं में सौन्दर्य के सृजन और साकार भाव की कल्पना मनुष्य के अनुरूप करना कला के स्वरूप और सिद्धान्त का साथ पूरण संगत है। संगीत गान में राग रागिनियों की कल्पना मनुष्य का आकार में ही की गई है। वायु-पुरुष की कल्पना में मानो का वह स्वर साकार हुआ है। रूपक अलंकार माध्यम से यह वाक्य के स्वरूप का सर्वोत्तम निर्माण है। वायु पुरुष का समान ही साकार और सजीव सृष्टि है। समात्मभाव उसकी आत्मा है। प्राण त उसके प्राणों का स्पर्श है। वायु की देह में वाक्य की आत्मा साकार होती है और प्राण संचारित होता है। वायु के अनुरूपों की गिराओं में प्राकृति का प्राण स्वयं संचरित होता है। यही वाक्य का जीवन है। वायु उसके बाह्य और साकार रूप है। वायु का सौष्ठव उसका गौरीरिक्त स्वादृश्य है। प्राणों का धातु इस स्वादृश्य का सम्बल है। आत्मा का अचर्य मूल के तेज की भाँति सबका उद्गीर्ण और आधार है। वाक्य का प्रसार माधुर्य और प्राणि पुरुष वाक्य पुरुष के स्वभाव हैं। अलंकार वाक्य की देह के सुपमा वपन उपकरण हैं। इन प्रकार वायु का विविध अर्थों और उपकरणों का वाक्य के प्राण और उसकी आत्मा के साथ समन्वय है। यह सम्बन्ध मनुष्य देह और जीवन का संगण है। वाक्य में पठित हाँकर यह सदाय वाक्य के स्वरूप और विधान का समुचित ध्यायना करता है।

वाक्य परम्परा में प्राप्त वाक्य के इस रूप के आधार पर वायु के स्वरूप उन अर्थों उपकरणों प्राणि तथा उनके परस्पर सम्बन्ध का विचार करना समीचीन है। पुरुष धातु का प्रयोग सामान्यतः मनुष्य के लिए होता है। वनों में भी सहस्र सीपों पुरुष के द्वारा पुरुष सृष्टि में उसकी

कल्पना इसी रूप में की गई है। किंतु उपनिषद् में आत्मा का पुनः स्वरूप आत्मा हो गया है। काव्य में भी पुनः पुनः का प्रयोग आत्मा के ही अर्थ में किया गया है। आत्मा का अर्थ श्री दत्तकालिका ने स्वप्न किया है। आत्मा ही पुनः का वास्तविक स्वरूप है। काव्य के प्रगम में हम मूर्त और साकार दोनों ही अर्थों में पुनः का ग्रहण कर सकते हैं। मनुष्य का समाज आत्मा ही काव्य का मूल स्वरूप है। काव्य के मूल देह में यी आत्मा साकार होती है। काव्य की यह आत्मा क्या है? मनुष्य की आत्मा चिन्मय है। इस चिन्मय आत्मा की उपनिषद् में कवि भी का गया है। यह आत्मा अतिगमनी नहीं पापक है। सृष्टि इस वि आत्मा का काव्य है। अपनी पापकता में यह आत्मा कल्पित नहीं बनने विस्तारणीय है। विद्विषया के समात्मभाव में यह विस्तार प्रत्यक्ष होता है। भूमा इस अनन्त विस्तार की सगा है। यह भूमा ही धान द है जिस उपनिषद् में रस भी कहा है। काव्य भी मनुष्य की चिन्मय सृष्टि है। आत्मा ही उसकी आत्मा है। यह आत्मा ही कवि है। वह अपने स्वरूप के उपादान से सृष्टि का काव्य और काव्य की सृष्टि रचती है। विद्विषयों के समात्मभाव में आत्मा का विस्तार प्रत्यक्ष होता है। यह समात्मभाव ही काव्य की आत्मा और उसके सौंदर्य स्रोत है। भारतीय काव्य परम्परा में काव्य की आत्मा की कल्पना दोनों में मनुष्य की आत्मा की कल्पना की भाँति अनेक प्रकार से की गई है। धानद्वधन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है (काव्यस्यात्मा ध्वनि)। ध्वनि का अभिप्राय व्यञ्जना से है। 'व्यञ्जना' की आलोचिक शक्ति है जो अपनी पापकता के द्वारा अभिहित अर्थ का अतिरिक्त एक व्यापक अभिप्राय की अभिप्राय करती है। इस ध्वनि अर्थवा व्यञ्जना की हम आकृति भी कह सकते हैं। ध्वनि पद में 'द' की क्रियात्मक व्यञ्जना शक्ति का बोध होता है। आकृति अर्थ में अतिरिक्त तात्पर्य का निधान है। आकृति ध्वनि का स्वरूप है और ध्वनि आकृति की शक्ति है। धानद्वधन ने ध्वनि पद का प्रयोग एक 'पापक' अर्थ में किया है। उनके अनुसार ध्वनि 'द' की व्यञ्जना शक्ति और व्यञ्जना तत्त्व दोनों की वाचक है। किंतु सामान्यतः ध्वनि की व्यञ्जना शक्ति का सामान्य अर्थ माना जाता है। इस शक्ति के व्यापार से अनुवृत्त रस आदि काव्य के व्यञ्जना बनते हैं। स्थायी भाव विभाव अनुभाव आदि के सहयोग से काव्य शास्त्र में जिस रस की निष्पत्ति मानी जाती है वह आत्मा का आलोचिक धानद्वधन नहीं बनने मन का सवंग है। डाक्टर राबेण गुप्त ने रस के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में यह प्रमाणित किया है कि काव्य शास्त्र की रस की कल्पना मनोवैज्ञानिक के सवेग के अर्थवा निरूप है। सवेग मन और शक्ति की एक असाधारण और

उत्तेजित प्रवस्था है। वह प्राकृतिक मुख के अनुकूल भी हो सकती है किन्तु आत्मा का आनन्द मन और शरीर की अनुद्भूत प्रवस्था में अधिक सुखम है। उद्भूत उनमें बाधक ही हो सकता है। कदाचित् केवल शांत की ही एक मात्र रस मानन वान सिद्धांत में काव्य के मम का अधिक यथाय स्थ है। आत्मा का स्वप्न शांत है। आत्मा का रस और आनन्द गति में ही उद्भूत होता है। यह गति आत्मा का सम्मान है। प्रकृति की साम्यावस्था इसके अधिक अनुकूल है। यह आत्मा इन्द्रिया की मवेदना मन के आनन्द और अहंकार की भावना में परिच्छिन्न जोष चरम नहीं है। आत्मा का स्वप्न प्रायः विमय भाव है जो यत्तिव का तिरस्कार न करत हुए भी व्यक्तित्व की सीमाओं से ऊपर है। अर्थात् दान में इसकी वृद्धि सना है। व्यवहार की स्थिति में हम इसे समात्मभाव कह सकते हैं। हम समात्मभाव में ही काव्य का रस और कला का शीर्ष उचित होता है। यह समात्मभाव ही काव्य की आत्मा है। इस समात्मभाव में उद्भूत होने वाला काव्य का रस आनन्द और शीर्ष अधिक नहीं करने व्यर्थ है। निम्न गति के द्वारा इस अनुक्त और अनभिषेय रस की व्यञ्जना होती है उस काव्य में व्यञ्जना छत्ति कहा जाता है। जिस प्रतिरिक्त प्रप तत्व की व्यञ्जना यह व्यञ्जना छत्ति करती है उसे आकृति कह सकते हैं। यदि समात्मभाव काव्य की आत्मा है तो आकृति उसका प्राण है। कृतक ने हम व्यञ्जना को कुछ अधिक व्यापक बना कर वक्रोक्ति का नाम दिया है। कृतक का यह मिथ्यात समाचीन प्रतीत होता है कि वक्रोक्ति काव्य का जीवित अथवा प्राण है (वक्रोक्ति काव्य जीवितम्)। यहाँ इतना उचित कर दना आवश्यक है कि व्यञ्जना की वक्रता अधिक स्फुट होने पर काव्य में रूप की प्रधानता हो जाता है और व्यर्थ तत्व गीत हो जाता है। मन प्रकाश विरणा की मूल्य और अनन्त वक्रता ही व्यञ्जना का भी उत्तम रूप है। जिस प्रकार प्रकाश विरणा की अनन्त वक्रता उनका अनु गति में अतृप्त होकर दृश्य शक्ति को आनाकित करती है सभी प्रकार काव्य में प्रमाण की अनुता में अनन्त व्यञ्जना अथवा वक्रोक्ति काव्य के रस और भी य की अस्ति करती है। आकृति व्यञ्जना का गति पण है जो काव्य पुण्य की छत्ति का समान है। कृतक का व्यापार का शीघ्र विगपत होता है। वह काव्य के प्राणों का स्थान है। प्राणों की गतिओं में अनन्त रूप का पण प्राणों का संचार होता है और प्राणों का देह में काव्य की आत्मा की व्यञ्जना होती है। काव्य के देह हैं प्राणों का गठन से ही काव्य पुण्य की देह का अवयव संस्थान निमित्त होते हैं। देह आत्मा का मन्दिर है। वह किसी भी दृष्टि में गीत अथवा कम महत्त्वपूर्ण नहीं है जसा कि कुछ अर्थात्मा की दृष्टि मानते

है। देह के माध्यम में ही मध्याह्न का प्रतिपादन और आत्मा का योग होता है। शरीर के माध्यम में ही वायु की आत्मा की व्यञ्जना होती है। निगम प्रसार शरीरों का सौष्ठव आत्मा के सौंदर्य की व्यञ्जना के अनुरूप होता है उसी प्रकार शरीरों का सौष्ठव वाक्य की आत्मा के सौंदर्य की अभिव्यक्ति के अधिक अनुरूप होता है। शरीर के इस सौष्ठव को हम सामञ्जस्य कह सकते हैं। शरीर के सौष्ठव में यह सामञ्जस्य अधिक सूक्ष्म और व्यापक हो जाता है। सामञ्जस्य में शरीर विन्यास के समुचित का समत्व होता है अतः वह समान भाव के सौंदर्य और रस की अभिव्यक्ति के अधिक अनुरूप है। प्राण वयन के शरीरों में जिस प्रकार शरीरों के शरीर सौष्ठव से वाक्य विभासित होता है उसी प्रकार शरीर के शरीर सौष्ठव से वाक्य के रस और सौंदर्य की व्यञ्जना होती है। शरीर का वाक्य के विषय व्यञ्जित तत्त्व से इतना प्रतिष्ठ सम्बन्ध है कि शरीर शरीर में तो उसे चित् स्वरूप ही माना है। पारावाक्य और परब्रह्म समानाधिक है। शरीर का वाक्य रूप भी देह की शरीर अधिक सूक्ष्म है। देह दृश्य रूप है और शरीर की स्थूल पदार्थ है। दृश्य रूप वाक्य और स्थूल होते हैं। शरीर आकाश का सूक्ष्म स्पर्श है। देह की शरीर अधिक सूक्ष्म होने के कारण शरीर वाक्य की आत्मा का अधिक उपयुक्त माध्यम और यज्ञक है। शरीर की यह सूक्ष्मता और वाक्य की आत्मा के साथ प्रतिष्ठता वाक्य के समग्र रूपों को अधिक सामञ्जस्य और सौंदर्य प्रदान करती है। शरीर की अभिधा शक्ति वायु पुरुष की इन्द्रिया है। अभिधान का यथाय वाचकता इन्द्रिया की यथाय सवेदना के ही समान है जिस प्रकार यह सवेदना ही वाक्य जगत के ग्रहण और लोक के व्यवहार की साधन है उसी प्रकार शरीर की अभिधा शक्ति भाषा के व्यवहार की साधन है। इन्द्रियों के वातस्थान से आत्मा का सौंदर्य विश्व में विभासित होता है और विश्व के सौंदर्य का आत्मा में प्रतिष्ठान होता है। उसी प्रकार अभिधान के वातस्थान से वायु की आत्मा का अपार सौंदर्य विभासित होता है और वाक्य की आत्मा में जीवन के सौंदर्य का प्रतिष्ठान होता है। इन्द्रियों का प्रसाद मन का प्रसाद बनकर आत्मा का रस के अनुरूप होता है उसी प्रकार शरीर के अभिधान का प्रसाद भी आलोक की श्रुति का समान शरीर पारंगिता से वाक्य के सौंदर्य की व्यञ्जना के अनुरूप होता है। यदि प्रसाद व्यञ्जना के अनुरूप उज्ज्वल आलोक है तो माधुर्य इन्द्रियों की सुखमय सवेदना के समान शरीर के अभिधान की रस की व्यञ्जना के अनुरूप बनाता है। इन्द्रियों का शरीर शरीर सौष्ठव की दृढ़ता और शरीर शक्ति की सबलता का चोतक है उसी प्रकार शरीरों का शरीर शरीर के सौष्ठव की दृढ़ता और शरीर शक्ति की शरीर शक्ति की सबलता का चोतक

है। प्रगों की काव्य में आत्मा का सावर्ण्य विभासित होता है उसी प्रकार चरनों की काव्य में काव्य के रस का अमृत आलोक विभासित होता है।

— अस्तु समात्मभाव काव्य पुरुष की आत्मा है प्राकृति उसका प्राण है चरन उसकी देह का निर्माण करते हैं और अभिदा उसकी इन्द्रियाँ हैं। प्राकृति से युक्त होकर काव्य पुरुष की आत्मा एक व्यक्तित्व का विधान करती है। यह व्यक्तित्व अपने पूरे रूप में प्रत्येक रचना की समग्रता का विशिष्ट लक्षण है। व्यक्तित्व की विनिष्ठता प्रत्येक अंग और क्रिया के रूप को भी एक विनियम प्रदान करती है। इस व्यक्तित्व की समग्रता को हम बहुकार का स्थानीय मान सकते हैं। यह बहुकार रचना की समग्रता की विशेषता का द्योतक है किसी सजीवता अथवा रस का द्योतक नहीं। इस विनिष्ठता के अतिरिक्त प्रत्येक पुरुष और रचना के व्यक्तित्व में एक सामान्य तत्त्व भी होता है जिसके द्वारा व्यक्तियों का परस्पर सम्बन्ध सम्प्रेषण आदि सम्भव होता है। यह सामान्यता आत्मा के विस्तार का ही लक्षण है। बुद्धि के रूप में वह एक प्रत्याहार बन जाता है यह सामान्यता सिद्धांतों तत्वों और भावों को उनके विनियम परिच्छेदों से विसर्जन करके उन्हें सम्प्रत्य और सब आह्वय बनाती है। चरनों का प्रत्यय काव्य पुरुष के मन की गति है। इसी गति के द्वारा पृथक् पृथक् चरनों की एक सन्निहित सात्त्विक में वृत्तायता होती है। इसी मन बुद्धि और बहुकार के संयोग से काव्य पुरुष के अस्त-वर्णन का निर्माण होता है। इस अस्त-वर्णन के द्वारा ही वह अपने जीवन के आन्तरिक भावों का साक्षात्कार करता है। यह आन्तरिक साक्षात्कार ही काव्य पुरुष का विमल जीवन है और यही उसके आह्वय व्यवहारों की प्रेरणा है। अस्त-वर्णन के समान काव्य पुरुष का आह्वय है। अथ बोध के निमित्त होने के कारण चरन पद कहलाते हैं। यह पद ही काव्य पुरुष के चरण हैं। इनकी गति ही उसका जीवन है। काव्य पुरुष के यह पद आह्वयमय हैं। इनमें चतुर्विध आणी का विधान है। काव्य में चरनों की यह गति छन्द बन जाती है। काव्य पुरुष की गति स्वच्छन्द है। आणी के विवास के आन्तरिक नियम ही उसने आरम्भ बाधन हैं। सम विनियम गति के कारण छन्द का एक चरण काव्य पुरुष का पाद बन गया है। यह सब सापेक्ष प्रयोग है। मूलतः चरन ही उसने चरण और छन्द की गति ही उसका जीवन है। सामान्यतः छन्द के चार चरण होते हैं। एक और अनुपाद पद्यों के साथ समता के कारण काव्य की नसर्गिक गति का धारक है। दूसरी ओर उपनिषदों के अनुपाद आत्मा चतुर्विध आह्वय, चतुर्वेद,

पंतुदिगा पतुगुग घाणि पुरग कन के अनुप्य काव्य की गम्भीरता और व्यापकता का चोख है।

काव्य पुरुष के हृदय में प्रेरणा मनुष्य की वह आन्तरिक वृत्ति नहीं है जिससे कारण वह प्रत्यक्ष वस्तु को मजबूत और साकार बनाकर समझना चाहता है। काव्य सभी कलाओं की भाँति चेतना की वृत्ति है। भक्त चेतना के घमों और अनुपूरणों व अनुकूल उसके स्वरूप और अर्थों का समझने का प्रयास उचित है। मनुष्य की चेतना का विस्तार और प्रकाशन उसके व्यक्तित्व और सामाजिक जीवन में होता है। उसी के अनुप्य काव्य का चिन्मय भाव उसके विद्यार्थी अर्थों में व्याप्त होता है तथा पाठक व साथ आत्मीय संबंध में संपन्न होता है। काव्य का पुरुष रूप में समझने के प्रयास में लिगानुगासन का आग्रह नहीं है। परन्तु यहाँ मनुष्य सामान्य मध्य का वाचक है। पुरुष पद का प्रयोग आत्मा के मध्य में अत्यंत प्राचीन है। साहस्य और उपनिषद् ग्रंथों में यह प्रयोग मिलता है। पुरि पोते की व्युत्पत्ति के अनुसार पुरुष आत्मा का वाचक है। आत्मा चिन्मय है। चिन्मय भाव ही मनुष्य और काव्य दोनों के स्वरूप का मार है। उनके व्यक्तित्व का समस्त अंग सौष्ठव इसी भाव के साकार और संप्रत्य होने का माध्यम है। चेतना का अपने अर्थों और उपकरणों के साथ समात्मभाव काव्य पुरुष का वास्तविक स्वरूप है। यही उसकी आत्मा है। पाठकों के साथ समात्मभाव में इसका आंतरिक सौंदर्य साकार और सजीव होता है। मनुष्यों व समान इसी समात्मभाव में काव्य पुरुष का जीवन भी संभव है।

ऊपर कहा जा चुका है कि काव्य पुरुष व प्रयोग में लिगानुगासन का आग्रह नहीं है। पुरुष आत्मा तथा सामान्य मनुष्य का वाचक है। मनुष्यों के समान यह काव्य पुरुष स्त्री पुरुष कुमार कुमारी बालक बालिका सप्त धूर आदि अनेक रूपों में साकार होता है। इसमें ध्यान व समान महाकवि हैं जो अपनी आत्मा की विंगलता और उसके विस्तार व कारण एवं परम्परा के प्रतीक बन गए हैं। इसमें मेघदूत व समान सुकुमार भावुक और स्वप्न दर्शी यक्ष हैं जो हिंदी के छायावादी कवियों में अनेक रूप में अवतरित हुए हैं। इसमें कादम्बरी के समान रूप नील भोज और लावण्य से युक्त गंधर्व कुमारियाँ हैं। इसमें किराताजुनीय व समान ओजस्वी पुरुष भी हैं और घाघु निरहिंदी व धारम्भिक इतिवृत्तात्मक काव्यों की भाँति क्षीणप्राण पुरुष भी हैं। इसमें निवृत्तावस्था के समान ओजस्वी गायक हैं और गीतगोविंद

व समान तनिन और मधुर स्वर साधन भी हैं। इसम कुरुनेत्र के समान गम्भीर विचारक भी हैं और रश्मिरशी के समान उदात्त चरित्र भी है। इसमें नरेन्द्र की कामिनी व समान मुग्धाकामनिया भी है और सुभद्राकुमारी की भासी की रानी के समान वीरागनाए भी हैं और महादेवी की दीपशिखा के समान मोन साधिकाएँ भी हैं। इसम रामचरित मानस के समान अन यमना भक्त भी हैं और अचल की किरणवला के समान विद्रोही भी हैं। इसम साकेत के समान सौम्य सज्जन भी हैं और गुञ्जन के समान गिष्ट और सतक-कलाकार भी हैं। इसम मधुकनक जस मस्तान करणभूम जैसे अलखेले कुकुर मुत्ता जैसे अमवार चित्रसटा जस चित्रकार और गीतिका जस गित्यकार भी हैं। इसम बाल भारती और मुत्ता के गीत के समान हसमुख बालक बालिकाएँ भी हैं। वस्तुन काव्य का यह लोक अनन्त प्रकार के चरित्रों की विभूति से समृद्ध है। यह हमारे जीवन व स्नेह सौम्य और साधना का लोहा है जिसम शिव पुरुषा के साथ साक्षात्कार और समात्मभाव में हम अपने जीवन को सौन्दर्य और आनन्द से परिपूर्ण बनाते हैं।

इस काव्य पुरुष का चिमय भाव आनन्द होने के कारण रस कह साता है। उपनिषदों में यह भी कवि सना है और ब्रह्म रस स्वल्प है (रसोवस)। कवि प्रसवा काय का वास्तविक स्वरूप रस प्रसवा आनन्द ही है। आत्मा जिस प्रकार दह में साकार हाती है उसी प्रकार चिमय रस विभाव अनुभाव सम्बन्धी भाव आदि क मयोग से निष्पन्न होता है। इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपों में काव्य पुरुष मनुष्य के ही अनुरूप है। सिंग शरीर की भांति इसका सूक्ष्म शरीर प्रत्येक मनुष्य में वर्तमान रहता है। उसी की महिमा से प्रत्येक मनुष्य रस भावों का अनुभव करता है। स्थूल रूप में यह कवियों के ही कठ में साकार होता है। चिन्तु सभी मनुष्य इसका साथ आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करने और रसलाभ करने में समर्थ हैं। अपनी अपनी रसि और भावना के अनुसार इस प्रकार समाज में मनुष्यों के सम्बन्ध सम्पर्क और सख्य स्थापित होते हैं उसी प्रकार काव्य पुरुष के विभिन्न चरित्रों में भी योग अपनी रसि और भावना के अनुरूप सम्बन्ध और सम्पर्क स्थापित करते हैं। जिस प्रकार कुछ प्रतिभाशाली चरित्र अपनी प्रतिभा की शक्ति और उद्यम चमत्कार से बरबस साया को प्रभावित करते उनके साथ पथ प्रगाथ अपना नेता बन जाते हैं उसी प्रकार काव्य पुरुषों में भी कुछ विशेष प्रतिभाशाली व्यक्ति बरबस अपना प्रभुत्व जमा लेते हैं। रामचरितमानस का गत भक्त पतार्थ्या से अपनी जान बचा गुना रहा है।

गुञ्जन के विहग का घामाग गुाजर नितो बरबस मुग्ध हो गये और मधुसूता की मतवासी सान स नितो घषानन भौंर पडे । कामायनी की शिष्य गुपमा और उसके पवित्रगीस का घादर करने के लिए हमारा अल्प क्षील समाज भी विवग हुआ । मगदूत और घाकुत्तल की प्रेम रागिनी युगों से हम मुग्ध करती आई है । काव्य पुरुषों की यह प्रतिमा प्राकृतिक और सांस्कृतिक दोनों ही प्रकार की है । इनमें घनेव हमारी प्राकृतिक संवेदनामा को उत्तजित करके उनका अनुगुञ्जन करते हैं । इसी प्राकृतिक प्रियता के साधन होने के नाने के हमारे प्रिय सखा बने हुए हैं । भारपि के हितमनाहारि व नूनमवव के अनुतार हमारे इन प्रिय सखामों में सांस्कृतिक दृष्टि से हितकारी दुनम ही हैं । अधिकांश प्रकृति का रञ्जन करके ही कृतार्थ हैं । इनमें कुछ उपकारी सजन उपदेगक बनकर अवश्य उपस्थित हुए हैं । किंतु केवल उपदेग कम हितकारी होता है । वह बुद्धि को आलोचिक कर सकता है किंतु आत्मा की प्रेरणा बनकर मन के सस्कार का साधन कम ही बनता है । काव्य का स्वरूप समात्मभाव है । उपदेग की श्रुता इस समात्मभाव को क्षणित कर देती है । इस भेद के कारण उपदेगक अपने उद्देश्य में विफल रहता है । अनुकरण का मोह से वह पर उपदेग कुशल बहुतेरे के अनुरूप वह उपदेगी के प्रचारक उपदेगकों की तो बुद्धि करता है किंतु जीवन के वास्तविक सस्कार की परम्परा प्रवृत्तित करने में सफल नहीं होता । वस्तुतः उपदेगक बनते ही काव्य पुरुष अपने स्वरूप से व्युत्त हो जाता है । काव्य सम्मित तथा उपदेशपुगे के अनु रूप समात्मभाव के सौंदर्य का समाहार करके ही अथ की भावना सस्कार की परम्परा की प्रेरणा बन सकती है । सांस्कृतिक काव्य का यही वास्तविक रूप है । सस्कृत अनुप्य का रूप भी पूणत इसके अनुरूप है । सस्कृति समात्मभाव के सौंदर्य से समन्वित अयमयी अवस्था है । भाव में प्रकाशित होकर यह सस्कृति अवहार में साकार होती है । काव्य पुरुषों में मनोहारी और कमकारी कलाकार ठो बहुत हैं किंतु सस्कृति की सफल प्रेरणा के स्रोत कम हैं ।

प्राचीनकाल के पुरुषों और राजाओं की भांति यह काव्य पुरुष आभरण और अलंकार भी धारणा करता है । अलंकार सामान्यतः बाह्य आभूषण समझे जाने हैं और देह का साथ उनका घातरिक तथा घात्मीय सम्बन्ध नहीं होता । इसका कारण यह है कि देह और अलंकारों की निर्मायक घातुएँ भिन्न होती हैं । देह सजीव तत्वों से नहीं है अलंकार निर्जीव घातुओं से बनते हैं । अलंकार देह के सजीव अंग नहीं बन सकते वे बाह्य आरोपण मान रहते हैं । कदाचित् इसी कारण आधुनिक हिन्दी काव्य में एक ऐसी

धारा भी चर पड़ी है जिसके अनुयायी इन भ्रमकारों के साथ वाय के भ्रम उपकरणों का भी परित्याग करके वाय के नग्न रूप को देखना चाहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भ्रमकारों का आधिक्य देह के सौष्ठव को प्राप्ति दित कर देता है। सत्ता के इस अतिरिक्त में चाहे स्वयं भ्रमकारों का सौन्दर्य कितना भी आवश्यक और अवरोधनीय हो किन्तु देह के सजीव सौन्दर्य को प्रकाशित होने का अवकाश कम मिलता है। देह के सौन्दर्य को प्राप्तिदित हो जाने के कारण आत्मा और मन के सौन्दर्य के प्रकाशन के भाग भी सीमित हो जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पुरुष का वास्तविक सौन्दर्य आत्मा और मन के साथ में निहित रहता है। स्वस्थ और सुष्ठु देह तथा हिंदुओं के माध्यम से आत्मा और मन का सौन्दर्य प्रकाशित होता है। किन्तु पुरुष की यह आत्मा देह में ही साकार होती है। आत्मा की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त देह के सौष्ठव का भी अपना एक सौन्दर्य है। आत्मा की अभिव्यक्ति के विकास के पूर्व भी जानकों का देह में यह भ्रम सौष्ठव का सौन्दर्य दगकों को आनन्द होता है। यौवन में इस भ्रम सौष्ठव के सौन्दर्य का पूर्ण उत्थान होता है। यौवन वह का सर्वोत्तम अवस्था है। कालिदास ने यौवन को देह का असम्भूत मण्डन अर्थात् भ्रमकार सभार और प्रसाधन से रहित सौन्दर्य का कारण बताया है। यौवा का सौन्दर्य किसी बाह्य और विजातीय अवधारणा का आगोपन नहीं है वह देह के विद्याम और सौष्ठव का आंतरिक सौन्दर्य है। यौवन का सुषमा अंग के विकास और और उनकी व्यवस्था में ही विभाजित होती है। यह विकसित देह की सौष्ठवपूर्ण व्यवस्था आत्मा और मन के सौन्दर्य के प्रकाशन का भी उत्तम और अनुकूल माध्यम बनती है। यौवन में माना यह मन और आत्मा का सामंजस्य एक अपूर्व सौन्दर्य का पद बनता है।

इसमें सन्देह नहीं कि का पुरुष का वास्तविक सौन्दर्य भी उसके यौवन में ही निहित है। उसके अंगों के विकास और सौष्ठव में ही उसका सत्य सौन्दर्य विभाजित होता है। विशेषतः पुरुष की देह का स्वास्थ्य और सौन्दर्य तो अनामृत रूप ही विदित होता है। किन्तु समय के उदय के बाद देह के नग्न सौन्दर्य का आग्रह आदिम और दमित वाचना का प्रकोप सा प्रतीत होता है। तुलसीदासजी का 'सोह न मया यसन बिनु नारि' स्त्री के रूप के लिए ही नहीं पुरुष के रूप के लिये भी उपयुक्त है। वस्त्र सम्म मानव के देह सौष्ठव के ही भ्रम बन गये हैं। इसी प्रकार भ्रमकार भी उन यस्त्रों के साथ मानव की सत्ता का भ्रम बन गये हैं। उसका अभिप्राय यह नहीं है कि देह

और वा य के सोदय को गीण बनाता रहा है। अत यदि अलकार अनिवार्य प्रयोज्य है तो पुरुष अथवा काय के भग सोष्ठव के साथ सामजस्य पूर्ण होने पर ही सोदय के साधन बन सकते हैं। इसके लिये उनका अल्प और अनुरूप होना आवश्यक है। आधुनिक शृङ्गार और सज्जा में अलकारों की स्वल्पता सो न्य साधना की सही दिशा की सूचना है। वस्त्रों में भी इस शिक्षा का प्रभाव है। कुछ देशों में वस्त्रों का देह-सोष्ठव या आवरण नही बल्कि रङ्गक माना जाता है। नतिका दृष्टि से इसमें कुछ भी आपत्ति हो किन्तु सोदय की दृष्टि से यह अनुचित नहीं है। आभूषण वस्त्र देह-सोष्ठव और आत्मा-सोदय के साधन-साधना है—जिनका उत्तरोत्तर महत्त्व है। इनकी परस्पर सगति सोदय के समग्र रूप को व्यक्त करती है। इस सगति का क्रम देह-सोष्ठव की आत्मा के साथ तथा वस्त्रालकारों की देह-सोष्ठव के साथ सगति है।

सम्पत्ता की परम्परा अलकारों को नारि-सोदय का विशेष उपकरण मानती है। सम्भवतः कविता की कामिनी के रूप में कल्पना करने के कारण ही कवि उसे अलकारों से सुसज्जित करते रहे। इसी धारणा के कारण पाठक भी कविता के इस अलकरण का समर्थन करते रहे। किन्तु आधुनिक युग में नारि-पुरुष की समानता का दम्भ करती है और बाधा मानकर अलकारों का त्याग कर रही है। पुरुष और नारि में समानता भी है और मत भेद भी। जो समानता को नहीं मानते वे दम्भी हैं जो भेद को नहीं मानते वे अंधे हैं। नारि का स्वरूप दुर्बलता भरी है। नरसीबाई और दुर्गावती का समान बीरत्व और परम्परा की अपनाने में उनकी स्त्रीत्व सहित नहीं होता, हाँ पुरुष का पौरुष का दम्भ अवश्य भग हो जाता है। भेद का आधार नारि का स्वभाव और स्वल्प के अर्थ धर्म है जो अपनी विपत्ता में ही उसके व्यष्टित्व को प्रकट करते हैं। मातृत्व समात्मभाव का आधिन्य सृजन आत्ममान प्राप्ति नारि के स्वभाव के विपरीत गौरव है। रूप और लाक्षण की विशेषता का भी एक पुरुष का विलक्षण स्वभाव है। दूसरी धार पुरुष प्राचीन काल में अलकारों का धारण करते रहे हैं। आधुनिक युग में अलकारों का परिहाण करने पर भी पुरुष की वैषम्यता और चाल-ढाल स्त्रियों का अनुकरण करने उन्हें विभ्रत कल्प बना रही है। युग की सम्पत्ता में लिंग विषय की प्रकृतिक घटनाओं असाधारण होते हुए भी जाति का साधारण पतन की ओर है। अपने अपने स्वभाव स्वभाव और धर्म में ही नर और नारी दोनों का सोदय और गौरव है। दोनों के ही को य भी उपकरण और साधन के रूप में अलकार का उपयोग स्थान है। अलकार उनमें अनुकूल होने चाहिए।

देह सौष्ठव की गरिमा व अनुरूप भनकारों को अपने ही य म समाहित कर लेने पर ही सौन्दर्य की वृद्धि होती है यदि नारि व देह सौष्ठव का सौ दय प्राकृत होने पर ही प्रस्तुति और प्रकाशित होता है तो पुरुष का देह सौष्ठव बनावृत्त होने पर ही विनित होता है । अतः पुरुष व लिए भनकार की अत्यन्त आवश्यक है । कविता कामिनी को नारी के अनुरूप अलंकार अर्थात् त हा रि तु काव्य पुरुष के लिये पुरुष के अनुरूप अलंकार भनकार ही उचित है । देह और जीवन के सभी उपकरण भनकार की कोटि में है । इसीलिए भनकार अनिवार्य है । अलंकार अनुरूपता और सगति व द्वारा य भनकार स्त्री और पुरुष के समान कविता कामिनी तथा काव्य पुरुष दोनों के सौ दय का संवर्धन कर सकते हैं ।

काव्य के साथ अलंकारों के सम्बन्ध व प्रयोग में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि अलंकार उस प्रकार का व के बाह्य उपकरण नहीं हैं जिस प्रकार कि आभूषण देह के बाह्य उपकरण हैं । देह के अलंकारों का निर्माण जिन घातुओं से होता है वे देह की सुलना म विज्ञानीय तत्व हैं । देह चेतन है अलंकारों के उपादान जड़ हैं । अतः उनमें कोई आंतरिक अथवा एकात्मकता का सम्बन्ध सम्भव नहीं है । अलंकार और अनुरूपता के द्वारा ये देह के अंग सौष्ठव के सौन्दर्य में योग प्रशस्त दे सकते हैं किन्तु देह में प्रकाशित होने वाले आत्मा के सौ दय को ग्रहण करने अथवा उससे विभासित करने की क्षमता इन बाह्य और जड़ अलंकारों में नहीं है । काव्य व साथ अलंकारों का सम्बन्ध इसके विपरीत है । काव्य व अलंकारों का निर्माण उन्हीं घों से होता है जिनसे काव्य के देह की रचना होती है । इस प्रकार अलंकारों का काव्य की देह के साथ सजातीय सम्बन्ध है । काव्य में अलंकारों का स्थान बाह्य उपकरणों का नहीं बल्कि देह के अंग का स्थान है । जिस प्रकार काव्य की देह की रचना करने वाले न अ अपनी अद्भुत शक्ति व द्वारा काव्य की आत्मा को विभासित करते हैं उसी प्रकार उस देह व अंगभूत अलंकार भी उस विभासित करने म योग देते हैं । अतः उसी रूप योजना और अंग विन्यास निश्चित है । काव्य एक सांस्कृतिक रचना है वह रचना का विधान है । चेतना स्वरूप से स्वतन्त्र है विन्यास की विचित्रता और अनेकरूपता (प्रकृति की एकरूपता व विपरीत सांस्कृतिक रचना को सम्पन्न और सुन्दर बनाती है । यल के आकार मेघ की आकृति और कवि की कल्पना की भाँति काव्य की देह का मनुष्य की प्राकृतिक दृष्टि व समान एक ही निश्चित रूप नहीं है । विन्यास होने क कारण काव्य की देह का अंग विन्यास विविध और विचित्र होता है । इस विविधता और विविध्य म अलंकारों व अनेक

विधि उपयोग की सम्भावना रहती है। शब्द रूप होने के कारण अलङ्कार भी काव्य के अङ्ग हैं बाह्य उपकरण नहों। काव्य की देह के अनेक विधि रूप विन्यास में इन अङ्गों के अनेक विधान सम्भव हैं।

गद्य काव्य की देह है किन्तु मनुष्य की देह के समान आत्मा से उनका सम्बन्ध सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध के नाते देह आत्मा के सौन्दर्य को विभावित करती है और शब्द काव्य की आत्मा के सौन्दर्य को व्यक्त करते हैं। अथ अथवा आकृति काव्य का प्राण है। इस प्राण स्पर्शन के द्वारा ही आत्मा का सौन्दर्य देह में विभावित होता है। प्राण और आत्मा से देह का आत्मीय सम्बन्ध है। अतः गद्य का भी काव्य की आत्मा से आत्मिक सम्बन्ध है। अलङ्कार काव्य के अङ्ग और गद्य रूप हैं। अतः अलङ्कारों का भी काव्य की आत्मा के साथ आत्मिक सम्बन्ध है। यही कारण है कि जहाँ शब्दों की देह में काव्य की आत्मा साकार हुई है, वहाँ काव्य में अलङ्कारों का योग प्रतीयमान हुआ है। शब्दालङ्कारों को काव्य का बहिरङ्ग मानते हैं यह ठीक भी हो तो भी काव्य के अङ्ग सौष्ठव में बाह्य विन्यास के सामञ्जस्य का भी महत्त्व है। शब्द चयन ने गद्य की विन्यास मानकर उससे बाह्य और अन्तरङ्ग के भेद की कठोरता को मिटा दिया है। शब्दालङ्कार सख्या में छोटे और बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। अनुप्रास के अतिरिक्त शुद्ध शब्दानुसार दुर्लभ है। अनुप्रास का उपयोग काव्य में अल्पमात्रा में ही उचित है। अनुप्रास वर्णों की समानता है। अङ्ग-सौष्ठव के सौन्दर्य में इस समानता का उपयोग अल्प ही है। अङ्ग सौष्ठव का सौन्दर्य अङ्गों के बाह्य विन्यास में है। मनुष्य की देह के निर्माण में केवल गुणों की समानता है अथवा अङ्गों का बाह्य विन्यास ही सौष्ठव के सौन्दर्य का रूप है। देह-सौन्दर्य के आदर्श में विशेषतः स्त्रियों के देह लावण्य में बदन, कटि निरुद्ध जघन आदि के विन्यास क्रम में बाह्यता एक विन्यास गुण है। अतः काव्य के देह सौष्ठव में अनुप्रास का अल्प ही उपयोग है। मनुष्य देह के अंगों के गुणों की भाँति शब्दों के चरण गुणों का अत्यनुप्रास ही काव्य के देह सौष्ठव का पर्याप्त साधन है।

काव्य के अलङ्कारों में अर्थानुसार ही अधिक है। अथ शब्द ही ध्यान रित विभूति है। यदि शब्द को मुखर ध्वनि मानें तो अर्थ उसका आन्तरिक चिन्मय स्वर है। अतः अर्थानुसार काव्य की आत्मा के सजातीय है। उनमें अधिकतर आकृतिमय होने के कारण काव्य के प्राण है। अतः नैऋतिक में और ध्यान-दक्षिण में ध्वनि में समस्त अर्थानुसारों का अन्तर्भाव करने का

[प्रयत्न] किया है। प्राकृतिकमय होने के कारण अर्थात् प्राण के समान ही वाक्य की आत्मा का देह के रूप में व्यवहार करते हैं। बिना वाक्य की आत्मा प्राणों की देह में साधारण होती है। व्यवहार की प्राकृति भी प्राणों में ही रूप ग्रहण करती है। अतः अर्थात् प्राण के उपयोग में भी अर्थात् विविधता यद्यपि यद्यपि प्रकृति सौन्दर्य का साधन है। आत्मा और प्राण का प्रचुरता जीवन और वाक्य की समृद्धि और सम्पन्नता की मूल्य है। बिना जिस प्रकार प्राण की प्रचुरता अज्ञान के अतिरिक्त आकार का रूप में प्रकट होने पर रोग लक्षण और कुलपता का कारण बनती है उसी प्रकार प्राकृति की प्रचुरता प्राण के अर्थात् अतिरिक्त और देव्यरूप जगत् सौष्ठव का सामञ्जस्य की भाँति करती है तो आकार का य में कुलपता का कारण बन जाती है। एक ही अलङ्कार का अतिरिक्त प्रयोग गरीब का एक अज्ञान का अतिरिक्त विकास की भाँति अत्रुद बनकर का य का स्वस्थ और सौष्ठव दोनों का साधक होता है। उपमा के जिस अद्भुत प्रयोग के लिए काव्यशास्त्र अन्तिम मान जाते हैं रघुवंश में छन्दों के उत्तरार्द्ध में उपमाओं के निरंतर प्रयोग का कुछ ऐसा ही पत्र रहा है। अतः काव्य में अलङ्कारों का प्रयोग भी सन्तुलित और सामञ्जस्य पूर्ण होना चाहिए। यदि अलङ्कार और काव्य दोनों का प्राण है तो दोनों के एक प्राण होने पर ही काव्य के स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण होता है। अलङ्कार और काव्य के आत्मा अथवा उनके प्राणों में भेद अथवा असामञ्जस्य होने पर मनोविज्ञान के विरुद्ध व्यक्तित्व की भाँति वाक्य का व्यक्तित्व विभाजित होता है। आत्मा प्राण और देह का सन्तुलित सामञ्जस्य पूर्ण विधुर विद्या ही मनुष्य के व्यक्तित्व में पूर्ण सौन्दर्य का विधायक है। काव्य के व्यक्तित्व के सौन्दर्य विधान में एकाकार होकर ही अलङ्कार सौन्दर्य के साधक हो सकते हैं। अतः सन्तुलन सामञ्जस्य विविधता वचन्य और प्रचुरता के अनुरूप ही काव्य में अलङ्कारों का उपयोग उचित है। अज्ञान सौष्ठव की भाँति भावों का सन्तुलन और सामञ्जस्य काव्य के आकार सौन्दर्य का विधायक है। किसी भी भाव अथवा अज्ञान का अतिरिक्त आकार और महत्त्व विवृति का लक्षण और कुलपता का कारण है। सामञ्जस्य के सौन्दर्य में काव्य की आत्मा उसके प्राण और अज्ञानों से एकाकार होकर अलङ्कार की आत्मा उसके प्राण और अज्ञान उसी प्रकार तमय भाव का य के सौन्दर्य की रचना करते हैं जिस प्रकार बीजों के युग्म एक दूसरे में आत्म सात होकर सौन्दर्य में नवीन सजीव और साधारण सौन्दर्य की सृष्टि की सृष्टि करते हैं। इन सन्तुलित और समन्वित सौन्दर्य की सृष्टि में ही जीवन और काव्य के सम्पन्न स्वास्थ्य समृद्ध सौष्ठव और समय जीवन की सफलता है।

मलद्वार के अतिरिक्त काव्य के रूप निर्माण में रस, गुण, रीति, छन्द संगीत और अर्थ का भी योग है। रस की तो कुछ आचार्य काव्य की भावना ही मानते हैं। गुण और रीति भी उसके आवश्यक अंग हैं। छन्द और संगीत काव्य पुरुष की गति है। अर्थ उसका जीवन और गति का सक्षय है। इसकी परिभाषा कठिन है विभाव अनुभाव आदि के योग से चित्त में जिस अनिर्वचनीय अनुभूति की निष्पत्ति होती है उसे रस कहते हैं। विभाव अनुभाव आदि उसके उपकरण मात्र हैं इनकी सहायता से आशय के चित्त में रस का स्पर्श होता है। आँखों की देह में ही यह रसानुभूति सम्भव होती है किन्तु देह की भाँति छन्द भी उस रस का न आशय है और न उसका अभिधान करते हैं। रस अभिधाय नहीं है उसकी केवल व्यञ्जना होती है। आँखों के अभिधान उस व्यञ्जना के निमित्त मात्र हैं। रस आँखों में अतर्निहित आकृति का मर्म है। सुखरसों का किमय भाव है। जीवन में किमय भाव के रूप में ही रस की आकृति अभिव्यक्ति होती है। जीवन के यापारों में भी व्यञ्जना द्वारा ही रस की निष्पत्ति और अभिव्यक्ति होती है। जीवन के अभिधाय और स्थूल व्यापार गौरीरिक्त सुख के कारण हो सकते हैं। इन स्थूल यापारों का अभिधान (अर्थ) छन्द के अभिधान के समान ही है। आँखों के गौरव है। सुखरसों के अभिधान में रस की व्यञ्जना उसी प्रकार होती है जिस प्रकार जीवन के स्थूल और अभिधाय यापारों में अतर्निहित अलक्ष्य भावों के द्वारा चित्त में रस का सञ्चार होता है। समात्मभाव की स्थिति में आकृति की रसमयी-व्यञ्जना ही काव्य के सारमय देह में आत्मा के सौन्दर्य और प्राणा की स्फूर्ति का स्फुटन है। यह आवश्यक नहीं है किन्तु सामान्य कवितामयी व्यञ्जना का रूप पद्य में ही मिलता है। छन्द कविता के चरण हैं। सस्कृत में गद्य और नाटक भी काव्य के अंग हैं। भाषाभिरुचि द्वितीय काव्य में छन्द के अर्थ में 'रस' रहे हैं। गुणों की हम काव्य पुरुष के गुण कह सकते हैं। पुरुषों के स्वभाव के समान काव्य भी प्रसन्न मधुर और शोकपूर्ण होते हैं। प्रसाद में सत्य की पारदर्शी अभिव्यक्ति होती है। माधुर्य रस के सञ्चार का सूत्र है। शोक माधुर्य का विरोधी नहीं किन्तु उसमें तानित्व की अपेक्षा स्फूर्ति अधिक रहती है। शोक सहरो का उत्तार आशय के माधुर्य के मर्म का भी स्पर्श करता है। शोक के सज और स्फूर्तिपुत्र भाव हैं महाप्राणों वषों की पुष्पतामय नहीं। शोक में प्रचित होकर ही प्रसाद और माधुर्य शिवकाव्य की मृज्जनात्मक परम्परा के प्रेरक बनते हैं। आकृति की व्यञ्जना के साधन बनकर गुण रीति छन्द मलद्वार आदि काव्य पुरुष के व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं।

१. प्रथम कविता का विशेष स्वरूप उसने रूप और शली में ही निहित है। इस स्वरूप की अभिव्यक्ति यत्क्रोक्ति व्यञ्जना भाषाई कई नाम मिले जा सकते हैं। सामान्यतः अभिधेय भय की अपेक्षा अनुक्त भावूति की प्रचुरता कविता का स्वरूप गत लक्षण है। कविता और गद्य में अभिधान और व्यञ्जना का ही मुख्य भेद है। इतिवृत्तात्मक कविताओं में भावूति की गूढ़ता के कारण ही वह गद्य की कोटि में रहती है। भावूति का तात्पर्य भय की गूढ़ता से नहीं है। कूटता भय का गोपन है। वह कसा की तामसी गानी है जो अचङ्कार का वातावरण बनाकर पाठक की चेतना की कुण्ठित करती है। कला की वास्तविक भावूति घालोकमय है। प्रसाद गुण का व्यञ्जना से कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः प्रसन्न व्यञ्जना ही उत्तम काव्य की विधात्री है। प्रसाद भाषा की व्यवस्था में शब्द योजना की श्रेष्ठता है। यज्ञना प्रसन्न शब्दावली के व्यक्त घालोक से अत्यन्त लोकों का उद्घाटन है। उपनिषदों में कवि की दृष्टा कहा है। कविता जीवन की दृष्टि है। अभिधान आल की दृष्टि है। यज्ञना छोटी सी आल से विनाल विश्व का दर्शन है। अभिधान के सर्वोच्च और प्रसन्न शब्द घालोकमय आल के समान हैं। व्यञ्जना उनकी विशाल दर्शन की क्षमता है। प्रसाद की श्रेष्ठता इसमें बाधक नहीं बरन् वह दृष्टि को घालोक प्रदान कर व्यञ्जना की विपल विभूति को सकल बनाती है। सूक्ष्म और स्वच्छ किन्तु साध ही उच्च और विशाल दृष्टि उत्तम है। उसी प्रकार प्रसन्न और घालोकमय यज्ञना उत्तम काव्य की गली है। जिस प्रकार छोटे से दृष्टि क्षेत्र के सम्मुख विनाल विश्व घालोकिता होता है उसी प्रकार भाषा के लघु किन्तु प्रसन्न पदों के पीछे भाव का विनाल अतर्लोक विभासित होता है। शब्द भाषा के चक्ष हैं। पदों की गति ही कविता का जीवन है। पदों में दृष्टि होने के कारण काव्य भी अक्षपाद है। जिस प्रकार प्रसाद और व्यञ्जना का विरोध नहीं उसी प्रकार अभिधान और यज्ञना में भी विरोध नहीं है बरन् इसके विपरीत दोनों का सामंजस्य श्रेष्ठ कविता का गुण है। अनुक्त भावूति से रहित घषषा उक्ति और भावूति की समानता से युक्त वचन शुद्ध अभिधान है। जिस विधान में उक्त अर्थ के अतिरिक्त अनुक्त भावूति का जितना अधिक अतिगद्य होता है वह उतना ही कवित्वमय है। यत्क्रोत्तिकार का यह कथन सत्य है कि इस यज्ञना में कुछ वचन भगिमा आवश्यक है। किन्तु वह वक्रता प्रकाश किरणों की अक्षय्य वक्रता के समान है। यह प्रसाद और अभिधान की श्रेष्ठता का खण्डन नहीं करती बरन् इसके विपरीत प्रकाश किरणों की श्रेष्ठता की भाँति प्रसाद की श्रेष्ठता में वचन भगिमा की वक्रता का अतर्भाव होजाता है।

इस आकृति में विषय और वस्तुओं के अनुपगन्त निहित रहते हैं। विषय और वस्तुओं की एक विंगल परम्परा के द्वारा 'यापक' भाव की व्यञ्जना होती है। चेतना निस्पन्द होकर यही भाव 'रस' कहलाता है। इसलिए काव्यशास्त्र में रस की व्यञ्जना से युक्त काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं। जिस प्रकार फलों के रस में अनेक तत्व घुल मिलकर एक रस हो जाते हैं उसी प्रकार कवि के अभिधान से व्यञ्जित होने वाले विषयों सम्बन्धों और क्रियाओं के मानस प्रत्यय चेतना के भाव में समागम होकर रस निष्पत्ति में कृताद्य होते हैं। फलों के रस की भाँति ही काव्य का रस अनभिधेय अलक्ष्य और व्यंग होता है। वस्तु-व्यञ्जना के द्वारा भाव और रस की आकृति में प्रविष्ट होकर इतिहास के तथ्य काव्य के उपादान बनते हैं। लक्षण अभिधा और व्यञ्जना के सम्बन्ध का सेतु है। वह उक्त और अनुक्त की सत्ता का सितित्त्व है। इसी अनुरागमयी सत्ता के रजित आलोक में व्यञ्जना के अवकाश में दीप्त होने वाले स्वर्णीय स्वप्नों के अद्वयानुपी मेघ अभिधा की धरती की स्वर्ग की सम्भावनाओं से अलक्षित करते हैं। नारी के रूप सावध्य की भाँति काव्य के रस की व्यञ्जना भी विपुल चमत्कार आकर्षण और आनन्द से पूर्ण होती है। जिस प्रकार यौवन कालिदास के कथनानुसार अम का असम्भृत अलक्षार है तथा जिस प्रकार नारी का निर्वर्ज्य और निसर्ग रूप ही सर्वोत्तम है उसी प्रकार व्यञ्जना का भी सहज और प्रसन्न रूप ही उत्तम काव्य है। सम्पत्ता के विकास में जिस प्रकार अम निसर्ग सौन्दर्य के सावध्य और निर्वर्ज्य रूप की सुषमा की अलक्षारों का भार और भाव मणिमार्गों की कृत्रिमता के आच्छन्न कर लिया है उसी प्रकार काव्य के इतिहास में भी व्यञ्जना का सर्वोत्तम और सायास तथा कृत्रिम चमत्कार कविता के निसर्ग सौन्दर्य की तिरोहित करता रहा है। सरल और हिन्दी काव्य के अलक्षार युग में कविता के इसी रूप की प्रधानता रही। प्राधुनिक प्रयोगवाद में भी प्राधुनिकता के आचरण में कविता के प्राचीन इतिहास की आवृत्ति हो रही है। इन आवृत्तियों का कारण मानवीय चेतना की एक भाँति है। साधारणतः लोगों का रूप सौन्दर्य का बोध सजग और परिष्कृत नहीं होता। दूसरे मनुष्य का बोध स्वभाव से ही व्यञ्जना से प्रेरित होता है। ऐच्छिक प्रत्यक्ष में भी अल्प अवधान से अधिक अर्थ की आकृति होती है। बोध की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण व्यञ्जना और दासी की भाँति विस्तृत आकर्षक मणिमार्गों में ही मनुष्य की सौन्दर्य का भ्रम हो जाता है। इस भ्रम में मनुष्य की कल्पना का सहयोग और योग है। वस्तुतः कल्पना में व्यञ्जना की शक्ति है। इसीलिए कल्पना को कला का अंग मानते रहे हैं।

अतः कविता का विशेष स्वरूप उसने रूप और रसी में ही निहित है। इस स्वरूप की अभिव्यक्ति यद्यपि व्यञ्जना आदि कई नाम लिये जा सकते हैं। सामान्यतः अभिधेयार्थ की अपेक्षा अनुक्त भावूति की प्रचुरता कविता का स्वरूप गत लक्षण है। कविता और गद्य में अभिधान और व्यञ्जना का ही मुख्य भेद है। इतिवृत्तात्मक कविताओं में भावूति की स्पष्टता के कारण ही वह गद्य की ओटि में रहती है। भावूति का तात्पर्य अर्थ की सूत्रता से नहीं है। सूत्रता अर्थ का गोपन है। वह कला की सामग्री गली है जो अर्थद्वार का बातावरण बनाकर पाठक की चेतना की कुण्ठित करती है। इला की वास्तविक भावूति आलोकमय है। प्रसाद गुण का व्यञ्जना से कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः प्रसन्न व्यञ्जना ही उत्तम काव्य की विधात्री है। प्रसाद भाषा की व्यवस्था में शान्ति योजना की श्रुति है। व्यञ्जना प्रसन्न शान्तवली के व्यक्त आलोक से अत्यन्त सौन्दर्य का उत्पादन है। उपनिषदों में कवि की दृष्टि कहा है। कविता जीवन की दृष्टि है। अभिधान भास की दृष्टि है। यज्ञना छोटी सी भास से विनाश विश्व का दर्शन है। अभिधान के सत्त्वोन्मूल और प्रसन्न शान्त आलोकमय भास के समान हैं। व्यञ्जना उनकी विशाल दर्शन की क्षमता है। प्रसाद की श्रुति इसमें बाधक नहीं वरन् वह दृष्टि को आलोक प्रदान कर व्यञ्जना की विपुल विभूति को सफल बनाती है। सूक्ष्म और स्वच्छ किन्तु साथ ही उन्मूल और विनाश दृष्टि उत्तम है। उसी प्रकार प्रसन्न और आलोकमय यज्ञना उत्तम काव्य की गली है। जिस प्रकार छोटे से दृष्टि क्षेत्र के सम्मुख विनाश विश्व आलोकित होता है उसी प्रकार भाषा के लघु किन्तु प्रसन्न पदों के पीछे भाव का विनाश अतिसौन्दर्य विभासित होता है। शान्त भाषा के चक्षु हैं। पदों की गति ही कविता का जीवन है। पदों में दृष्टि होने के कारण काव्य भी अक्षपाद है। जिस प्रकार प्रसाद और व्यञ्जना का विरोध नहीं उसी प्रकार अभिधान और यज्ञना में भी विरोध नहीं है वरन् इसके विपरीत दोनों का सामंजस्य अथवा कविता का गुण है। अनुक्त भावूति से रहित अथवा उक्ति और भावूति की समानता से युक्त वचन शुद्ध अभिधान है। जिस विधान में उक्त अर्थ के अतिरिक्त अनुक्त भावूति का जितना अधिक प्रतिपाद होता है वह उतना ही कवित्वमय है। यद्यपि कवि का यह कथन सत्य है कि इस यज्ञना में कुछ वचन अनिवार्य आवश्यक है। किन्तु वह वक्ता प्रकाश किरणों की असह्य वक्रता के समान है। यह प्रसाद और अभिधान की श्रुति का खण्डन नहीं करती वरन् इसके विपरीत प्रकाश किरणों की श्रुति की भाँति प्रसाद की श्रुति में वचन अनिवार्य वक्रता का अन्तर्भाव होता है।

इस भावूति में विषय और वस्तुओं के अनुषंग अन्तर्निहित रहते हैं। विषय और वस्तुओं को एक विज्ञान परम्परा के द्वारा व्यापक भाव की धारा बना होनी है। चेतना में निस्पन्द होकर यही भाव 'रस' कहलाता है। इसलिये काव्यशास्त्र में रस की व्यञ्जना से युक्त काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं। जिस प्रकार फलों के रस में अनेक तत्व घुल मिलकर एक रस हो जाते हैं उसी प्रकार शब्दों के अभिधान से व्यञ्जित होने वाले विषयों सम्बन्धों और क्रियाओं के मानस प्रत्यक्ष चेतना के भाव में समागम होकर रस निष्पत्ति में कृताय होते हैं। फलों के रस की भाँति ही काव्य का रस अनभिधेय, अलक्ष्य और व्यग होता है। अस्तु व्यञ्जना के द्वारा भाव और रस की भावूति में प्रतिबत होकर इतिहास के तथ्य काव्य के उपादान बनते हैं। ससण अभिधा और व्यञ्जना के सम्बन्ध का सेतु है। वह उक्त और अनुक्त की सत्ता का सितित्व है। इसी अनुरागमयी सत्ता का रजित आलोक में व्यञ्जना के अवकाश में दीप्त होने वाले स्वर्गीय स्वप्नों के दृश्यपूर्ण मेघ अभिधा की धरती की स्वप्न की सम्भावनाओं से अलङ्कृत करत है। नारी के रूप लावण्य की भाँति काव्य के रस की व्यञ्जना भी विपुल चमत्कार आकर्षण और आनन्द से पूर्ण होती है। जिस प्रकार मोहन कालिदास के कथनानुसार भग का असम्भृत मलकार है तथा जिस प्रकार नारी का निर्व्याज और निसंग रूप ही सर्वोत्तम है उसी प्रकार व्यञ्जना का भी सहज और प्रसन्न रूप ही उत्तम काव्य है। सम्पत्ता के विकास में जिस प्रकार इन निसंग सौन्दर्य के लावण्य और निर्व्याज रूप की सुषमा की मलकारों के भार और भाव भगिमाओं की कृत्रिमता में आच्छन्न कर लिया है उसी प्रकार काव्य के इतिहास में भी व्यञ्जना का सचेष्ट और साधारण तथा कृत्रिम चमत्कार कविता के निसंग सौन्दर्य को तिरौटित करता रहा है। सरवृत और हिंदी काव्य के मलकार युग में कविता के इसी रूप की प्रधानता रही। आधुनिक प्रयोगवाद में भी आधुनिकता के आवरण में कविता के प्राचीन इतिहास की आवृत्ति हो रही है। इन आवृत्तियों का कारण मानवीय चेतना की एक भाँति है। साधारणतः लोगों का रूप सौन्दर्य का बोध राजग और परिष्कृत नहीं होता। दूसरे मनुष्य का बोध स्वभाव से ही व्यञ्जना से प्रेरित होता है। ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष में भी अल्प संवेदना से अधिक भय की भावूति होती है। बोध की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण व्यञ्जना और धर्मी की भाव विस्तृत आकर्षक भगिमाओं में ही मनुष्य की सौन्दर्य का भ्रम हो जाता है। हम भ्रम में मनुष्य की कल्पना का सहयोग और दोष है। वस्तुतः कल्पना में व्यञ्जना की शक्ति है। इसीलिए कल्पना को बना का भ्रम मानते रहे हैं।

ईश्वर कविता का विशेष स्वरूप उसने रूप और शरीर में ही निहित है। इस स्वरूप को अभिव्यक्ति यन्त्रोक्ति व्यञ्जना आदि कई नाम दिये जा सकते हैं। सामान्यतः अभिप्रेष्य भय की अपेक्षा अनुक्त भावूति की प्रचुरता कविता का स्वरूप गत लक्षण है। कविता और गद्य में अभिधान और व्यञ्जना का ही मुख्य भेद है। इतिवृत्तात्मक कविताओं में भावूति की शून्यता के कारण ही वह गद्य की ओर झुकती है। भावूति का तात्पर्य भय की शून्यता से नहीं है। शून्यता भय का गोपन है। वह कला की सामग्री नहीं है जो प्रत्यक्ष रूप से वातावरण बनाकर पाठक की चेतना को क्लिष्ट करता है। कला की वास्तविक भावूति आलोकमय है। प्रसाद गुण का व्यञ्जना से कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः प्रसन्न व्यञ्जना ही उत्तम काव्य की विधात्री है। प्रसाद भाषा की व्यवस्था में शब्द योजना की श्रेष्ठता है। यञ्जना प्रसन्न शब्दावली के व्यक्त आलोक से अत्यन्त सौकों का उत्पादन है। उपनिषदों में कवि की दृष्टि ब्रह्मा है। कविता जीवन की दृष्टि है। अभिधान आलोक की दृष्टि है। व्यञ्जना छोटी सी आलोक से विनाश विश्व का दर्शन है। अभिधान के सत्त्वोत्तम और प्रसन्न शब्द आलोकमय आलोक के समान हैं। व्यञ्जना उनकी विनाश दर्शन की क्षमता है। प्रसाद की श्रेष्ठता इसमें बाधा नहीं बरन् वह दृष्टि को आलोक प्रदान कर व्यञ्जना की विपुल विभूति को सकल बनाती है। सूक्ष्म और स्वच्छ किन्तु साथ ही उत्तम और विनाश दृष्टि उत्तम है। उसी प्रकार प्रसन्न और आलोकमय यञ्जन उत्तम काव्य की शरीर है। जिस प्रकार छोटे से दृष्टि क्षेत्र के सम्मुख विनाश विश्व आलोकित होता है उसी प्रकार भाषा के लघु किन्तु प्रसन्न पदों के पीछे भाव का विनाश सत्त्वोत्तम विभासित होता है। शब्द भाषा के चरित्र हैं। पदों की गति ही कविता का जीवन है। पदों में दृष्टि होने के कारण काव्य भी प्रसन्न है। जिस प्रकार प्रसाद और व्यञ्जना का विरोध नहीं उसी प्रकार अभिधान और यञ्जना में भी विरोध नहीं है वरन् इसके विपरीत दोनों का सामंजस्य श्रेष्ठ कविता का गुण है। अनुक्त भावूति से रहित भयवा उक्ति और भावूति की समानता से युक्त वचन शुद्ध अभिधान है। जिस विधान में उक्त भय के अतिरिक्त अनुक्त भावूति का जितना अधिक प्रतिशत होता है वह उतना ही कवित्वमय है। यन्त्रोक्तिवार का यह कथन सत्य है कि इस यञ्जना में कुछ वचन भगिमा आवश्यक है। किन्तु वह वक्रता प्रकाश किरणों की प्रसन्न वक्रता के समान है। यह प्रसाद और अभिधान की श्रेष्ठता का लक्षण नहीं करता वरन् इसके विपरीत प्रकाश किरणों की श्रेष्ठता की भाँति प्रसाद की श्रेष्ठता में वचन भगिमा की वक्रता का अन्तर्भाव हो जाता है।

इस आकृति में विषय और वस्तुओं के अनुपग भन्तनिहित रहते हैं। विषय और वस्तुओं की एक विशाल परम्परा के द्वारा यापक भाव की यजना होती है। चतना ॥ निस्पन्द होकर यही भाव 'रस' कहलाता है। इसलिए काव्यशास्त्र में रस की यजना से युक्त काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं। जिस प्रकार फलों के रस में अनेक तत्व घुल मिलकर एक रस हो जाते हैं उसी प्रकार गानों के अभिधान से योजित होने वाले विषयों सम्बन्धों और क्रियाओं के मानस प्रत्यय चेतना के भाव में तन्मय होकर रस निष्पत्ति में कृतप होते हैं। फलों के रस की भाँति ही काव्य का रस अनभिधेय अलक्ष्य और व्यंग होता है। अस्तु यजना के द्वारा भाव और रस की आकृति में परिवर्त होकर इतिहास के तथ्य काव्य के उपादान बनते हैं। लक्षण अभिधा और व्यजना के सम्बन्ध का सेतु है। वह उक्त और अनुक्त की सत्ता का सित्ति है। इसी अनुरागमयी सत्ता के रजित आलोक से यजना के भवकाण में दीप्त होने वाले स्वर्गीय स्वप्नों के द्विधनुषी मेघ अभिधा की धरती को स्वर्ग की सम्भावनाओं से अलङ्कृत करते हैं। नारी के रूप लावण्य की भाँति काव्य के रस की व्यजना भी विपुल चमत्कार आकर्षण और आनन्द से पूर्ण होती है। जिस प्रकार जीवन कालिदास के कथनानुसार अंग का असम्भृत अलङ्कार है तथा जिस प्रकार नारी का निर्याज और निसर्ग रूप ही सर्वोत्तम है उसी प्रकार व्यजना का भी सहज और प्रसन्न रूप ही उत्तम काव्य है। सम्मता के विकास में जिस प्रकार इस निसर्ग सौन्दर्य के लावण्य और निर्याज रूप की सुषमा को अलङ्कारों के भार और भाव भगिमाओं की कृत्रिमता ने आच्छन्न कर लिया है उसी प्रकार काव्य के इतिहास में भी यजना का सर्वेष्ट और सायास तथा कृत्रिम चमत्कार कविता के निसर्ग सौन्दर्य को तिर्रोहित करता रहा है। सश्रुत और हिंदी काव्य के अलङ्कार युग में कविता के इसी रूप की प्रधानता रही। आधुनिक प्रयोगवाद में भी आधुनिकता के आवरण में कविता के प्राचीन इतिहास की भावृत्ति हो रही है। इन भावृत्तियों का कारण मानवीय चेतना की एक भाँति है। साधारणतः लोगो का रूप सौन्दर्य का बोध सजग और परिष्कृत नहीं होता। दूसरे मनुष्य का बोध स्वभाव से ही व्यजना से प्रेरित होता है। ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष में भी अल्प सवेदना से अधिक भय की आकृति होती है। बोध की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण व्यजना और दासी की बाह्य किंतु आन्तरिक भगिमाओं में ही मनुष्य की सौन्दर्य का भ्रम हो जाता है। इस भ्रम में मनुष्य की कल्पना का सहयोग और दोष है। वस्तुतः कल्पना में व्यजना की शक्ति है। इसीलिए कल्पना को कला का मम मानते रहे हैं।

दग व्यञ्जना और वस्तुना की प्रभुगता के कारण कविता की वपनभगिमा तथा नारी की भाव भगिमा और दोता के योग धनधार तथा प्रगाथन आदि में ही वास्तविक सौन्दर्य का भ्रम हो जाता है। रीतिज्ञान व काव्य की भाँति पमस्वार पूरा उत्ति ही धयवा धारधारों की रमणीय योजना ही गुंजर काव्य कहलाते लगती है। धयवा धायुनिक प्रयोगवाणी काव्य की भाँति भाव और वपन की भगिमा में ही कला का श्रुतिरव रह जाता है। काव्य सौंदर्य के स्तर पर लोगों की दृष्टि भी नहीं जाती। कला की यह भाँति नारी के रूप सौंदर्य के सम्बन्ध में सम्यक्ता की धायुनिक धाँति व समान है। धाज नारी के श्रुद्धार प्रसाधन सञ्चा और धलधार का धादध्वर और धमत्वार इतना बन गया है कि उसका किसी भी पद से धमत्कृत होकर दृष्टि की सौंदर्य का भ्रम हो जाता है। हवा में सत्तानी हुई साड़ी का रणीन पल्ला लहाराती हुई पटी धमकती हुई बिंदी भूलत हुये धुमक आदि कोई भी उपकरण धयवा कटि, कर नयन धयर किसी भी धातु की भगिमा नारी के सौंदर्य का भ्रम उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गीत काव्य में कोई गद धयवा धलधार तथा प्रयोगवाणी काव्य में किसी भाव धयवा पद की भगिमा कविता के सम्पूर्ण सौंदर्य की भाँति व लिए पर्याप्त है। स्वाभाविक होते हुए भी धयवा स्वाभाविक होने के कारण ही यह कविता की रचना धयवा उसके धास्वादन का परिष्कृत समृद्ध रूप नहीं है। इसमें मनुष्य की सजग और समृद्ध धेतना का सस्वार नहीं है। वास्तविक सौंदर्य न कबल कोई निसग तत्व है और न वह कबल व्यञ्जना धयवा भगिमा की गली है। वस्तुतः सौंदर्य का सम्पूर्ण रूप तत्व धयवा गली का सांस्कृतिक समन्वय है। सामास व्यञ्जना और धलधारण की धल्पता इस सांस्कृतिक सौंदर्य की निसगता का लावण्य प्रदान करती है। धात्मीक के का व और धाधम की सत्यता में ही सस्कृति का यह निसग सौंदर्य धपने पूरा और समृद्ध रूप में मिलता है। भाव भगिमा और धलधारों की प्रधुरता में भी कालिदास में भारतीय सस्कृति की इस प्राचीन विभूति के धवशय सुरक्षित हैं। नारी का निसग सौंदर्य उनका विषय है। धलकृत गली में भी धनायास और निसग कला का बहुत कुछ सौंदर्य विद्यमान है। कालिदास की महिमा का यही मम है।

धभिधक्ति की व्यञ्जना में धवित होकर जीवन के तत्व काव्य बन जाते हैं। काव्य का सामास स्वरूप सौ जीवन के तत्व में सौंदर्य का यही स्फोट है। ध्यन संगीत आदि के साथ काव्य का कोई धनिवाय सम्बन्ध नहीं

है। इसीलिए सस्कृत साहित्य की परम्परा में नाटक और गद्य भी काव्य के अंतर्गत हैं। जीवन के तत्व और भाव की व्यञ्जनामयी अभिव्यक्ति गद्य में भी समभव है। छन्द और संगीत का सम्बन्ध गद्य और स्वर याचना की लय से है, तत्व और भाव की व्यञ्जना से नहीं। छन्द और संगीत का सम्बन्ध गद्य और स्वर याचना की लय से है, तत्व और भाव की व्यञ्जना से नहीं। छन्द और संगीत इस योजना में सहायक हो सकते हैं किन्तु इसका आवश्यक प्रयोग नहीं। छन्द और संगीत से रहित हान पर भी कादम्बरी मस्कृत काव्य की पर्याप्त श्रेष्ठ उदाहरण दी जाती है। अभिव्यक्ति की योजना का सीधे कादम्बरी में किसी काव्य से कम नहीं मस्कृत के प्रसिद्धों में तो यह परम्परा है कि कादम्बरी अतिल लस भरी। वस्तुतः कालिदास के अतिरिक्त कादम्बरी के समान लस निभर रचना सस्कृत साहित्य में दुर्लभ है। कालिदास में कादम्बरी का भाव गम्भीर नहीं है उसमें तत्व की अपेक्षा सीधे और अलंकार अधिक है। भारवि की व्यञ्जना में वाण की श्रुति नहीं है यद्यपि भाव गम्भीर पर्याप्त है। कादम्बरी में वाण के वाक्य अनुभव की निधियाँ जीवन के मार्मिक और गम्भीर तत्वों के रूप में जिस विपुलता के साथ मिलती हैं वह अन्यत्र सम्भव नहीं। भारवि में नीति और व्यंग अधिक हैं। जीवन के तत्वों की वह विपुलता और व्यञ्जना की प्राबलता नहीं है जो कादम्बरी में सबल मिलती है। इन दृष्टि से कादम्बरी सस्कृत का सर्वश्रेष्ठ काव्य है।

में गद्य काव्य के भाव प्रमूढ गुम्फित रहते हैं। लय के प्रवाह में भाव और स्वर दोनों की गति गुम्फित रहती है। लय गद्य काव्य का प्राण है। लय की गति में गुम्फित रहने के कारण हिन्दी गद्य काव्य के भाव स्तर में एक अस्वाभाविक आवेग है जो प्रलाप के सतिनष्ट प्रतीत होता है। भाव का यह आवेग संगीत में स्वर की गति के साथ भाव की संगति के लिए आवर्धन है। स्वर के आरोह का सहगामी बनकर भाव का आरोह आवेग बन जाता है। आवेग जीवन की असाधारण अवस्था है। अतः जिस प्रकार यह समस्त जीवन का व्यापक अङ्ग नहीं है उसी प्रकार वह समस्त का व्यापक अंग भी नहीं बन सकता। जीवन भाव नहीं अनुभूति आत्मभाव और ज्ञान है। आवेग अनाचित उत्पन्न होने वाली बिहृत और अपवादा है। स्वाभाविक होने हुए भी वह सामान्य नहीं इस आवेग के प्राकृत रूप को रस का आधार मानकर अधिकांश संस्कृत और हिन्दी काव्य सम्वेदनाओं की सीमा में संकुचित हो गया तथा उसमें काव्य व सांस्कृतिक रूप का समुचित आदर न हो सका। इस आवेग की असाधारणता के कारण ही हिन्दी गद्यकाव्य की परम्परा में प्रगति न हो सकी। गद्य काव्य का हिन्दी साहित्य में उगना ही परिमाण और महत्व है जितना जीवन में आवेग है। जीवन की आधारस्थितियों और उसके सामान्य तत्वा के आधार पर रचित कादम्बरी की भाँति गद्य काव्य हिन्दी में बहुत कम है। चण्डीप्रसाद हृदयेग में बाण का नाट्य अनुकरण है। हिन्दी की उच्चात आवेगमयी गली में कादम्बरी की भाँपा शली के मिश्रण से जो सगर हृदयेग जी ने हिन्दी को दिया वह माय प्राकृतिक सकारों की भाँति ही किसी परम्परा का बाह्य न बन सका। जयशंकरप्रसाद के गद्य और नाटकी में कादम्बरी की शली के गद्य काव्य का अधिक सकल रूप मिलता है। मुख्यतः नाटककार होने के कारण जयशंकरप्रसाद के गद्य और पद्य दोनों में सामान्यतः एक नाटकीय भोज और आवेग व्याप्त है। हिन्दी गद्य काव्य की गली व प्रलाप भी अपवाद के रूप में प्रसाद जी की रचनाओं में मिलते हैं। सामान्यतः उनके भाव में भोज अधिक है और आवेग कम बाण और प्रसाद दोनों के सम्बन्ध में यह एक सामान्य भाँति है कि उनकी भाँपा त्रिशू है। बाण की समाज गली और प्रसाद की गणवली ने इस भ्रम के प्रचार का आधार दिया है। समास और गणवली विनष्टता का कारण नहीं है। विनष्टता अभिव्यक्ति की दुरुहता और कूटता है। भारवी श्री हय और माय में इसका उल्हास मिल सकता है। समास कादम्बरी के समान दीपता और विपुलता के द्वारा तथा गणवली प्रिय प्रवास की भाँति

उस प्राकृति को गुणम घोर उगरे घान द को गुणम बना देता है। वाग्य का स्वर से कोई पनिष्ट गम्भीर घोर मोलित सम्मय है इगीमिय भारतीय परम्परा में वाग्य द्यो भगवति सरस्वति क हाथ म बीणा है घोर हंस क प्रतिरिक्त उनका एक याता मयूर भी है। हग गाता का मयूर मगति का प्रतीक है। हरा का पुष्प वणु ज्ञान क सायक सरस्व गुण के साथ साथ विरोध की प्रतिभा का प्रतीक है। विरोध ज्ञान का मूल स्वरूप है। मयूर का स्याभाविक स्वर पडज है। मूसापाट से उत्थित पडज स्वर घोर सगीत का मूल है। मयूर का नित्र वणु चित्र बला का प्रतीक है। मयूर क पडज की भांति सगीतज्ञों ने प्रायः पशुओं की वाणी में प्रायः स्वरों का सोज की है। कोकिल का जन्म पचम स्वर म होता है। हाथी की बिघाड़ का स्वर निपाय है। पशुओं की वाणी का सगीत क स्वरों क रूप में निर्धारण यों सक्त करता है कि कदाचित् जीवा क विकास में स्वर का स्फोट सगीत क अनुकूल ही हुआ है। ऐकसपियर ने गिताओ म सगीत की खोज की थी। वह तो ग्रामा का प्राग्द सगीत है किन्तु प्राग्मयी प्रकृति म सगीत की व्याप्ति नसगिक नियाई देती है। विनाल दृष्टि कवि इसका मूल विषय ओकों क सगीत में खोजते हैं। मानों विश्व के यह नक्षत्र किसी महान सगीत की लय म चिर-तन नृत्य कर रहे हैं। एक घ गुप्त की देव सेना की धारणा क अनुकूल विश्व जीवन की प्रत्येक गति में एक लय है एक सगीत है। भारतीय सस्कृति की परम्परा में सृष्टि क गिहर पर मासीन जीवन के चरम लक्ष्य क प्रतीक शिव योगी वर होने क साथ साथ नटराज भी है। डमरु निर्घोष क साथ उनका लास्य और ताण्ड्य सृष्टि और प्रलय का सगीत है। विश्व सगीत की यह व्यापक लय ही जीवों क स्वर में स्फुटित हुई है। जीवों के प्राग् सगीत के सप्त स्वरों का निर्धारण प्रतिष्ठ है। मनुष्य क विकसित रूप में चेतना गीत और ज्ञान दोनों रूपों में स्फुटित हुई है। ज्ञान उसक मस्तिष्क और बुद्धि के विषय विकास का फल है। गीत या सगीत उसक स्वर का वह सहज रूप है जो प्रायः जीवों क साथ उसक अधुत्व की सामान्य विभूति है। वधा और स्त्रियों का रोदन भी प्रायः सगीत की लय विद्यमान रहती है। बालकों का समस्त जीवन सगीत की एक नसगिक मणि में लीन रहता है। उनकी गति कृति और उनका आलाप सब मानो एक सगीत शृङ्खला की कड़ियों की झुंकार है। कदाचित् सगीत विश्व जीवन की नसगिक गति और लय है। बालकों की भांति ही मनुष्य की प्राचीन लोक सस्कृति का रूप भी सगीतमय है। मनुष्य का प्राचीन साहित्य भी वाग्य क रूप म है। वेदों के समान उसका वाग्य में सगीत का एक समृद्ध रूप है। सगीत और वाग्य ही जीवन तथा सस्कृति का मौलिक रूप है।

किंतु जीवन और सम्यता व विकास के साथ बुद्धि का उदय होता है। चेतन होत हुए भी बुद्धि में एक प्रकार की स्थिरता है। जिसका भावित्व सकल वस्तुओं ने अपने दान में किया है। जीवन गति है और संगीत भी गति है। बुद्धि और ज्ञान में गति नहीं अवगति है। गतिगीत जीवन और विद्वत् को स्थिर सङ्गों में विभाजित करके उनके रूप का निर्धारण ज्ञान का धर्म है। जिज्ञासा माना वृत्त करके गति का अवरोध कर देती है। संगीत की लय सहित हुआ जाती है और जीवन का नन्दाज विवकी बन जाता है। इसी अवरोध से ज्ञान और गति का उदय होता है। संगीत जीवन की लय है। गद्य ज्ञान का उदय है इसीलिये मनुष्य व समाज में गद्य का विकास जिज्ञासा के बाद विलम्ब से ही हुआ। वाक्य व जीवन में भी जीवन की संगीतमयी लय का भाग्य पहिना होता है जिसका और अवगति का उदय पीछे होता है और इनका विकास तो धीरे धीरे बहुत विलम्ब से होता है। इसी दृष्टिकोण से लोके ने ज्ञान को जीवन और सम्यति का आदिम रूप माना है। जिज्ञासा और अवगति जीवन की लय का सहित और उसकी गति को निमित्त बना देते हैं। ज्ञान जिज्ञासों का उदय इसी निमित्तता का फल है। वृत्तों इसी जीवन का अवश्य मानता है क्योंकि उसका अनुसार गति और सत्य ही लय का सर्वोद्भूत रूप है। हीगल के ऐतिहासिक दृष्टिकोण का समर्थन होने के कारण क्रांच इस विकास मानता है। हीगल और क्रांच के अनुसार जो ज्ञान रूप में उत्तर है वही आधुनिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी श्रेष्ठतर है। दृष्टिकोण के अन्तर्गत हम जिज्ञासा और अवगति को चेतना का उदय और अवश्य दोनों ही मान सकते हैं। जीवन व स्वाभाविक संगीत और वाक्य की लय को सहित करने के कारण इसे अवश्य कहा जा सकता है। जीवन में एक गहरी विद्या और ज्ञान का उद्घाटन करने के कारण हम इस अवश्य भी कह सकते हैं। मस्तिष्क और बुद्धि व विकास के बाद नसगिक संगीत की लय व प्रवास ध्यान में लीन रहना संभव नहीं। ज्ञान का विकास मनुष्य के समस्त जीवन की चेतना का एक आवश्यक चरण है। विचार और गद्य का विकास इसी चरण का इतिहास है। पूर्व चरण के विपरीत होने के कारण हम वाक्य संगीत और लय की पूर्व विनूतियों विनय हो जाती है किंतु ज्ञान और आत्मिक की नई विनूतियों का उदय होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इन विनूतियों के बिना मनुष्य का जीवन और उसकी सत्कृति प्रपूर्ण और दीन रह जायगा। किंतु साथ ही यह भी सत्य है कि जिस प्रकार व्यक्ति और जाति के प्रारम्भिक जीवन के संगीत और वाक्य की सम्पत्ता हो जीवन का पथप्रसाध नहीं है उसी प्रकार ज्ञान और विचार का द्वितीय

चरण भी विकास का अंश नहीं है । जीवन और सस्कृति की वास्तविक पूर्णता और समृद्धि उस तृतीय चरण में है जिसमें इन दोनों का सहज सम्बन्ध है । दार्शनिक ज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान दोनों के एकांगी और सम्पूर्ण रहने के कारण इस सम्बन्ध की भूमिका मानवीय सस्कृति में समुचित रूप में नहीं बन रही है । सतार्थियों तक धर्म और दान के धमूरे प्रपञ्चों में भटकने के बाद विज्ञान के बख्तर से आश्रित सम्प्रदाय आज सबनाग के बगारे पर खड़ी है । प्रथम और द्वितीय चरणों के सम्बन्ध का प्रश्न आज अस्तित्व के प्रश्न के सामने खड़ा हो गया है । प्रथम चरण के भी पूर्व की भौतिक स्थिति सम्प्रदाय की समस्या बनकर आज हमारे दोनों की सस्कृति की अस्तित्व बना रही है किन्तु आज असम्भव होते हुये भी सत्य का यही सम्पूर्ण रूप है । इसी रूप में शिव और सुन्दर के साथ सत्य का पूर्ण सम्बन्ध है । बौद्ध सिध्दांशों की कम विधियों में निबद्ध होने के पूर्व भारतीय सस्कृति में यह सम्बन्ध सब प्रथम चरित्राव्य हुआ था । आज तक सत्य का यही समन्वित रूप भारतीय जीवन और सस्कृति की प्राण प्रेरणा रहा है । सहस्राब्दियों की कठिन और सङ्कटमय यात्राओं में यही उसका सम्बन्ध रहा है । बौद्ध युग के बाद प्राचीन युग की आध्यात्म सस्कृति में इसी सम्बन्ध का एक नवीन संस्करण प्रसिद्ध हुआ । मध्ययुग का सामाजिक सस्कृति में इसका तीव्र संस्करण हुआ । राज सत्ता और नागरिक सम्प्रदाय के प्रभुत्व और आडम्बरों के प्रभाव से इन संस्करणों में सम्बन्ध की शक्ति और प्रतिभा क्रमशः क्षीण होती गई । अन्तिम चरण के क्षीण सम्बन्ध की राजनीति विज्ञान और व्यापार की विषमताओं का ऐसा आघात लगा कि सम्बन्ध के चतुर्थ चरण की आशा सस्कृति के सबनाग की आशङ्का बन रही है । सबनाग के पूर्व प्रकृति में नियम में अनुरूप सस्कृति के सभी श्रोत सूख रहे हैं और मनुष्य का अंतर सूख हो रहा है फिर भी यह सत्य है कि यही सम्बन्ध सस्कृति का मौलिक रूप है इसी के नव नव संस्करण चरित्राव्य में जल के नवीन धाराओं के समान जीवन की नवीन धाराओं और सौन्दर्य के पद प्रदान करते रहेगे । बुद्धि और जिज्ञासा से जहाँ एक ओर विषमता उत्पन्न होती है वहाँ समता में ही ज्ञान और बुद्धि का अन्तिम समाधान होता है । सम ही सस्कृति और सङ्गीत दोनों का मूल सत्य है । गीता के अनुसार अध्यात्म का समत्व योग कहलाता है (समत्व योग उच्यते) सङ्गीत में वह सम है सस्कृति में वह दोनों चरणों का संयोग है । गीत का स्वरूप एक महयोग में तीनों की अविति का प्रतीक है ।

अस्तु सङ्गीत और नय से भाव और व्यञ्जना का अनिष्ट सम्बन्ध होने

के कारण अधिकांश काव्य पद्य और छंद के रूप में पाया जाता है। कुछ प्राधुनिक कवि छंद के बंध को कविता का एक कृत्रिम और अनावश्यक बंधन मानते हैं। प्राधुनिक प्रयोगवादी काव्य में छंद हीन कविता के प्रयोग हुये हैं। किंतु छंद का य का कितना स्वाभाविक रूप है कि वहिक परम्परा में छंद बंध का पर्याय है। भाषा और व्याकरण के वहिक प्रयोग को छंदस प्रयोग कहते हैं। इतना अवश्य है कि वेद के छंद वहिक भाषा के सस्वर उच्चारण के कारण सङ्गीत के अत्यन्त निकट है। लौकिक संस्कृत और हिन्दी ने मात्राप्रो का स्वर भार मिश्रित होने के कारण सङ्गीतमय सस्वरता नहीं है। सङ्गीत की लय के लिये स्वर का लघोलापन अपेक्षित है फिर भी संगीत की लय स्वयं इतनी लघोली है कि लौकिक संस्कृत और हिन्दी से सन्तुलित भाषा विधान में भी वह बहुत कुछ सुरक्षित रह सकी है। संस्कृत के इलोक पाठ वृज भाषा के पद्य गायन तुलसीदास के रामायण के पाठ और लखी बोली के प्राधुनिक गीतकारों के स्वर सञ्चान में इन भाषाप्रो की संगीतमयता का परिचय मिलता है। सस्वर उच्चारण न होते हुये भी संगीत के स्वर विधान से इन भाषाप्रो के काव्य की बहुत संगति है। रोगों के नियमित बंध तो एक दृष्टि से संगीत के छंद ही हैं। वस्तुतः सङ्गीत का प्राण लय है जो छंद और कविता में ही नहीं गद्य में भी सम्भव है। लय स्वर की तरङ्ग है। स्वर के आरोह और अवरोह की एक सङ्गति और सामञ्जस्य पूरा परम्परा ही लय का मूल है। यह लय ही सङ्गीत का शुद्ध स्वरूप है। छंद और गद्य से इसका कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। बाह्य सङ्गीत में केवल स्वरों की लय योजना भाव की सृष्टि करती है। कुछ लोग सङ्गीत के साथ भाव का आवश्यक सम्बन्ध नहीं मानते किन्तु उत्सव, युद्ध शोक आदि के समय वाद्यों के स्वर विधान का भेद भाव के साथ स्वर लय के घनिष्ठ सम्बन्ध की प्रमाणित करता है। भाषा के शब्दों के द्वारा काव्य रचना में भाव के साथ लय की प्रविष्ट कविता की उत्पत्ति विभूति की अनमोल बना देती है। अर्थ की प्राकृति भाव की अभिव्यक्ति और उसके ग्रहण की अधिक गमूदा और सुगम बना देती है। इसीलिये केवल वाद्य सङ्गीत का प्रचार राज्य मय सङ्गीत की अपेक्षा कम है। वाद्य सङ्गीत के साथ वाद्य सङ्गीत की प्रावण्यता उसके महत्व और उसकी मौलिकता की प्रमाणित करती है। संगीत योजनाप्रो में दोनों का सम्बन्ध दोनों की स्वाभाविक संगति का चोख है।

परन्तु लय की प्रपञ्चा व्यतिरिक्त स पूरा प्राकृति की व्यञ्जना कविता

चरण भी विकास का अन्त नहीं है । जीवन और सस्कृति की वास्तविक पूर्णता और समृद्धि उस तृतीय चरण में है जिसमें इन दोनों का सहज सम्बन्ध है । दार्शनिक ज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान दोनों के एकांगी और अपूर्ण रहने के कारण इस समन्वय की भूमिका मानवीय सस्कृति में समुचित रूप से नहीं बन रही है । सताशियों तक घम और दगन के झगुरे प्रपञ्चों में भटकने के बाद विनाश के बवंडर से आकांत सम्पत्ता आज सबनाश के बगारे पर खड़ी है । प्रथम और द्वितीय चरणों के सम्बन्ध का प्रश्न आज अस्तित्व के प्रश्न के सामने खड़ा हो गया है । प्रथम चरण के भीषण की नैसर्गिक स्थिति सम्पत्ता की समस्या बनकर आज घमसे दोनों की सस्कृति की असम्भव बना रही है किन्तु आज असम्भव होते हुये भी सत्य का यही सम्पूर्ण रूप है । इसी रूप में शिव और मुन्दर के साथ सत्य का पूर्ण सम्बन्ध है । ब्रह्म सच्चिदानन्दों की ब्रह्म विधियों में निबद्ध होने के पूर्व भारतीय सस्कृति में यह सम्बन्ध सब प्रथम चरित्राध्य हुआ था । आज तक सत्य का यही समन्वित रूप भारतीय जीवन और सस्कृति की प्राण प्रेरणा रहा है । सहस्राब्दियों की कठिन और सङ्कटमय यात्राओं में यही उसका सम्बल रहा है । ब्रह्म युग के बाद प्राचीन युग की आश्रम सस्कृति में इसी सम्बन्ध का एक नवीन स्वरूप प्रसिद्ध हुआ । मध्ययुग का आश्रम सस्कृति में इसका तीसरा स्वरूप हुआ । राज सत्ता और नागरिक सम्पत्ता के प्रभुत्व और आडम्बरी के प्रभाव से इन स्वरूपों में सम्बन्ध की गति और प्रतिभा क्रमशः क्षीण होती गई । अन्तिम चरण के क्षीण सम्बन्ध की राजनीति विज्ञान और व्यापार की विषमताओं का ऐसा आघात लगा कि सम्बन्ध के चतुर्थ चरण की आशा सस्कृति के सबनाश की आशङ्का बन रही है । सबनाश के पूर्व प्रकृति के नियम के अनुरूप सस्कृति के सभी अंग सूल रहे हैं और मनुष्य का अन्तर क्षुब्ध हो रहा है फिर भी यह सत्य है कि यही सम्बन्ध सस्कृति का मौलिक रूप है इसी के नव नव स्वरूप चरित्राध्यों में जल के नवीन आगम के समान जीवन की नवीन श्रम और सौन्दर्य के पत्र प्रदान करते रहेगे । बुद्धि और जिज्ञासा से जहाँ एक ओर विषमता उत्पन्न होती है वहाँ समता में ही ज्ञान और बुद्धि का अन्तिम समाधान होता है । सम ही सस्कृति और सङ्गीत दोनों का मूल तत्व है । गीता के अनुसार अध्यात्म का समत्व योग कहलाता है (समत्व योग उपपत्ते) सङ्गीत में यह सम है सस्कृति में वह दोनों चरणों का समीप है । शिव का स्वरूप एक महयोग में तीनों की अविति का प्रतीक है ।

अस्तु सङ्गीत और नय से भाव और व्यञ्जना का घनिष्ठ सम्बन्ध होने

कि कारण अधिकांश काव्य पद्य और छन्द के रूप में गाया जाता है। कुछ प्राच्यनिक कवि छन्द के अंग को कविता का एक अंग मानते हैं। प्राच्यनिक प्रयोगवादी काव्य में छन्द हीन कविता के प्रयोग हुये हैं। किंतु छन्द काव्य का कितना स्वाभाविक रूप है कि यन्त्रिक परम्परा में छन्द वेद का पर्याय है। भाषा और व्याकरण के वैदिक प्रयोग की छांदस प्रयोग कहते हैं। इतना अवश्य है कि वेद के छन्द वैदिक भाषा के सस्वर उच्चारण के कारण सङ्गीत के अन्तर्गत निकट है। लौकिक सङ्गीत और हिन्दी ने मात्राओं का स्वर भार निश्चित होने के कारण सङ्गीतमय सस्वरत नहीं है। सङ्गीत की लय के लिये स्वर का लघुसापन अपेक्षित है किन्तु भी संगीत की लय स्वयं इतनी लचीली है कि लौकिक सङ्गीत और हिन्दी से सन्तुलित मात्रा विधान में भी वह बहुत कुछ सुरक्षित रह सकी है। सङ्गीत के श्लोक पाठ, वृज भाषा के पद्य गायन तुलसीदास के रामायण के पाठ और लखी बौली के प्राच्यनिक गीतकारों के स्वर विधान में इन मात्राओं की संगीतमयता का परिचय मिलता है। सस्वर उच्चारण न होते हुये भी संगीत के स्वर विधान से इन मात्राओं के काव्य की बहुत संगति है। रोगों के नियमित अंग तो एक दृष्टि से संगीत के छन्द ही हैं। वस्तुतः सङ्गीत का प्राण लय है जो छन्द और कविता में ही नहीं लय में भी सम्भव है। लय स्वर की तरङ्ग है। स्वर के धारोह और अवरोह की एक सङ्गति और सामञ्जस्य पूरा परम्परा ही लय का मूल है। यह लय ही सङ्गीत का शुद्ध स्वरूप है। छन्द और लय से इसका कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। बाह्य सङ्गीत में केवल स्वरों की लय योजना भाव की सृष्टि करती है। कुछ लोग सङ्गीत का लय भाव का आवश्यक सम्बन्ध नहीं मानते किन्तु उत्सव युक्त लोक प्राप्ति के समय वाद्यों के स्वर विधान का भेद भाव के साथ स्वर लय के प्रतिष्ठित सम्बन्ध की प्रमाणित करता है। भाषा के अक्षरों के द्वारा काव्य रचना में भाव के साथ लय की प्रवृत्त कविता की तत्त्व विभूति की अनमोल बना देती है। लय की प्राकृति भाव की प्रामाण्य और उसके ग्रहण की प्रवृत्ति समृद्ध और सुगम बना देती है। इसीलिये केवल वाद्य सङ्गीत का प्रचार लय मय सङ्गीत की अपेक्षा कम है। छन्द सङ्गीत के साथ वाद्य सङ्गीत की आवश्यकता उसके महत्त्व और उसकी मौलिकता को प्रमाणित करती है। संगीत योजनाओं में दोनों का सम्बन्ध दोनों की स्वाभाविक संगति का चोख है।

वस्तु लय की प्रवृत्ति अतिशय से पूरा प्राकृति की व्यञ्जना कविता

का मूल स्वरूप है। छन्द उगता स्वाभाविक और सामान्य रूप है। छन्द और गद्य दोनों में सङ्गीत की लय के साथ कविता की सङ्गति सम्भव है। गीतों और पदों में सङ्गीत व रागों में भी कविता की रूप रचना हो सकती है। लय सङ्गीत का मूल स्वरूप है राग सङ्गीत की छन्द है। सङ्गीत और काव्य एक नहीं है यद्यपि दोनों की सङ्गति सम्भव है और सम्भव होने पर वह एक मद् भुन तो य की सृष्टि करती है। इसी कारण किसी न किसी रूप में प्रायः काव्य और सङ्गीत का संयोग मिलता है। कविता का शुद्ध स्वरूप बाण और प्रसाद के गद्य में मिलता है। यह स्वरूप भाव की भावूति की स्वर मय और राग से रहित व्यञ्जना है। कविता का दूसरा रूप इस भावूति में सङ्गीत की लय का सम्बन्ध है। हिन्दी के गद्य काव्य में इसका स्पष्ट रूप मिलता है। छन्दोबद्ध काव्य में कविता का तीसरा रूप मिलता है। जिसमें लय की गति अनिश्चित न होकर छन्द की पद गति में निश्चित हो जाती है। मरुत में छन्द प्रायः तुक्कात् रहित है। हिन्दी में ऐसे छन्दों का प्रयोग सफलतापूर्वक इन मल्पमात्रा में लिया जाता है। छन्दों का तुक्कात् कविता में सङ्गति के सम का पव बन जाता है। मरुत के छन्दों के बहिष् होने के कारण उनका लय और सम का क्रम बिना तुक व ही निश्चित है। इसीसिधे हिन्दी में बहिष् वृत्तों में ही मरुत का कविता का प्रयोग अधिक हुआ है। कविता का एक चौथा रूप वह है जिसमें भावूति और सङ्गीत का एक समृद्ध रूप में सम्बन्ध होता है सभी युगों और भाषाओं के लोक गीत वदिक काव्य वृजभाषा के पद और प्राधुनिक हिन्दी के गीत इसके सफस उदाहरण हैं। प्राधुनिक प्रयोगवादी काव्य में समृद्ध और सम्पन्न कविता के इन समस्त अङ्गों को अनावश्यक मानकर केवल व्यञ्जना की भाव योजना और स्वर विधि के सूक्ष्म सकेतों के द्वारा इनकी पूर्ति की जा रही है। कविता के शुद्ध और सूक्ष्म रूप की सम्भावनाओं और सामय के उद्घाटन की दृष्टि से प्रयोगवादी कविता साहित्य के इतिहास में एक मद्भुत कि तु महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं।

सङ्गीत का ऐतिहासिक रूप स्पष्ट यह प्रमाणित करता है कि स्वर और छन्द का अनिट सम्बन्ध है। दोनों का संयोग भावूति की व्यञ्जना का मपूर्व योग बन जाता है इसीलिए कविता में सङ्गीत अर्थात् भावूति में स्वर और लय तथा सङ्गीत में कविता अर्थात् स्वर लय में भावूति का अतर्भव रहता है। प्रायः यह अतर्भाव स्फुट सङ्गीत के रूप में भी व्यक्त होता है। अतः कविता की आत्मा का मुखर सङ्गीत कहा जा सकता है। आत्मा जीवन का अंतिम तथा जीवन का अंतिम तथा आधारभूत सत्य अथवा स्वरूप है।

स्वरूपतः वह मुखर नहीं मौन है। इसीलिये उपनिषदों में उसकी दात सना है किंतु वह विमय और भान दमय है। 'यासि' में वह अनन्त और भद्र व तपा भाव में शिव है। सां दर्शन में उसकी परा सना है। परा और पश्यति का रूप तो अनिवचनीय है किंतु मध्यमा के रूप में अथ और आकृति के रूप में प्राप्ता को विद् विभूति विमानित होती है। बखरी बाणी के रूप में वही अथ और आकृति श्रुति ग्राह्य मुखरणा के रूप में लोक व्यवहार की विभूति बनती है। मुखर बाणी में स्वर और लय में संयोग से अथ और आकृति का स्फोट कविता के रूप का विधान करता है। अथ और आकृति के रूप में जीवन के तत्त्व स्वरों में साकार होकर जीवन में सौंदर्य और आनंद के स्रोत बनते हैं।

कविता और सङ्गीत के सम्बन्ध के विषय में यह स्मरणीय है कि कविता का मूलतत्त्व भाव है। इस भाव में एक सूक्ष्म सत्य और सङ्गीत रहता है। जो मुखर न होते हुये भी हमारी चेतना में गूँजता है। मुखर सङ्गीत के नाम और स्वर में वह आंतरिक भाव और सङ्गीत साकार और सुग्राह्य हो जाता है। इस आंतरिक और अनाद सङ्गीत की 'पूनाता' में मुखर नाद और कविता का भ्रम उत्पन्न करता है। कविता का आनंद मौन पाठ में भी है क्योंकि उसका स्वरूप भाव सङ्गीत है नाद सङ्गीत नहीं। किंतु सामान्यतः कविता पराथ और परस्पर आनंद के लिये है इसलिये नाद संगीत के साथ अनिष्ट सम्बन्ध है। नाद संगीत कविता के अनाद संगीत को मुखर बनाकर समृद्ध करता है। भाव संगीत की 'पूनाता' में कविता की नहीं संगीत की प्रधानता रह जाती है। इसीलिये बहुत सी कविता जो सुनने में अच्छी लगती है पढ़ने में प्रभावित जान पड़ती है। भाषा के सां भाव संगीत और नाद संगीत के संतु है। इन तीनों की संगति सार्थक काव्य का रूप बनता है। इसमें शब्द के माध्यम से भाव संगीत की समृद्धि स्वर और नाद में मुखर तथा साकार हो उठती है। इसके विपरीत संगीत की भाव विभूति स्वर और नाद से प्रसून होती है वह गीत के शब्दों में अन्तर्निहित नहीं रहती। इसीलिये संगीत से प्रत्यक्ष शब्दों के आधार पर प्रसून स्वर सम्पत्ति और प्रचुर भाव विभूति की सृष्टि होती है। तथा कविता में प्रचुर भाव विभूति की व्यञ्जना शक्तियों और संगीत की परिणामगत समता और संगति के आधार पर होती है। वेनों के मात्र वृत्रभाषा के पद और मही बोनी के गीत सां और संगीत की सममे पठा के उदाहरण हैं। स्थान और ठुमरी शब्द गद्य के आधार पर स्तर और नाद के विपुल विधान और विपुल भाव की अभिव्यक्ति के उदाहरण हैं। एक सां में कविता सां में भाव विभूति का अनन्त विधान है और संगीत स्वर में

का मूल स्वरूप है। इस उगता स्वाभाविक और सामान्य रूप है। छन्द और गद्य दोनों में सङ्गीत की लय के साथ कविता की सङ्गति सम्भव है। गीतों और पद्यों में सङ्गीत के रागों में भी कविता की रूप रचना हो सकती है। लय सङ्गीत का मूल स्वरूप है। राग सङ्गीत की छन्द है। सङ्गीत और काव्य एक नहीं है यद्यपि दोनों की सङ्गति सम्भव है और सम्भव होने पर वह एक अद्भुत सोपान की सृष्टि करती है। इसी कारण किसी न किसी रूप में प्रायः काव्य और सङ्गीत का संयोग मिलता है। कविता का शुद्ध स्वरूप बाण और प्रसाद के गद्य में मिलता है। यह स्वरूप भाव की भाङ्गति की स्वर लय और राग से रहित व्यञ्जना है। कविता का दूसरा रूप इस भाङ्गति में सङ्गीत की लय का सम्मेलन है। हिन्दी के गद्य काव्य में इसका स्पष्ट रूप मिलता है। छन्दोबद्ध काव्य में कविता का तीसरा रूप मिलता है। जिसमें लय की गति अनिश्चित न होकर छन्द की पद गति में निश्चित हो जाती है। संस्कृत में छन्द प्रायः तुक्कांत रहित है। हिन्दी में ऐसे छन्दों का प्रयोग सफलतापूर्वक इन अल्पमात्रों में लिखा जाता है। छन्दों का तुक्कांत कविता में सङ्गति के सम का पव बन जाता है। संस्कृत के छन्दों के वर्णित होने के कारण उनका लय और सम का क्रम बिना तुक के ही निश्चित है। इसीलिये हिन्दी में वर्णित वृत्तों में ही अतुक्कांत कविता का प्रयोग अधिक हुआ है। कविता का एक चौथा रूप यह है जिसमें भाङ्गति और सङ्गीत का एक समृद्ध रूप में सम वय होता है सभी युगों और भाषाओं के लोक गीत वदिक काव्य वृजभाषा के पद और प्रागुनिक हिन्दी के गीत इसके सफल उदाहरण हैं। प्रागुनिक प्रयोगवादी काव्य में समृद्ध और सम्पन्न कविता के इन समस्त भाङ्गों को अनावश्यक मानकर केवल व्यञ्जना की भाव योजना और स्वर विधि के सूक्ष्म सक्तों के द्वारा इनकी पूर्ति की जा रही है। कविता के शुद्ध और सूक्ष्म रूप की सम्भावनाओं और सामर्थ्य के उद्घाटन की दृष्टि से प्रयोगवादी कविता साहित्य के इतिहास में एक अद्भुत किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

सङ्गीत का ऐतिहासिक रूप स्पष्ट यह प्रमाणित करता है कि स्वर और छन्द का घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों का संयोग भाङ्गति की व्यञ्जना का प्रबल योग बन जाता है इसीलिए कविता में सङ्गीत अर्थात् भाङ्गति में स्वर और लय तथा सङ्गीत में कविता अर्थात् स्वर लय में भाङ्गति का अंतर्भाव रहता है। प्रायः यह अंतर्भाव स्फुट सङ्गीत के रूप में भी व्यक्त होता है। अतः कविता की आत्मा का मुखर सङ्गीत कहा जा सकता है। आत्मा जीवन का अंतिम तथा जीवन का अंतिम तथा आधारभूत सत्य अथवा स्वरूप है।

स्वरूपतः वह मुखर नहीं मोन है। इसीलिये उपनिषदों में उसकी गात सज्ञा है किंतु वह चिन्मय और आनन्दमय है। याति में वह अनन्त और भद्र तत्त्वाभाव में गिव है। अन्तर्दर्शन में उसकी परा सज्ञा है। परा और पश्यति का अन्तर्गतोपनिषदीय है किंतु मध्यमा के रूप में अग्र और प्राकृति के रूप में प्रात्मा की चिद् विभूति विभासित होती है। बखरी बाणी के रूप में वही अग्र और प्राकृति श्रुति ब्राह्म मुखरशब्द के रूप में लोक व्यवहार की विभूति बनती है। मुखर बाणी में स्वर और लय में सयोग से अग्र और प्राकृति का स्फोट कविता के रूप का विधान करता है। अग्र और प्राकृति के रूप में जीवन के तत्त्व स्वरों में साकार होकर जीवन में सौन्दर्य और आनन्द के स्रोत बनते हैं।

कविता और सङ्गीत के सम्बन्ध के विषय में यह स्मरणीय है कि कविता का मूलतत्त्व भाव है। इस भाव में एक सूक्ष्म लय और सङ्गीत रहता है। जो मुखर न होते हुये भी हमारी चेतना में गूँजता है। मुखर सङ्गीत के नाद और स्वर में वह प्राञ्चरिक भाव और सङ्गीत साकार और सुपाह्य हो जाता है। इस प्राञ्चरिक और अन्तर्गत सङ्गीत की यूनता में मुखर नाद और कविता का अंग उत्पन्न करता है। कविता का आनन्द मोन पाठ में भी है क्योंकि उसका स्वरूप भाव सङ्गीत है नाद सङ्गीत नहीं। किंतु सामान्यतः कविता पराश्रय और परस्पर आनन्द के लिये है इसलिये नाद सङ्गीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। नाद सङ्गीत कविता के अन्तर्गत सङ्गीत को मुखर बनाकर समृद्ध करता है। भाव सङ्गीत की यूनता में कविता की नहीं सङ्गीत की प्रधानता रह जाती है। इसीलिये बहुत सी कविता जो सुनने में अच्छी लगती है पढ़ने से प्रभावित जान पड़ती है। भाषा के दृष्ट भाव सङ्गीत और नाद सङ्गीत के सन्तुष्ट हैं। इन दोनों की संगति से श्रेष्ठ काव्य का रूप बनता है। इसमें दृष्ट काव्यमय से भाव सङ्गीत की समृद्धि स्वर और नाद में मुखर तथा माशर हो उठती है। इसके विपरीत सङ्गीत की भाव विभूति स्वर और नाद से प्रमूत होती है वह गीत के शब्दों में अन्तर्निहित नहीं रहती। इसलिये सङ्गीत के मूल्य शब्दों के आधार पर प्रमूत स्वर सम्पत्ति और प्रचुर भाव विभूति की गृहीत होती है। तथा कविता में प्रचुर भाव विभूति की व्यञ्जना शक्तियों और सङ्गीत की परिणामगत समता और संगति के आधार पर होती है। वर्यक मात्र मृदभाषा के पद और गद्दी बोली के गीत शब्द और सङ्गीत की समता के अन्तर्गत हैं। स्थान और ठुमरी मूल्य शब्द के आधार पर स्वर और नाद के विपुल विधान और विपुल भाव की समिप्यक्ति के अन्तर्गत हैं। एक शब्द में कविता शब्द में भाव विभूति का अन्तर्गत विधान है और सङ्गीत स्वर में

उसका स्फोट होता है। कविता का श्रेष्ठ और सफल रूप दोनों का समन्वय है। इस दृष्टि से कविता और भावना का मुगर संगीत कहना उचित ही है।

काव्य के विविध भग और उपकरण समारम्भभाव की स्थिति में धातुति की व्यञ्जना के सौन्दर्य को उसी प्रकार गाकार बनाते हैं जिस प्रकार देह रूप गुणगीत धातु से युक्त व्यक्तित्व, मनुष्य की भावना की एक मुद्रा प्रकाश देता है। काव्य के समग्र रूप में यह उपकरण ऐसे एक ही जाते हैं कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। काव्य की भावना इन भागों और उपकरणों के रोम रोम में उसी प्रकार रम जाती है जिस प्रकार मनुष्य की भावना उसके शरीर और व्यक्तित्व के रोम रोम में व्याप्त है। इस दृष्टि से काव्य की प्रत्येक रचना का सौन्दर्य अपने व्यक्तित्व में निरामा है। गुणों और शक्तियों के सम्पन्न और समृद्ध समन्वय को हृष जिस प्रकार एक श्रेष्ठ व्यक्तित्व मानते हैं उसी प्रकार का और तत्त्व तथा भाव उपकरणों के सम्पन्न समन्वय से युक्त काव्य श्रेष्ठ है। दोस्तपीयर के नाटक दान्ते की डिवाइन कॉमडी तुलसीदास का रामचरित मानस जयगुरु प्रवाद की कामायनी आदि इसी समन्वय से युक्त काव्य की महान कृतियाँ हैं।



